हिन्दी-साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य

हिन्दी-साहित्य
एक आधुनिक परिदृश्य

सच्चिदानन्द वात्स्यायन

राधाकृष्ण प्रकाशन

समान साहित्य-व्यसनी
विद्यानिवास मिश्र
को

क्रम

सौन्दर्य-बोध और शिवत्व-बोध

आलोचना कई प्रकार की होती है—क्योंकि वह कई उद्देश्यों से की जा सकती है। सब आलोचना मूल्यपरक नहीं होती — उसका उद्देश्य प्रभाव उत्पन्न करना या व्याख्या करना भी हो सकता है। लेकिन अन्ततोगत्वा समालोचक को कहीं-न-कहीं मूल्यों का विचार भी करना ही पड़ता है—कृति का मूल्यांकन वह न भी करे तो भी स्वयं उस की रसास्वादन की प्रक्रिया में उस के स्वीकृत मूल्यों या प्रतिमानों का महत्त्व होता है। समालोचक क्या पाता है, यह अनिवार्यतया इस पर निर्भर करता है कि वह क्या लेकर चलता है।

और मूल्यांकन प्रत्यक्ष या परोक्ष—बिना मूल्यों या प्रतिमानों के नहीं हो सकता, मानदंड के बिना माप कैसे हो सकती है? यहीं पर हम समालोचना की मूल-समस्या के सामने आ खड़े होते हैं।

मूल्य किसे कहते हैं? यह प्रश्न निस्सन्देह बहुत व्यापक है, और यह भी कहा जा सकता है कि युग-युगान्तर से दार्शनिकों और साधकों दोनों की मूल जिज्ञासा यही रही है: वह अन्तिम कसौटी क्या है जिस पर कस कर हम किसी भी कृति के धातु को पहचान सकते हैं? किन्तु अपनी जिज्ञासा को सीमित रखना असम्भव नहीं है, और न ऐसी सीमित पड़ताल अनुपयोगी ही होगी।

समीक्षक को जैसा सुपठित, शास्त्र-निष्णात होना चाहिए वैसे हम नहीं है इसका हमें पूरा ज्ञान है। आचार्यत्व की न हम में पात्रता है, न आकांक्षा। किन्तु मूल्यों का प्रश्न केवल आचार्यों के लिए महत्त्व रखता हो, ऐसा नहीं है, साहित्य के प्रत्येक अध्येता के लिए वह एक गुरुतर प्रश्न है, और लेखक के लिए तो उस की मौलिकता असंदिग्ध है, क्यों कि इतिकार अपनी कृति का सब से पहला और कदाचित् सब से अधिक निर्मम-परीक्षक है। (लेखक को अपनी रचना का मोह भी होता है, पर मोह और निर्ममत्व के अलग-अलग स्तर हैं, और मूल्यों का विचार उसी स्तर पर होता है जिस पर लेखक ममता को एक ओर रख देता है।) निष्ठावान् लेखक और अध्यवसायी पाठक के नाते हम आशा करते हैं कि मूल्यों या प्रतिमानों के सम्बन्ध में हमारे विचार अन्य पाठकों के लिए उपयोगी हो सकेंगे। यह भी सम्भव है कि वे अपने साधारणत्व के कारण ही उन के लिए अधिक ग्राह्य हों, पुरोहित की बात से पड़ोसी की बात अधिक ध्यान से सुनी जाती है और अधिक

गहरे जा कर छूती है।

हम मानते हैं, किसब प्रतिमानों का, सब मूल्यों का स्रोत मानव का विवेक है। वही उसे सदसद् का ज्ञान देता है—फिर उस सत् और असत् का क्षेत्र चाहे जो हो। इस साधारण स्थापना पर कदाचित् अधिक लोगों को आपत्ति न होगी—कम से-कम आज के मानववादी युग में, जिस में यह नहीं समझा जाता कि मानव के विवेक की दुहाई देना प्रकारान्तर से शाश्वत अथवा ब्रह्मसम्भूत सनातन मूल्यों के अस्तित्व का खंडन करना मात्र है। किन्तु इस से हम सौन्दर्य के विषय में जिस उपपत्ति तक पहुँचते हैं, वह भी ऐसी सहज-ग्राह्य होगी, ऐसी आशा हमें नहीं होती। कदाचित् कुछ बुद्धिवादी भी उस पर आपत्ति करेंगे। यद्यपि हमें ऐसा जान पड़ता है कि जब हम सौन्दर्य-बोध की चर्चा करते हैं तब हम उसे स्वयंसिद्ध ही मान लेते हैं, क्योंकि बुद्धि को हेय मानकर बोध को महत्त्व नहीं दिया जा सकता।

यदि यह कहना उचित है कि मूल्यों का स्रोत मानव का विवेक है तो यह कहना भी ठीक है कि सौन्दर्य-बोध मूलतः बुद्धि का व्यापार है। सौन्दर्य क्या है, हम नहीं जानते, सौन्दर्य की परिभाषा बड़े-बड़े मर्मज्ञ नहीं कर सके और हम 'गहि-गहि गरब गरूर' इस कंटकाकीर्ण पथ पर चलने वाले नहीं हैं। किन्तु सौन्दर्य क्या है, यह न बता पा कर भी सुन्दर क्या है यह हम जानते हैं, पहचानते हैं; बता सकते हैं कि क्या सुन्दर होता है। और सुन्दर क्या है, यह बता सकने का अर्थ यह है कि हम कुछ ऐसे गुणों को पृथक् कर सकते हैं जिनके कारण सुन्दर सुन्दर होता है—जिनकी उपस्थिति की पड़ताल करके हम कहते हैं कि सुन्दर सुन्दर है। ये तत्त्व क्या हैं ? उन की तालिका प्रस्तुत करना अनावश्यक है। यहाँ आग्रह-पूर्वक यही दुहराना यथेष्ट है कि सौन्दर्य-बोध बुद्धि का व्यापार है : बुद्धि के द्वारा ही हम उन तत्त्वों को पहचानते हैं; मानव का अनुभव ही उन तत्त्वों की कसौटी है।

यह स्थापना विवादास्पद तो हो ही सकती है। यह आपत्ति भी की जा सकती है कि बुद्धि के साथ हठात् अनुभव का उल्लेख करना वास्तव में बुद्धि के नाम पर सौन्दर्य की भोगवादी व्याख्या करना है। वास्तव में ऐसा नहीं है, परन्तु यह स्पष्ट करने से पहले एकाध उदाहरण लेना उपयोगी होगा। हम पहले लें लय अथवा 'रिद्म'। वैदिककाल से ही हम जानते हैं कि हृदय का समयुक्त सम स्पन्दन आरोग्य और सद्‌भावस्था की निशानी है, स्वस्थ होने की निशानी है, और असम स्पन्दन या लय-भंग उद्वेग, परेशानी, अस्वास्थ्य के चिह्न हैं। तब, यदि हम मानते हैं कि लयमयता कला का अथवा सुन्दर का एक मूल गुण है, तो क्या यह अपने अनुभूत सत्य का निरूपण ही नहीं है ? इसी प्रकार हम मानते हैं कि सीधी रेखा सुन्दर नहीं होती, वक्र रेखाएँ सुन्दर होती हैं यहाँ क्या फिर हम अपना अनुभव नहीं दुहरा रहे हैं ? हमारे अंगों का कोई भी सहज निक्षेप वक्रता या

गोलाई लिए होता है—अबोध शिशु भी जब हाथ-पैर पटकता है तो मडलाकार गति से—सहज गति सीधी रेखा मे होती ही नही, और सीधी रेखा मे अग-सचालन अत्यन्त क्लेश-साध्य होता है। अत वक्रता को कला-गुण या सौन्दर्य-तत्व मानने मे हम फिर अपना अनुभव दोहरा रहे हैं : गोचर अनुभव का कार्य-कारण-ज्ञान के सहारे (बुद्धि द्वारा) प्राप्त किया हुआ निचोड ही हमारे सौन्दर्य-बोध का आधार है। और चित्र या मूर्ति मे जो रेखा की वक्रता है, अर्थात् जो दृश्य, स्पृश्य अथवा स्थूल है, वही यदि काव्य मे आकर उक्ति की वक्रता का परम सूक्ष्म रूप ले लेती है, तो क्या हमारी बुद्धि उसे पकड नही सकती ? गोचर अनुभव से पाया हुआ सूक्ष्म बोध क्या वहाँ हमारा सहायक नही होता ?

ये सरलतम उदाहरण हैं—क्योकि गति का बोध सबसे पहला बोध है। किन्तु हम क्रमश. जटिलतर प्रतिमानो की परीक्षा करते चलें तो भी इसी बात की पुष्टि होगी स्थिरता, सन्तुलन; परिचिति और नव्यता, गाम्भीर्य, सूचकता, सार्वभौमता—सर्वत्र हम पायेंगे कि जिस गुण को भी हम कला का प्रतिमान मानते हैं, वह हमारे अनुभव से उद्भूत है, और हमारे विवेक द्वारा प्राप्त किया गया है। प्रतिमान-रूपी कोई भी अमृत-घट हमारे अनुभव के महासागर को मथ कर ही निकल सकता है, और हमारी बुद्धि ही हमारी मथानी है।

भोगवाद सम्बन्धी आपत्ति का यहीं निराकरण हो जाता है। कला-मूल्य हमें अनुभव के सागर से ही प्राप्त होते हैं—किन्तु अनुभव अपने आप मे एक प्रतिमान नही है। अनुभव की भित्ति पर बुद्धि द्वारा प्रतिष्ठित तत्व ही प्रतिमान हो सकता है। प्रतिमान की उपलब्धि हमे बुद्धि द्वारा ही होती है, यद्यपि उसके लिए हम अनुभव के सागर की थाह लेते हैं। और क्योंकि ये प्रतिमान हमें बुद्धि के द्वारा उपलब्ध होते हैं, इस लिए सुन्दर से हमें जो उपलब्धि होती है उसे हम आनन्द कहते हैं और केवल गोचर अनुभव से मिलने वाले सुख से अधिक गौरव देते हैं।

तो सौन्दर्य के तत्व बुद्धि पर आधारित हैं, और सुन्दर का आस्वादन बुद्धि का व्यापार है। इस से और परिणाम निकलते हैं। बुद्धि अनुभव के सहारे चलती है—अनुभव व्यक्तिगत, समाजगत, जातिगत, युग-युगान्त सचित। और अनुभव कोई स्थिर और जड पिंड नही है, वह निरन्तर विकासशील है। अत बुद्धि भी विकासशील है—मानव का विवेक भी विकासशील है। इस अर्थ मे शाश्वत मूल्यो की बात अनुचित अथवा अर्थहीन हो जाती है। किन्तु विकास का सही अर्थ समझना चाहिए। बुद्धि का नये अनुभवो के आधार पर क्रमशः नया स्फुरण और प्रस्फुटन होता है और नया अनुभव पुराने अनुभव को मिटा नहीं देता, उस मे जुड कर उसे नयी परिपक्वता देता है। अनुभव के गणित मे जोड ही जोड है, बाकी नही है। साहित्य के क्षेत्र मे हम परम्परा की चर्चा इसी अर्थ मे करते हैं—उत्तरमता उस मे अनिवार्य है। तो मूल्य या प्रतिमान, शब्दार्थ की दृष्टि से शाश्वत भले

ही न हों, स्थायी अवश्य होते हैं, और उन में जो परिष्कार या नया संस्कार (परिवर्तन उसे न कहना ही समीचीन होगा) होता है, उस में शतियाँ लग जा सकती हैं। निस्सन्देह दूसरे भी मूल्य हैं—सामाजिक मूल्य—जो सामाजिक परिवर्तनों के साथ अपेक्षया अधिक तेजी के साथ बदलते हैं, किन्तु यहाँ हम उन की चर्चा नहीं कर रहे हैं, उन से अधिक गहरे मूल्यों की बात कर रहे हैं। इन अधिक गहरे मूल्यों में भी यदि हम देखते हैं कि कभी अपेक्षया अधिक द्रुत गति से संस्कार होता है, तो उस का कारण यही है कि जहाँ हमारी तर्कना या बुद्धि निरन्तर हमारे अनुभव को माँजती और सायास विश्लिष्ट-संश्लिष्ट करती चलती है, वहाँ कभी संचित अनुभव का दबाव सहसा हमें नयी दृष्टि भी दे देता है—अर्थात् बुद्धि का यह व्यापार एक प्रखरतर आलोक से दीप्त हो उठता है। यद्यपि ऐसा भी जब होता है तो अकारण नहीं होता, जो बुद्धि उस आलोक से लाभ उठा कर नयी प्रतिपत्ति करती है, वह फिर उस के आविर्भाव का कारण भी खोजती और खोज लेती है।

मूल्यों की चर्चा में यहाँ तक हम ने अपने को सौन्दर्य के प्रतिमानों तक सीमित रखा है। किन्तु *जब हम ने कहा कि सब प्रतिमानों का, सब मूल्यों का स्रोत मानव का विवेक है, तब स्पष्ट ही हम ने ऐसी कोई मर्यादा नहीं निर्दिष्ट की।* उस कथन से अवश्य ही यह परिणाम निकलता है कि शिवत्व के प्रतिमान—नैतिक प्रतिमान भी—मानव के विवेक से उद्भूत होते हैं। यहाँ एक साथ ही दो प्रश्न उठते हैं। क्या हम ऐसा मानते हैं, और क्या सौन्दर्य के और शिवत्व के प्रतिमानों में कोई अनिवार्य सम्बन्ध, या कोई भी सम्बन्ध है ?

पहले प्रश्न का उत्तर आवश्यक नहीं है। स्पष्ट ही हमारी पहली स्थापना से यह परिणाम निकलता है और अगर हमें वह स्वीकार्य न होता तो हमारे लिए *अपनी पहली बात को ही अधिक मर्यादित कर के कहना अनिवार्य हो जाता।* यदि हम मानते हैं कि सब प्रतिमानों का स्रोत मानव का विवेक है, तो हम सहज ही यह मानते हैं कि नैतिक प्रतिमानों का स्रोत मानव का विवेक है। और कदाचित् इसे स्वीकार करना किसी के लिए भी कठिन न होना चाहिए, क्यों कि विवेक को नैतिक भावना का पर्याय ही मान लिया जाता है। सौन्दर्य और विवेक का सम्बन्ध ही अधिक कठिनाई उत्पन्न किया करता है।

किन्तु सुन्दर के प्रतिमान और नैतिक के प्रतिमान में क्या सम्बन्ध है ? क्या दोनों एक हैं ? क्या समालोचना में एक के विचार में ही दूसरे का विचार निहित होता है,और एक का स्वीकार स्वतः दूसरे का भी स्वीकार हो जाता है ? या कि दोनों अलग-अलग हैं ? और अलग-अलग हैं, तो समालोचना के मूल्यांकन में क्या दोनों का विचार होना चाहिए, या केवल एक का ?

प्रश्न सरल नहीं है। और उत्तर असंदिग्ध या विवादातीत है, यह कहना धोखा होगा। किन्तु प्रश्न अनिवार्य है, और किसी भी गम्भीर पाठक के लिए और

विशेषकर किसी भी लेखक के लिए, उस का कुछ-न-कुछ उत्तर—भले ही एक अस्थायी और कामचलाऊ उत्तर—आवश्यदानव्य है। क्योंकि लेखक के सम्मुख यह प्रश्न यदि आता है, तो यह उस की सृजन-प्रेरणा का ही प्रश्न बन कर आता है, और बिना इस का उत्तर दिये (या पाये) उस का रचना में प्रवृत्त होना असम्भव हो जाता है—बल्कि उस का प्रवृत्त होना स्वयमेव प्रश्न का उत्तर बन जाता है। और यदि कृति के मूल में इस प्रश्न का उत्तर निहित है, तो पाठक अथवा अध्येता के लिए भी उस उत्तर को जानना आवश्यक है, क्यों कि उसे जान कर ही वह कृति के मूल्यांकन की ओर अग्रसर हो सकता है। लेखक के उत्तर को ज्यों का त्यों मान लेना उस के लिए अनिवार्य नहीं है, लेकिन उसे जानना आवश्यक है। किन्तु यहाँ भी केवल सिद्धान्त-चर्चा में न रह कर उदाहरण ले कर चलना सुविधाजनक होगा।

पुराना आख्यान-साहित्य ले लीजिए—प्रबन्ध-काव्य ले लीजिए, गाथाएँ ले लीजिए। कथाकार कथा कहता था, घटनाओं का परम्पर घटित होना ही वहाँ सबसे अधिक महत्त्व रखता था। यह नहीं कि कथाकार में नैतिक बोध नहीं होता था, या कि वह अपनी नैतिक मान्यताओं को प्रकट नहीं करता था, अपने स्वीकृत नैतिक मूल्यों का इंगित नहीं देता था। इस के विपरीत वह पहले से ही कुछ अच्छे और कुछ बुरे पात्र ले कर चलता था—नैतिक मान्यताएँ बिलकुल स्पष्ट कर के, और कभी-कभी अन्त में निष्कर्ष के रूप में किसी नैतिक मूल्य को साग्रह दोहरा भी देता था। बल्कि कभी यह नैतिक स्थापना पहले कर दी जाती थी और कथा केवल इस के दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत की जाती थी। पंचतन्त्र आदि में पग-पग पर नैतिक मूल्यों का आग्रह है' कहानी मानो उन्हें वहन करने का माध्यम भर है।

अब ज़रा इधर के आख्यान-साहित्य पर विचार कीजिए। घटना उस में बिलकुल न हो ऐसा तो नहीं है। पर उस का घटित कभी-कभी बिलकुल आभ्यन्तर भी रहता है—स्थूल जगत् में कोई घटना घटे बिना भी उस में संघर्षों के तूफान उठते और लय हो जाते हैं। आज का लेखक किसी भी घटना में कर्ताओं के उद्देश्यों को देखता है। 'अमुक हुआ' उस के लिए पर्याप्त नहीं है, 'अमुक किया गया' यह कहता है, और 'क्यों किया गया' पर ही उस की समूची जिज्ञासा केन्द्रित हो जाती है। कभी वह 'अमुक किया गया' की अवस्था तक भी नहीं जाता, केवल सूचित कर देता है कि 'अमुक-अमुक कारण क्रियाशील हैं' और यह पाठक पर छोड़ देता है कि वह समझ ले कि परिणामत 'क्या किया जायेगा'।

यह परिवर्तन साधारण या ऊपरी नहीं है, घटना से घटना-हेतु की ओर आना साहित्यकार की बौद्धिक प्रवृत्ति की एक बहुत बड़ी क्रान्ति का सूचक है।

कुछ लोगों की धारणा है कि बुद्धि के बढ़ते वैभव के साथ मानव का नैतिक

ह्रास हुआ है। हम ऐसा नही मानते—नही मान सकते। हमारी पहली प्रतिज्ञा ही इस परिणाम को असम्भव बना देती है। क्योंकि हम मानते हैं कि नीति ज्ञान, विवेक, स्वय बुद्धि का वैभव है। निरी आस्था के सहारे भी अनीति से बचा जा सकता है, अनैतिक कर्म न करने की अवस्था प्राप्त की जा सकती है, किन्तु नैतिकता के प्रति ऐसा नकारात्मक, अकर्मण्य दृष्टिकोण आज नैतिक वन्ध्यत्व का ही सूचक माना जायगा। साहित्य की उपर्युल्लिखित नयी प्रवृत्ति नैतिक शिथिलता या नैतिक मूल्यों के ह्रास की नही, नैतिक बोध की परिपक्वता की सूचक है। ईसा ने जब कहा था, 'जज नॉट, लेस्ट यी बी जज्ड' तब इस लिए नहीं कि वह नैतिक प्रतिमानों को तिलाजलि दे रहे थे, वरन् इस लिए कि वह आभ्यन्तर के घटित को उचित महत्त्व दे रहे थे—कोई नैतिक निर्णय बाह्य कर्म के आधार पर नहीं हो सकता, आभ्यन्तर उद्देश्यों का विचार होना चाहिए, यही उन के उपदेश का हेतु था। या कम से कम एक हेतु, क्यों कि दूसरा तो यह था ही कि जो अपराधी है उसे दण्ड न दो, समवेदना दो—मानवी समवेदना तो सब से बड़ा नैतिक मूल्य है ही।

आख्यान-साहित्य यहाँ केवल उदाहरण के लिए लिया गया है। क्यों कि दृष्टि का जो परिवर्तन (संस्कार) दिखाना हमें अभीष्ट था, वह इस में सब से अधिक आसानी से और स्पष्ट देखा जा सकता है। समूचे साहित्य की यह प्रवृत्ति रही है कि कर्म के हेतु को पहचानो, निर्णय देने या दण्ड-व्यवस्था करने मत दौड़ो। और हेतु को पहचान कर भी रुको मत, आगे बढ कर समवेदना भी दो। हाँ, समवेदना देने के लिए बहुत बड़ा हृदय चाहिए, वह सब के पास नहीं भी हो सकता है, इस लिए समवेदना न भी दे पाओ तो कम से कम निर्णय की उतावली तो न करो।

हम ने कहा कि यह समूचे साहित्य की प्रवृत्ति रही है। इस कथन में अतिव्याप्ति दोष है। उसे मर्यादित करने के लिए कहना चाहिए कि समूचे नहीं, किन्तु सारे मानववादी साहित्य की यह प्रवृत्ति रही है। क्यों कि इधर एक ऐसी प्रवृत्ति भी है जो इस हेतु-परीक्षण को अस्वीकार करती है, मानवी समवेदना के इस व्यापक प्रदान को अपव्यय मानती है। नैतिक मानदण्ड उस के पास नहीं है अथवा उसे तर्क से पुष्ट नही किया जाता ऐसा तो नही कहा जा सकता, पर उस का नीति निरूपण ही द्वन्द्वात्मक और अवसरसेवी है। कह सकते हैं कि वह विवेकाश्रित नहीं, तर्काश्रित है। यह प्रवृत्ति कर्म-प्रेरणाओं की पड़ताल को प्रवचना कहती है, क्योंकि वह कर्त्ता के कर्तृत्व को, भावना और अनुभूति की प्राथमिकता को अस्वीकार करती है। जिसे हम आभ्यन्तर कारण कहते हैं उसे वह स्थितिजन्य परिणाम मानती है। एक प्रकार से वह साहित्य की अब तक की प्रवृत्ति को उलट रही है जहाँ अब तक साहित्य मानव को बँधी बँधाई नैतिक लीकों से उबार कर कर्त्ता का गौरवपूर्ण पद देने की ओर प्रवृत्त था, वहाँ यह नयी प्रवृत्ति फिर से बँधी-

चँधाई लीके ले कर उस मे मानव को डालने का उपक्रम कर रही है। अब तक की प्रवृत्ति यह थी कि साहित्य का पात्र एक नैतिक मानचित्र पर दौड़ने वाला जीव मात्र न रह कर खुली भूमि पर राह बनाने वाला मानव हो. नयी प्रवृत्ति उसे शतरंज का प्यादा बनाये दे रही है। कदाचित् उतना भी नही, मानव मानो छोटे-बड़े कई आकारो के कंकड़ हैं जिन्हे अपनी मोटी और बारीक चलनियों में मे छान कर वह या तो गिट्टी बना कर अपनी किमी इमारत की नीव मे दाब देगी, या रोड़ी बना कर अपनी सड़क पर बिछा देगी—और कितनी कृतज्ञ होगी रोड़ी इस प्रकार पथ को प्रशस्त करने के काम मे लायी जा कर! किन्तु इस नयी नैतिक संकीर्णता की चर्चा का यह स्थान नही है, यहाँ उस की ओर पड़ताल प्रासंगिक भी नही है।

प्रश्न अभी वही का वही है; एक उदाहरण से उसे स्पष्ट भले ही किया गया हो, उस का उत्तर नही दिया गया है। कलाकृतियो मे, उन के द्वारा, नैतिक मूल्यों का विस्तार होता है ऐसा हम कह सकते हैं। इस लिए यह भी हम कह सकते हैं कि समालोचना के लिए भी नैतिक मूल्यो पर और उन के विकास अथवा विस्तार पर विचार करना आवश्यक है—अर्थात् उस समालोचना के लिए, जो मूल्यांकन मे प्रवृत्त है। पर प्रश्न यह है कि क्या यह विचार सौन्दर्य-मूल्यों के विचार से अलग है, उस का समान्तर है, या उसी मे निहित है?

कहते है कि जो सुन्दर है वह शिवेतर हो ही नही सकता। इसे हम मानते हैं, किन्तु यह ध्यान रखना होगा कि इस से यह ध्वनि होती है कि दोनो पर्याय-वाची और परस्पराश्रित हैं। ऐसा दावा करना कठिन है। जो यह मानते है कि जो सुन्दर है वह शिव भी होना ही है, वे भी कदाचित् अलग मे ऐसा दावा करने मे संकोच करेंगे। ऐसा ही होता तो आचार्यो को एक अलग उद्देश्य के रूप मे 'शिवेतर-क्षय' चर्चा करना क्यों आवश्यक जान पड़ता? जो सुन्दर है वह अनैतिक नहीं होगा यह एक बात है, पर उस से शिवेतर-क्षय की माँग करना एक अतिरिक्त शक्ति या प्रभाव की माँग करना है। एक प्रकार से यह साहित्य मे लक्षित होने वाले संस्कार के समान्तर समालोचना का संस्कार करना है, क्यो कि जैसे साहित्य मे घटित से आगे बढ कर हम आभ्यन्तर हेतु अथवा प्रेरणा की छान-बीन देखते है, वैसे ही हम समालोचना मे भी रूप-विचार से आगे बढ कर कृतिकार के उद्देश्य और कृति के प्रभाव की भी कसौटी करना चाहते हैं। और जिस प्रकार आभ्यन्तर हेतु के ज्ञान को हम अपने-आप मे एक लक्ष्य नही मानते, समझते हैं कि उस का महत्त्व इस मे है कि वह हमे जीवन के प्रति नयी और गहरी दृष्टि देता है, उसी प्रकार कृति के उद्देश्य और प्रभाव को पहचानना भी हम अपने-आप मे एक लक्ष्य नही मानते, समझते हैं कि वह हमे मानव जगत् का एक सम्पन्नतर अंग बनाता है।

विश्लेषण को चरम अवस्था तक ले जायें तो मानना होगा कि नैतिक मूल्य यानी शिवत्व के मूल्य, और सौन्दर्य के मूल्य अलग-अलग हैं और अलग विचार माँगते हैं। विशुद्ध तर्क के क्षेत्र में यह भी मान लेना होगा कि ऐसा हो सकता है कि कोई कलाकृति सुन्दर हो और अशिव हो, या कम से कम शिव न हो। यह मान कर भी पहली बात कैसे मानी जा सकती है ? स्पष्ट ही यहाँ विरोधाभास है। वास्तव में उच्च कोटि का नैतिक बोध और उच्च कोटि का सौन्दर्य-बोध, कम से कम कृतिकार में प्राय साथ साथ चलते हैं। क्यों ? क्या कि दोनों बोध मूलत बुद्धि के व्यापार हैं, मानव का विवेक ही दोनों के मूल्यों का स्रोत है और दोनों के प्रतिमानों या मानदडों का आधार। विवेकशील मानव की—विशेषकर उस विवेकशील मानव की, जिस में सृजनात्मक शक्ति या प्रतिभा भी है—ग्राहकता दोनों को ही पहचानती है। बुद्धि, और जिस पर बुद्धि आधारित है वह अनुभव—निरन्तर विकासशील और सस्कारशील है। निरन्तर सूक्ष्मतर होती हुई सवेदना एकांगी भी हो सकती है, पर जहाँ सर्जनात्मक शक्ति है वहाँ एकांगिता की सम्भावना कम है और पुष्ट सौन्दर्य-बोध के साथ पुष्ट नैतिक बोध भी होता ही है। जिस प्रकार कृतिकार सुन्दर का स्रष्टा हो कर असुन्दर के सायास परित्याग के द्वारा सुन्दर की उपलब्धि नहीं करता, उसी प्रकार वह नैतिक द्रष्टा हो कर सायास अनैतिक के विरोध द्वारा नैतिक को नहीं पाता; उस की परिपुष्ट सवेदना सहज भाव से दोनों को पाती है—और देती है। इसी लिए कला हमें आनन्द भी देती है, हमारा उन्नयन भी करती है। आज का समालोचक इस बात को नाना वादों के आवरण में छिपा चाहे सकता है, इसे अमान्य नहीं कर सकता।

साहित्य-बोध : आधुनिकता के तत्त्व

शीर्षक में यह स्वीकार कर लिया गया है कि लेख का विषय 'साहित्य-बोध' है; पर वास्तव में इस अर्थ में इस का प्रयोग चिन्त्य है। यह मान भी लें कि लोक-व्यवहार बहुत से शब्दों को ऐसा विशेष अर्थ दे देता है जो यों उन में सिद्ध न होता, तो भी अभी तक ऐसा जान पड़ता है कि समकालीन सन्दर्भ में 'साहित्य-बोध' की अपेक्षा 'संवेदना'-बोध ही अधिक सारमय संज्ञा है। इस लिए शीर्षक में प्रचलन के नाम पर साहित्य-बोध का उल्लेख कर के लेख में वास्तव में आधुनिक संवेदना की ही चर्चा की जायेगी।

क्या संवेदना के साथ 'नयी' या 'पुरानी' ऐसा कोई विशेषण लगाना उचित है? क्या संवेदना ऐसे बदलती है? क्या मानव मात्र एक नहीं है और इस लिए क्या उसकी संवेदना भी एक नहीं है? क्या यह एकता देश और काल दोनों के आयाम में एक सी अखंडित नहीं रहती?

निःसन्देह मानव एक है। किन्तु जब हम विकासशील जीव-तत्त्व की बात करते हैं तब परिवर्तन के सिद्धान्त को भी मान लेते हैं। चेतना स्वयं विकासशील है। संवेदना वह यन्त्र है जिस के सहारे जीव-व्यष्टि अपने से इतर सब कुछ से सम्बन्ध जोड़ती है—वह सम्बन्ध एक साथ ही एकता का भी है और भिन्नता का भी, क्योंकि उस के सहारे जहाँ जीव-व्यष्टि अपने से इतर जगत् को पहचानती है वहाँ उस से अपने को अलग भी करती है।

मानव प्राणी की संवेदना केवल दूसरे जीवों से और जड़ परिस्थिति से प्रतिक्रिया करती है, बल्कि अपनी प्रतिक्रियाओं का मूल्यांकन भी करती है। जीव अपने को परिस्थिति के अनुकूल बनाता है, मनुष्य परिस्थिति को अपने अनुकूल बनाने का चेतन और अवचेतन प्रयत्न करता है। ज्यों-ज्यों उस की संवेदना विस्तार करती है, अर्थात् ज्यों-ज्यों जगत् से उस के सम्बन्ध नये-नये क्षेत्रों में प्रवेश करते जाते हैं, त्यों-त्यों उस का विवेक विकसित होता जाता है और निरी संवेदना के साथ एक अनिवार्य नैतिक बोध भी जुड़ जाता है। अच्छा और बुरा, ऊँचा और नीचा, मंगलमय और अमंगल, समाज-हितकारी और असामाजिक, ऐसी अनेक कोटियों के विचार उस के कर्म को ही नहीं, उस की संवेदना को भी नियन्त्रित करने लगते हैं क्योंकि वह अपनी भावनाओं को भी बुद्धि और विवेक की कसौटी पर परखने

लगता है।

मानव और मानवेतर के सम्बन्ध के विकास का अथ से आज तक अध्ययन करना यहाँ अनावश्यक है। यहाँ इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ मानव का मूल्य बढ़ता गया है और मानवेतर का मूल्य घटता गया है। विज्ञान ने नैतिकता को ईश्वरपरक न मानकर मानव-सापेक्ष मान लिया है, मानव की उस की परिकल्पना चाहे कितनी भी विस्तीर्ण हो। ईश्वर के दरबार में सब प्राणी समान हो सकते थे, मनुष्य के दरबार में स्वभावतः वैसा नहीं हो सकता क्योंकि वह मनुष्य का दरबार है। इस प्रकार ससार का मानदण्ड मनुष्य को मानते ही हमारी नैतिकता के आधार में बहुत से अवश्यम्भावी परिवर्तन होने लगते हैं। दूसरे शब्दों में, हमारी सवेदना का रूप बदल जाता है।

यह नहीं कि सवेदना नैतिक बोध का पर्याय है। किन्तु पाप-पुण्य की भावना बदलते ही हमें सुख या पीड़ा देने वाली परिस्थितियों का रूप भी बदल जाता है, हमें चिन्तित करने वाले या उत्साह देने वाले तत्त्व भी दूसर हो जाते हैं। पुराने आदर्श हास्यास्पद या दुर्बोध हो जाते हैं, जो बातें एक समय नगण्य थीं वे जीवनादर्श का सामर्थ्य ग्रहण कर लेती हैं। एक समय था जब कि चीटी या खटमल के लिए अपने प्राणों को जोखिम में डालने वाला पुण्यात्मा होता था, एक समय है कि कौवों और बन्दरों को रोटी खिलाने वाला समाजद्रोही गिना जाता है क्योंकि मानव के लिए रोटी की कमी है। एक समय था जब कि धर्म के लिए जान गँवाने वाला सर्वोच्च सम्मान पाता था, एक समय है कि थोड़े-थोड़े समय के लिए दो-तीन बार धर्म-परिवर्तन कर लेना भी अनुचित नहीं समझा जाता बल्कि कुछ परिस्थितियों में अनुमोदित भी होता है।

वास्तव में जहाँ तक साहित्य या किसी भी कला का प्रश्न है सवेदना से हमारा अभिप्राय निरी ऐन्द्रिय चेतना से बिलकुल भिन्न कुछ होता है। गर्म और ठंडा, उजाला और अँधेरा, सादा और रंगीन, खट्टा और मीठा, नर्म और कठोर, कर्कश और मधुर, यह सब भी इन्द्रिय-सवेद्य है। और सवेदना का यह स्तर नैतिकता से परे है। यह कह लीजिए कि यह उस का जैविक स्तर है, मानवीय स्तर नहीं। इस कोटि की सवेदना जीव मात्र में होती है और मानव में भी उस के जीव होने के नाते ही। किन्तु जो सवेदना उस के नैतिक बोध के साथ गुँथी हुई है वह दूसरे स्तर की है। वह अनन्यतः से मानव की है और उसी के कारण जीवों में मानव अद्वितीय है। इसी बात को हम दूसरे शब्दों में कह सकते हैं सवेदना का सम्बन्ध जैविक परिस्थिति से नहीं, सास्कृतिक परिस्थिति से है। जिस सवेदना की बात हम कर रहे हैं जिसे 'साहित्य-बोध' का या और व्यापक स्तर पर कला-बोध का नाम दिया गया है, वह वास्तव में सास्कृतिक बोध ही है और इस लिए सस्कृति के साथ-साथ बदलता भी रहता है।

दो

प्रत्येक संस्कृति के मूल में एक जीवन-दर्शन होता है। इसी लिए प्रत्येक कला के मूल में भी एक जीवन-दर्शन होता है। आवश्यक नहीं कि उस के प्रति कला सचेत भी हो, वह अज्ञात या सम्पूर्णतया अवचेतन भी हो सकता है। पर उस का होना अनिवार्य है। कलाकार का विवेक उसी पर आश्रित है, उसी से उस के मूल्य या प्रतिमान निःसृत होते हैं। कलाकार या साहित्यकार की शिक्षा अथवा संस्कार के कारण यह जीवन-दर्शन कम या अधिक चेतन हो सकता है। उसी के साथ-साथ उस दर्शन की उस कलाकार द्वारा की गयी व्याख्या भी उतनी ही कम या अधिक विश्वास्य होती है।

जैसे-जैसे जीवन-दर्शन बदलता है वैसे ही संवेदना भी बदलती जाती है।

ऊपर जीव के प्रति सम्मान के बदलते रूप का संकेत किया गया है। मानव का जीव किसी आत्यन्तिक स्तर पर पशु के जीव से अधिक मूल्यवान है यह सिद्ध करना कठिन है। किन्तु फिर भी मानव का वध हत्या है, इस के लिए प्राणदण्ड की व्यवस्था है। जीव के वध के लिए केवल कुछ परिस्थितियों में दण्ड की व्यवस्था है जब कि वह वध के लिए नहीं बल्कि उस से सम्बद्ध अनावश्यक क्रूरता के लिए दिया जाता है। और हम स्वीकार करते हैं कि यह व्यवस्था-भेद उचित और नैतिक और न्याय संगत और धर्म-सम्मत है। एक दूसरे स्तर पर जीव-दया के आदर्श में हम एक नये प्रकार का अन्तर-विरोध देखते हैं : एक ओर करुणा अर्थात् पर-दुःख-कातरता का आदर्श है तो दूसरी ओर दुःख को माया मान कर एक सामाजिक दृष्टि से निष्करुण भाव का प्रदर्शन भी जिस के कारण सभी पश्चिमी लोग सभी पूर्वीय लोगों को हृदयहीन मानते हैं।

नैतिकता की भावना बदलने का पहला कारण हुआ है धर्म-भावना का अथवा ईश्वर की परिकल्पना का रूप-परिवर्तन। जिस के कारण सृष्टि का, या कम-से-कम मानव का उस से सम्बन्ध का, केन्द्र ईश्वर न रह कर स्वयं मनुष्य हो गया है। इस परिवर्तन को धर्मवान् मनुष्य ने भी स्वीकार कर लिया है, चण्डीदास की प्रसिद्ध उक्ति इस का एक उदाहरण है।

परिवर्तन का दूसरा कारण है प्रकृति की नयी परिकल्पना। विज्ञान की पहली प्रगति ने मनुष्य को यह विश्वास दिया कि बुद्धि सब प्रश्नों का उत्तर दे सकती है। निःसन्देह ऐसा अखण्ड विश्वास विज्ञान की भी आधुनिक परिस्थिति में नहीं पाया जाता, किन्तु अनुसन्धान और परीक्षण की परम्परा अब भी विज्ञान की मुख्य पद्धति है। फिर भौतिक और जैविक विज्ञान की प्रगति की जो दो उपलब्धियाँ थीं उन्हों ने विकास की क्रिया को कुछ ऐसा यान्त्रिक रूप दे दिया कि वैज्ञानिक चिन्तन भी एक प्रकार का यान्त्रिक चिन्तन हो गया। जड़ से चेतन की उत्पत्ति,

और प्राथमिक जीवकोष से क्रमशः जटिलतर भीतरी रचना वाले जीवों की रचना की लम्बी शृंखला के अन्त में मानव जीवन का विकास ये विज्ञान की मुख्य उपलब्धियाँ रहीं जिन्हों ने परवर्ती मनोविज्ञान को भी एक यान्त्रिक ढाँचा दे दिया। अगर मन भी एक यन्त्र है, और बाहरी प्रभावों को नियन्त्रित कर के उस की सभी क्रियाओं को अनुशासित और निर्दिष्ट किया जा सकता है, तो नैतिक बोध भी केवल एक यन्त्रशासित कल्पना है। कोई मूल्य आत्यन्तिक अथवा स्वयंसिद्ध मूल्य नहीं है जैसे किसी मशीन को सचालित करने वाले कंट्रोल की अलग-अलग मुद्रायें या बटन अमुक एक स्थिति में रख देने से उस यन्त्र का काम अमुक स्तर पर सम्पूर्ण रूप से निर्दिष्ट हो जाता है, उसी तरह मन के भी अलग अलग कंट्रोल निश्चित कर के उस की सभी क्रियाओं, उस के मूल्य-बोध और नैतिक-बोध आदि को नियन्त्रित किया जा सकता है, और यह नियन्त्रण गुण और मात्रा दोनों पर एक-सा लागू हो सकता है।

नैतिकता सापेक्ष है, इस परिणाम तक पहुँचने के दूसरे कारण भी हुए। सापेक्षवाद के सिद्धान्त ने देश-काल के ही नहीं, पदार्थ मात्र को एक सशयास्पद रूप दे दिया। पदार्थ के छोटे-से-छोटे अविभाज्य अश को अणु मान कर इस परिभाषा पर अपना सारा शोध-कार्य आधारित करने वाला भौतिक विज्ञान जब उस बिन्दु पर पहुँचा जहाँ यह भी सन्दिग्ध हो गया कि अणु अनिवार्यतया पदार्थ ही है और यह सम्भावना सामने आयी कि पदार्थ और शक्ति दोनों अनवरत एक-दूसरे में परिवर्तित होते रहते हैं और एक ही तत्त्व कभी स्थूल रूप में अणु हो जाता है और कभी सूक्ष्म रूप ले कर विशुद्ध वैद्युतिक आवेश अथवा शक्ति हो जाता है, तब वैज्ञानिक का यान्त्रिक चिन्तन भी सन्दिग्ध हो गया और एक नये प्रकार के अनिश्चय ने जन्म लिया। स्फट (क्रिस्टल) की रचना के अनुसन्धान ने पदार्थ की असारता को और भी स्पष्ट किया। स्फट की आन्तरिक रचना की परीक्षा ने जहाँ इस बात को क्रमशः और स्पष्ट किया कि उस के भीतर अनेक स्तर और 'चेहरे' होते हैं, वहाँ इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया कि वे चेहरे, स्तर, कटाव और कोण होते किस 'पदार्थ' के हैं। अर्थात् स्फट के शोध ने रचना या गठन का और गति का प्रमाण तो दिया, किन्तु इस का कोई सकेत नहीं दिया कि वह रचना या गति किस तत्त्व की है। बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि उसे यह सकेत मिला कि तत्त्व कुछ है ही नहीं, रचना ही रचना है और गति ही गति है।

वास्तव के शोध ने इस प्रकार जिस नयी अवास्तविकता को जन्म दिया, उस में सवेदना के प्रकार का बदल जाना स्वाभाविक ही है।

तीन

पदार्थ मात्र की हमारी कल्पना में परिवर्तन तक जाना कदाचित् अनावश्यक

है, यद्यपि जीवन-दर्शन का यह एक आवश्यक तत्त्व है क्योंकि मम और ममेतर का परस्पर सम्बन्ध जीव और जीवेतर के सम्बन्ध के व्यापकतर क्षेत्र का एक छोटा-सा हिस्सा-भर है। फिर भी यदि हम उतनी गहराई तक न जा कर अपने को प्राणि-समाज तक ही नहीं बल्कि उस के एक अंग मानव-समाज तक ही सीमित रखें, तब भी हम देख सकते हैं कि समाज-विज्ञान और अर्थ-विज्ञान की प्रगति ने कैसे सृष्टि में मनुष्य के स्थान को क्रमशः बदल दिया है।

मनुष्य जाति का वैज्ञानिक नाम 'होमो सेपिएस' (ज्ञान-सम्पन्न प्राणी) ही इस बात को स्पष्ट कर देता है कि विज्ञान ने मनुष्य को उस के विवेक के कारण दूसरे जीवों से विशिष्ट माना है। भारतीय परम्परा 'धर्मो हि तेषामधिको विशेष' मानती आयी थी, किन्तु विज्ञान ने जहाँ मनुष्य की बुद्धि को आत्यन्तिक माना वहाँ धर्म को सापेक्ष मान लिया—क्योंकि विवेक या नैतिक भावना परिस्थिति-जन्य और प्रभावों के अनुशासन द्वारा परिवर्तनीय मान ली गयी। इस प्रकार इतर जीवों से मनुष्य को विशिष्ट करने वाली बुद्धि ने मनुष्य की बुद्धि के लिए एक नया संकट उत्पन्न किया; विशिष्ट करने वाली बुद्धि ही यह बताने लगी कि मानव किसी तरह भी पशु से भिन्न नहीं है। कहा जा सकता है कि पशु से मनुष्य को पृथक् करने वाला विज्ञान मनुष्य को पशु बनाने लगा—यन्त्र से मनुष्य को अलग करने वाला विज्ञान मनुष्य को यन्त्र बनाता गया, और नैतिक बोध को निरूपित करने वाला विज्ञान नैतिकता को सन्दिग्ध करता गया।

यह इस प्रगति का परिणाम है कि आज मानव की स्थिति को इस प्रकार निरूपित किया जाता है कि वह 'एक नीतिविहीन अथवा अतिनैतिक (क्योंकि यान्त्रिक) समाज में रहने वाला नैतिक जीव' है। वास्तव में आज के सामाजिक रोग इसी अन्तर्विरोध के परिणाम हैं। यदि आधुनिक मानव व्यक्ति भी आधुनिक यन्त्र की भाँति नैतिकताविहीन या अतिनैतिक होता तो भी उस की चेतन में गुत्थियाँ न पड़ती, और यदि समाज नैतिक होता तो भी यह परिस्थिति न आती।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपचारों का भी आधार यही है। वे नैतिकता के किसी प्रश्न का हल नहीं बताते, न समाज को परिवर्तित करने के सम्बन्ध में कोई संकेत देते हैं। वे केवल अनैतिक समाज में रहने के तनाव को दूर कर देते हैं—यह सम्भव बना देते हैं कि नैतिकता-सम्पन्न व्यक्ति बिना अनावश्यक क्लेश के उस अनैतिक समाज में रह सके। मनोविज्ञान की परिभाषाओं के अनुसार मानव-समाज को बदलने या सुधारने की, समाज-कल्याण की कोई भी चेष्टा ऐसा मन या व्यक्तित्व नहीं कर सकता जिसे स्वस्थ या साधारण (नॉर्मल) कहा जा सके, समाज को आगे ले जाने वाले व्यक्ति का अस्वस्थ और असन्तुलित होना उन परिभाषाओं के अनुसार अनिवार्य है—इस से मनोवैज्ञानिकों को कोई चिन्ता या उलझन नहीं होती। उन्हें यह नहीं दीखता कि यदि ऐसा है तो वहीं उन का

मनोविज्ञान अधूरा है या उस का 'एप्रोच' ग़लत है।

साहित्यकार को, साहित्यिक कृतिकार को, शायद यह सब थोड़ा-थोड़ा दीखता है, भले ही धुंधला और स्पष्ट दीखता हो।

चार

जिसे यहाँ आधुनिक संवेदना कहा गया है, और जिस को ही लेख के शीर्षक में आधुनिक साहित्य-बोध की संज्ञा दी गयी है, उस की पृष्ठभूमि में यही यह सब कुछ है। ऐसा नहीं है कि ये सब विचार और तर्क वितर्क सभी आधुनिक लेखकों के चेतन में हों, या कि सब में समान रूप से हों। बल्कि यह भी नहीं कहा जा सकता कि सब में ये विचार हैं ही। किन्तु इतना अवश्य है कि आज का लेखक अपेक्षया अधिक चेतन है और इस लिए परिस्थिति के प्रभावों को अधिक तेज़ी से और अधिक मात्रा में ग्रहण करता है।

कहा जा सकता है कि इस ढंग की परिस्थिति चेतना कृतिकार के लिए हितकर नहीं है। एक प्रकार से आत्मचेतन (सेल्फ कान्शस) होना आधुनिक साहित्यकार का अभिशाप है। अभिशाप नहीं तो दण्ड तो है ही! उस की लाचारी ही है कि वह अपनी संवेदना और प्रतिभा से होने वाली उपलब्धि-भर पाठक, श्रोता अथवा ग्राहक के सामने रख कर सन्तोष कर लेना चाहे तो भी नहीं कर सकता, वह बाध्य होता है कि इस से आगे वह यह भी स्वयं समझाये कि आधुनिक संवेदना क्या है और क्यों है—वह आधुनिक क्यों है और संवेदना भी क्या है!

पाँच

जीवन की प्रक्रिया का यह बढ़ता हुआ ज्ञान, जीवन-यन्त्र की यान्त्रिक गति का यह बढ़ता हुआ परिचय अपने-आप में एक समस्या है। जितना ही अधिक हमारा जीवन सतह पर आता जाता है उतना ही सतह बढ़ती जाती है, अर्थात् उस के अनुपात में आभ्यन्तर जीवन उतना ही छोटा होता जाता है। जितना ही अधिक हम सतह पर जीते हैं, उतना ही सतह पर भीड़ भी होती जाती है, स्वयं सतहों की भीड़ होती जाती है। जीवन-स्फटिक रचना ही रचना है, गति ही गति है, तत्त्व कुछ है या नहीं, हम नहीं जानते!

हम बार-बार गहरे उतरे
कितना गहरे!—पर
जब-जब जो कुछ भी लाये
उस से बस
और सतह पर भीड़ बढ़ गयी।
सतहें—सतहें—

सब फेंक रही हैं लौट-लौट
वह कौंध
जिसे हम भर न रख सके
प्याले में।
छिछली, उथली, घनी चौंध से अन्धे
घूमते हैं हम
अपने रचे हुए
मायावी उजियाले में।

आधुनिक साहित्यकार के लिए इस परिस्थिति को अनदेखा करना असम्भव है। लेकिन देख कर स्वीकार कर लेना भी असम्भव है। जितना ही वह दीखती है उतना ही उसे भेद कर भीतर गहराई में पैठना और आवश्यक हो जाता है।

इस प्रकार सवेदना में द्विभाजन हो जाता है। एक तो संवेदना नयी, उस पर इस प्रकार द्विभाजित, यह बात आधुनिक साहित्यकार की समस्या को और अपने पाठक से उस की दूरी को एक नया आयाम दे देती है।

द्विभाजन को दूर करना, सतह और गहराई के विरोध को हल करना यह साहित्यकार की भीतरी समस्या है—गहराई की समस्या है। अपने इस प्रयत्न को अपने सामने रखना, चेतन रखना, यह उस की बाहरी समस्या है—सतह की समस्या है। किन्तु भीतरी और बाहरी का यह भेद उस के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और उस की दृष्टि से आत्यन्तिक हो कर भी पाठक के साथ उस के सम्बन्ध को अन्तिम रूप में निरूपित नहीं करता है। क्योंकि प्रयत्न करने और प्रयत्न को सामने रखने के अलावा पाठक के सन्दर्भ में एक और उत्तरदायित्व भी उस का है—कि वह अपने प्रयत्न को ही अपने सामने न रखे बल्कि उस खडित यथार्थ को भी सामने रखे जिस के कारण वह प्रयत्न है और जो पाठक के और उस के बीच सम्बन्ध का आधार है।

छः

इस सन्दर्भ में हिन्दी के बारे में क्या कहा जा सकता है? हिन्दी और हिन्दी मात्र का लेखक होते हुए उस के बारे में कुछ कहने में सकोच करना स्वाभाविक है। एक तो कृतिकार का समकालीन साहित्य के बारे में कुछ भी कहना जोखिम का काम होता है जब तक कि पाठक इतना सतर्क और उदार न हो कि कृतिकार और समीक्षक की बातों का मूल्याकन करने की अलग-अलग कसौटियाँ रख सके और यह समझ सके कि यह अलगाव पाखंड नहीं बल्कि दृष्टि है। दूसरे, यह व्यक्ति-विशेष न तो अपने को हिन्दी की ओर से व्यापक रूप से कुछ कहने का अधिकारी मानता है, न साधारणतया दूसरों ने ही कभी उस में इस की पात्रता देखी है!

अपने विचारों में वह अकेला तो कदाचित् नहीं है, पर बहुत ही अल्प-मत का है, और उस अल्प-मत का भी अधिकांश कदाचित् हिन्दीतर भारतीय भाषाओं में पाया जायेगा यह सम्भावना उस के सम्मुख रहती है।

हिन्दी के विषय में यहाँ जो कुछ कहा गया है वह इन मर्यादा के साथ ही ग्रहण किया जाना चाहिए और मान्य अथवा अमान्य ठहराया जाना चाहिए।

हिन्दी की दृष्टि भारत की दूसरी भाषाओं की अपेक्षा अधिक व्यापक, अधिक 'भारतीय' दृष्टि रही है। इस के ऐतिहासिक कारण रहे हैं। किन्तु आज वह दृष्टि अधिक वैज्ञानिक भी है ऐसा नहीं कहा जा सकता। यों कह लीजिए कि ऐसा नहीं जान पड़ता कि आधुनिक विज्ञान की प्रगति का प्रभाव उन पर अधिक पड़ा है या उस में अधिक लक्षित होता है। हिन्दी का पाठक अभी तक केवल हिन्दी का या मुख्यतया हिन्दी का है। हिन्दी का आलोचक भी केवल हिन्दी का, या अधिक-से-अधिक संस्कृत के परिवेश का लेकर हिन्दी का आलोचक है। ऐसा मानने का कारण है कि हिन्दी का लेखक इन दोनों की अपेक्षा कुछ अधिक खुला है। यह भी दीखता है कि कुछ दूसरी भारतीय भाषाओं के लेखक हिन्दी लेखक की अपेक्षा अधिक खुले हैं। अपवाद प्रत्येक वर्ग में और प्रत्येक भाषा में होंगे, किन्तु यहाँ न अपवादों की बात की जा रही है, न कोई निरपवाद स्थापना की जा रही है। गुण-दोष, अच्छाई-बुराई की बात भी यह नहीं है, केवल वैज्ञानिक प्रगति के प्रभावों के प्रति खुलेपन की बात है और विनयपूर्वक यह स्वीकार करना चाहिए कि विज्ञान की उपलब्धियों को ग्रहण करने, उन का चिन्तन और मनन करने के प्रति हिन्दी का लेखक उतना सजग नहीं है जितना वह हो सकता है, और हिन्दी का पाठक या समीक्षक तो उतना भी सजग नहीं जितना कि लेखक है।

सात

आधुनिक साहित्यकार की संवेदना का कुछ कुछ निरूपण इन बातों से हो गया होगा। आधुनिकता जो परिवर्तन लायी है, और उन के कारण सम्प्रेषण की जो समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं, उन का कुछ अनुमान भी इन में हो गया होगा। आधुनिक लेखक और आधुनिक पाठक के बीच जो समस्या है, या दूसरे शब्दों में साहित्यकार की समस्या लेखक और पाठक के सम्बन्ध के क्षेत्र में जो रूप लेती है, उस के बारे में कुछ शब्द और कहे जा सकते हैं।

मूल्यों की परिवर्तनशीलता अथवा शाश्वत मूल्यों के मतवाद और विवाद यहाँ प्रासंगिक नहीं हैं। यह नहीं कहा जा रहा है कि शाश्वत मूल्य कुछ नहीं हैं, न ही यह कहा जा रहा है कि मूल्यों में कोई परिवर्तन नहीं आया है। प्रेषणीयता अब भी बुनियादी साहित्यिक मूल्य है और सम्प्रेषण साहित्यकार का बुनियादी काम; किन्तु बदलती हुई परिस्थितियों में प्रेष्य वस्तु और प्रेषण के साधन दोनों बदल गये हैं।

यह लेखक को जानना है, पाठक को समझना है और आलोचक को मानना है—और सभी को यह यत्न करना है कि जहाँ वे दूसरे पक्ष से यह माँग करें कि उन का काम कम कठिन बनाया जाये वहाँ स्वयं भी अपनी क्षमता बढाने की ओर दत्त-चित्त हो।

संस्कृति के सम्बन्ध मे जो भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई हैं वे समस्या को और उलझाती हैं। हमारे अनेक पूर्वग्रह कुछ बुनियादी असत्यो पर आधारित हैं। जब तक सत्य का शोध न किया जाये तब तक इन पूर्वग्रहो से मुक्ति पाना कठिन है। जो लोग भारतीय संस्कृति की दुहाई देते हैं वे प्राय भूल जाते हैं कि अन्य सभी संस्कृतियों की भाँति भारतीय संस्कृति भी एक मिश्र अथवा सामासिक संस्कृति है—कि संस्कृति मात्र समन्वित होती है क्योकि एक समन्वित दृष्टि ही उस की एकता का आधार होती है। दोनो मे अभिन्न सम्बन्ध होने पर भी 'परम्परा' केवल इतिहास अथवा घटना-क्रम नही है, वह घटना-क्रम से मिलने वाला जातिगत अनुभव है—अनुभव ही नही बल्कि उस अनुभव का ऐसा जीवित स्पन्दन जो जाति को अभिप्रेरित करता है। हम भारतीय साहित्य के सन्दर्भ मे पश्चिम के प्रभाव की चर्चा करते है अथवा दूसरे एशियाई देशों पर भारत के प्रभाव की बात करते है, लेकिन यह भूल जाते हैं कि प्रभावित होने या प्रभाव ग्रहण करने की भी एक प्रतिभा होती है और कुछ अवदानो का श्रेय दाता को नही, प्राप्ता को मिलना चाहिए। जो सास्कृतिक दाय दूसरो को हम से मिला, किन्तु उस के बाद दूसरो के जातिगत अनुभवो मे जीवित रहा और हम मे खो गया, उस का श्रेय लेने का हमे क्या अधिकार है? या उन्हे क्यों उसे परदेसीय मानना चाहिए? वह मूलत. भारतीय हो कर भी जब उन की परम्परा का अग हो गया है तब उन का है, हमारे इतिहास का हो कर भी जब हमारी परम्परा से च्युत हो गया है और हम मे क्रियमाण नही है, तब हमारा नही है। पश्चिम के रोमांटिक आन्दोलनो मे हमारा बडा प्रभाव रहा, किन्तु वह प्रभाव वहाँ क्यो और कैसे प्रकट हुआ इस का उत्तर वहीं के जातीय जीवन और अनुभव से मिलेगा। वह पूर्व से आया हो कर भी हमारा दान नही, उन का उपार्जन था। इसी लिए हमने जब फिर उस प्रभाव को ग्रहण किया तब यह भाव हम मे नही था कि यह अपनी ही खोयी या बहुत दिनो की भूली वस्तु हमे मिल गयी। और आलोचक वर्ग तो आज भी आग्रहशील है कि हमने पश्चिम का अनुकरण किया! दूसरी ओर छायावाद मे पश्चिम का प्रभाव जिस रूप मे प्रकट हुआ उस का उत्स पश्चिम से हो कर भी पश्चिम को अधिकार नहीं है कि वह उस पर गर्व करे, वह हमारी उपलब्धि है।

संस्कृति की भाँति ही हमारी भाषा भी मिश्र भाषा है। इस का परिणाम यह हुआ कि अलग-अलग वर्गों मे अलग-अलग प्रकार की भाषा बोली जाती है और साहित्य-समीक्षा के क्षेत्रों में भी कई परिभाषाएँ हो गयी हैं जो अपने-अपने व्यवहार

करने वालों में परस्पर संवेद्य नहीं होती हैं। आचार्य-वर्ग में ऐसा कहने वाले अनेक हैं कि 'आज की आलोचना दुर्बोध अथवा अबोध्य है'। किन्तु क्या आज के पाठक के लिए शास्त्रीय आलोचना कम दुर्बोध अथवा अबोध्य है? इतना ही नहीं, क्या वह अपर्याप्त, और बहुत कुछ अप्रासंगिक अथवा अनुपयोगी भी नहीं हो गयी है?

हमारा उद्देश्य किसी को ललकारने, चुनौती देने, या किसी पर आरोप करने या अभियोग लगाने का नहीं है। वादी या पक्षधर या किसी पक्षधर का पैरोकार होना हमें अभीष्ट नहीं—या अधिक-से-अधिक साहित्य-कर्मी मात्र का पैरोकार होना अभीष्ट है और इस संज्ञा की परिधि के भीतर लेखक, पाठक और आलोचक तीनों को ग्रहण कर लिया गया है। आधुनिक संवेदना का प्रश्न तीनों के लिए समान रूप से महत्त्व रखता है क्योंकि तीनों का अपना-अपना प्रश्न है। आधुनिकता की, आधुनिक जीवन की चुनौती सब के लिए एक-सी है और उस का सामना वे सहकर्मी हो कर ही कर सकते हैं।

साहित्य-प्रवृत्तियों की सामाजिक पृष्ठभूमि

समकालीन साहित्य की विवेचना में साधारणतया समकालीन कविता से आरम्भ करने की प्रथा है, क्योंकि ऐसा माना जाता है कि समकालीन मानस की सच्ची अभिव्यक्ति कविता में ही होती है जो कि व्यक्ति-सत्य का सब से अच्छा माध्यम है। किन्तु साहित्य-प्रवृत्तियों को आरम्भ से ही चोटी से पकड़ने का यत्न न कर के पहले उस पूरे समवर्ती परिदृश्य की रूपरेखा आँकने के जिस से काव्य की और अन्य समकालीन प्रवृत्तियाँ मर्यादित होती है, प्रयत्न की अपनी उपयोगिता हो सकती है।

सामाजिक परिवृत्ति के अध्ययन के लिए भी यों तो कम-से-कम भारतेन्दु के काल से, और कदाचित् सन् '५७ से, आरम्भ करना चाहिए, क्योंकि परवर्ती युग में राजनैतिक संघर्ष क्रमशः उग्रतर होते जाने के कारण साहित्य-रचना की राजनैतिक पीठिका ही मुख्य हो गयी और सामाजिक प्रेरणाओं और शक्तियों का प्रभाव उतना स्पष्ट नहीं रहा। किन्तु उतनी दूर पीछे जाना अनिवार्य नहीं है; अपनी ही पीढ़ी के लेखकों की मानसिक गठन के विश्लेषण से आरम्भ करें और उसी के मुकुर में उस से पहले की सामाजिक प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब देखें तो भी अनुपयोगी न होगा। बल्कि उस में समकालीन साहित्य की जागृति और जड़ता, शक्ति और क्लैब्य, प्रेरणा और शिथिलता, उदारता और संकीर्णता का रहस्य कुछ अधिक सुगमता से समझ आ सकेगा।

मन स्थितियाँ

राष्ट्रवाद . हमारी पीढ़ी के लेखकों के मानस-पट के ताने-बाने के मुख्य सूत्र कौन-कौन-से रहे? असन्दिग्ध रूप से इनमें प्रथम स्थान देशभक्ति अथवा राष्ट्रवाद का था। हमारे काल का साहित्य सबसे पहले राष्ट्रवादी अथवा राष्ट्रीय चेतना का साहित्य रहा। राष्ट्र की कल्पना निस्सन्देह क्रमशः विकसित होती रही। यह कह देना आसान है—और इधर सारी नयी परिस्थिति और परिवेश के मूल भारतीय संस्कृति के आदि-काल में ही खोज निकालने की हवा फिर बहने लगी है!—कि हम सनातन काल से ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' मानने वाले मानवतावादी रहे। लेकिन वास्तव में वैसे 'उदारचरित' हम नहीं थे, और न जिन

परिस्थितियों में हमारे इस राष्ट्रवाद में नये दौर का आरम्भ हुआ, वे परिस्थितियाँ ही उदारता का पोषण करने वाली थी। बल्कि बीसवीं शती के आरम्भ के साथ, पाश्चात्य विचारों की खाद से पनपने वाले राष्ट्रवाद में दीक्षित हो कर कदम उठाते ही हम यह देखने और सीखने को बाध्य हुए कि राष्ट्र-शक्ति उदारता की शक्ति नहीं है बल्कि संकीर्णता की शक्ति है। यह मानने में हमें संकोच नहीं होना चाहिए कि राष्ट्रवाद का यह दौर एक संकीर्ण संगठन-बुद्धि से ही आरम्भ हुआ, और वास्तव में आरम्भ में केवल जातीय ही था। पहली क्रान्ति चेष्टाएँ भी जातीय क्रान्ति की चेष्टाएँ थी, न कि राष्ट्रीय क्रान्ति की। और इस जातीय जागृति का कारण एक तो पाश्चात्य उदार विचारों का प्रभाव था, और दूसरे अंग्रेजों की जात्याभिमान पर आश्रित वह भेद नीति जो कि जातिद्वेष और उस के द्वारा जातीय उत्कर्ष की भावनाओं को उभारती थी।

किन्तु राष्ट्रवाद की यह लहर, जो उन्नीसवीं शती के अन्त से सारे संसार में ही फैलने लगी थी, दूसरे महायुद्ध में आ कर बिखर गयी। दूसरा महायुद्ध वास्तव में पश्चिम में राष्ट्रवाद के पराभव का कारण बना। उसी महायुद्ध के परिणामों से राष्ट्रीय स्वाधीनता पा कर हमें यह बात भूल नहीं जाना चाहिए। बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि अगर—(यद्यपि इतिहास के विवेचन में 'अगर' की प्रतिज्ञाएँ कोई अर्थ नहीं रखती!)—अगर राष्ट्रवाद का पराभव (भले ही आज की दृष्टि से अल्पयुगीन) न हुआ होता तो कदाचित् हमें भी स्वाधीनता के लिए और आगे तक संघर्ष करना पड़ता।

अंग्रेज के प्रति घृणा

लेखक के मानस की दूसरी मुख्य प्रवृत्ति—जो राष्ट्रवाद के साथ सम्बद्ध थी—थी अंग्रेजों के प्रति घृणा। अनन्तर बहुत-से लोग इस घृणा की तीव्रता को भूल गये या अस्वीकार करने लगे, किन्तु वास्तव में इस घृणा से उत्पन्न तनाव लेखक की मनोरचना में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता था। सन् '४२-'४३ में यह घृणा अपनी चरम स्थिति पर पहुँच कर स्वाधीनता-लाभ के बाद की उपशान्ति में जा कर ही विकीर्ण हुई।

स्वच्छन्दतावाद (बोहेमियनिज़्म)

तीसरी मुख्य प्रवृत्ति व्यक्तिवाद और उस के विभिन्न रूपों या शाखाओं की है—जिन का आधार व्यक्ति-स्वातन्त्र्य या स्वच्छन्दता का आग्रह था। यों तो यह प्रवृत्ति अंग्रेजी साहित्य के परिचय के साथ ही आरम्भ हो गयी थी, क्योंकि जिस समय अंग्रेजी साहित्य के साथ हमारा परिचय हुआ उस समय यह उस साहित्य की मुख्य प्रवृत्ति थी। साहित्यकार को सामाजिक अनुशासन से परे माना जा सकता है,

यह कल्पना भी उस से पहले का हमारा साहित्यकार न करता होगा, लेकिन इंग्लैंड के रोमांटिक कवियों की कविता, व्यक्तिवादी दर्शन, और थोड़ा-बहुत फ्रांसीसी साहित्य पढ़ कर लेखक अनायास ही यह दावा कर सका कि वह नियमातीत, स्वाधीन, स्वच्छन्द, स्वयंसिद्ध और स्वतःप्रमाण है। यानी स्वयम्भू होने का दावा छोड़ कर ईश्वरत्व के सभी लक्षण उस ने अपना लिये ! श्रेष्ठ वह था ही, और अमरत्व उसने अपने लिए नहीं तो अपनी रचना के लिए माँग लिया।

मोह-भंग

चौथी मुख्य प्रवृत्ति को हम मोह-भंग कह सकते हैं। यह मोह-भंग लेखक-मानस का एक महत्त्वपूर्ण अंग था और इस का प्रभाव बहुत-सी दिशाओं में था—राज-नैतिक, सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक इत्यादि। यों तो प्रतिमा-भंजन और नयी प्रतिमाओं का निर्माण हर काल में होता ही रहता है, किन्तु स्वाधीनता-प्राप्ति के तुरन्त पहले तक का काल रूढ़ियों के टूटने के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय रहा। सामन्तकालीन जीवन-पद्धति की जो रूढ़ियाँ अंग्रेज़ों के प्रवेश से और इंग्लैंड की औद्योगिक क्रान्ति के दूरागत प्रभाव से बहुत दिनों से शिथिल होती चली आयी थीं, वे हमारे काल में सहसा फड़फड़ा कर टूट गयीं। इस अनिवार्य घर्म को अवाछनीय कैसे कहा जा सकता है ? लेकिन अन्यत्र जैसे सामन्ती परिपाटी के क्रमागत विकास से एक मध्यवर्गीय जीवन-पद्धति और संस्कृति को स्थान दिया हमारे यहाँ उस का समय ही नहीं मिला। हमारे यहाँ सामन्ती पद्धति तो गयी, लेकिन उस का स्थान लेने के लिए उस से उत्पन्न कोई मध्यवर्गीय परिपाटी या संस्कृति नहीं थी। एक छोटे से उदाहरण से यह सामान्य कथन स्पष्ट हो जायेगा। हमारे यहाँ संयुक्त परिवार ने पृथक् परिवारों को अभी स्थान भी नहीं दिया था कि नौकरी के बन्धन इन बलात् विभाजित परिवारों के अंगों को दूर-दूर स्थानों में और नये-नये पेशों में ले जा कर डालने लगे। पेड़ से कलम भी तैयार नहीं हुई थी कि पत्ती-पत्ती तोड़ कर अलग-अलग बिखेर दी गयी। इस लिए आज नयी दिल्ली जैसी जगह में हम देखते हैं कि लाखों 'पढ़े-लिखे' लोगों में 'संस्कृत' व्यक्तियों की संख्या इतनी कम है। संस्कृति गहरी जड़ें माँगती है, जब कि नयी दिल्ली के पौधों में सतही जड़ें भी नहीं, केवल सूखे पत्ते-ही-पत्ते हैं !

चारों वृत्तियाँ नकारात्मक

अभी तक चार मुख्य प्रवृत्तियों का उल्लेख किया गया है, ये चारों ही नकारात्मक थीं और चारों के ही आधार खोखले सिद्ध हो चुके हैं। इस से अव्यवस्था और विमूढ़ता का होना स्वाभाविक था, और यह स्वीकार करना चाहिए कि यह तत्त्व हमारी पीढ़ी के लेखक के मानसिक गठन में स्पष्ट लक्षित होता रहा। हिन्दी

लेखकों की मनोरचना अत्यन्त अव्यवस्थित रही है। (यों तो यह भी कहा जा सकता है कि हिन्दी लेखक के ही नहीं, समकालीन हिन्दुस्तानी मात्र के मन की यही स्थिति रही। पर हिन्दीतर भाषाओं के बारे में ऐसी बात उन्हीं के मर्यादा-सरक्षकों के कहने के लिए छोड़ी जा सकती है !)।

यह चित्र का एक पक्ष है—अनुज्ज्वल पक्ष है। चित्रकारों का नियम भी है कि पहले गहरी छायाएं आंक कर पीछे उज्ज्वल रग भरे जाते हैं।

सांस्कृतिक चेतना

धन पक्ष में पहली उल्लेखनीय प्रवृत्ति सांस्कृतिक चेतना की है। मूलतः इस काल में यह भी राष्ट्रीय जाग्रति के साथ ही सम्बद्ध रही। भारतेन्दु से लेकर मैथिलीशरण गुप्त और उन के शिष्यों तक की परम्परा, एक साथ ही राष्ट्रीय चेतना और सांस्कृतिक चेतना के विकास की परम्परा थी। आरम्भ में इन दोनों में कोई अन्तर नहीं समझा जाता था, और साधारणतया देश की स्वाधीनता के साथ प्राचीन गौरव के पुनरुद्धार का स्वप्न सम्बद्ध रहता था। किन्तु क्रमशः सांस्कृतिक चेतना ने स्पष्टतर रूप लिया। इस स्पष्टीकरण के पीछे विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियां थी। प्राचीन संस्कृति के पुनरुद्धार की प्रेरणा के साथ ही यह प्रश्न उठा कि किस संस्कृति को पुनः प्रतिष्ठित किया जायेगा उस के अवशेष से पहले परिचय तो होना चाहिए। इसने सांस्कृतिक अनुसन्धान को प्रोत्साहन तो दिया ही, साथ ही मध्य-कालीन उच्चवर्गीय संस्कृति की कान्ति की ओर भी, जो प्राकृत अथवा लोक-संस्कृति की प्रवृत्तियों के नीचे दबी रह गयी थी, जनता का ध्यान आकृष्ट किया। लोक-संस्कृति की ओर जो आकर्षण लक्षित होता है, उस के पीछे इस प्रवृत्ति को पहचानना आवश्यक है, क्योंकि इस परिणाम पर लोग दो भिन्न मार्गों से पहुंचे थे जिन में से केवल दूसरे की चर्चा अधिक होती रही है।

जनवाद और वर्ग-चेतना

यह दूसरा मार्ग था वर्ग-चेतना से प्रेरित जनवाद का मार्ग, जिस में जन-संस्कृति की पुकार इस लिए उठायी कि उस के सहारे वह मध्यवर्गीय संस्कृति को और भी पराभूत कर सकेगी। इस प्रकार जन-संस्कृति के आकर्षण के पीछे दो प्रतिकूल प्रवृत्तियां थी। एक थी प्राकृत जन की सभ्यता और संस्कृति के अध्ययन से उस सांस्कृतिक दाय का पुनः स्थापित करने की, जो सहस्राब्दियों की परम्परा से हमें मिला है, और दूसरी थी उस परम्परा की अवज्ञा और ध्वस कर के ऐसी लोक-सभ्यता का निर्माण करने की जिसका मूल आधार वर्ग-चेतना और वर्ग-संघर्ष पर आश्रित नये राजनीतिक विचारों पर हो। और, क्योंकि कोई भी सभ्यता एवं सांस्कृतिक आधार के बिना जम नहीं सकती, और संस्कृति पारम्परिक अनुभव-

सचय और उस पर आधारित नैतिक, सामाजिक और कला-सम्बन्धी मान्यताओं का ही दूसरा नाम है, इस लिए यह भी आवश्यक समझा गया कि एक नयी वर्ग-संस्कृति की उद्भावना की जाये और उस के प्रतिमान उपस्थित किये जायें। ये प्रतिमान या तो निरे तर्क के जोर पर सास्कृतिक अवशेषों से सिद्ध किये गये या विदेशी स्रोतों से प्राप्त किये गये।

सामाजिक चेतना

दूसरी मुख्य रचनात्मक प्रवृत्ति सामाजिक चेतना की थी। इस के लिए भी कुछ तो विदेशी विचारों का प्रभाव उत्तरदायी था, और कुछ भारत का ही ऐतिहासिक विकास और घटना-क्रम। यह कहना कदाचित् अप्रासंगिक नहीं होगा कि बीसवीं शती के आरम्भ में सामाजिक सुधार और परिवर्तन की प्रवृत्तियाँ जितनी तीव्र थीं, उतनी बाद के राजनैतिक संघर्ष के युग में नहीं रहीं। हमारी पीढ़ी के कालिज-जीवन के वाद-विवादों में प्रायः ही यह विषय होता था कि 'सामाजिक सुधार पहले आवश्यक है या कि राजनैतिक सुधार ?' आज इस विकल्प की वास्तविकता को ही हम शायद मानने को तैयार नहीं होंगे! एक तो प्रखर होते हुए राजनैतिक संघर्ष में सामाजिक सुधार की माँग दब गयी; दूसरे, शायद सामाजिक सुधार की माँग का एक कारण यह भी था, कि राजनैतिक अभिव्यक्ति की बाधाओं से कुंठित हो कर ही बहुत से पढ़े-लिखे लोग समाज-सेवा की ओर बढ़ते थे। अब राजनैतिक सेवा का क्षेत्र खुल गया, तब परिस्थिति बदल गयी। कहना होगा कि इस प्रकार की सामाजिक सुधार की प्रवृत्ति, सच्ची सेवा की प्रवृत्ति नहीं थी। हम देखते हैं कि राजनीति के क्षेत्र में सम्पूर्ण आज़ादी के उच्चतर ध्येय के समर्थक, सामाजिक क्षेत्र में उन उदार-दली लोगों से भी कहीं पिछड़े हुए थे, जिन का राजनैतिक ध्येय औपनिवेशिक पद की प्राप्ति तक ही सीमित था। यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि आज भी, कुछ इने-गिने अपवादों को छोड़ कर, हमारे राजनैतिक नेताओं के सामाजिक विचार संकुचित और रूढ़िवादी हैं। तर्क करने के लिए तो कहा जा सकता है कि कोई भी सामाजिक सुधार ऊपर से आरोपित नहीं किया जाना बल्कि नीचे से—अर्थात् जन-साधारण की ओर से—दबाव पड़ने पर ही स्वीकृति पाता है, लेकिन सामाजिक विचारों के विकास का अध्ययन इस मत की पुष्टि नहीं करता। वैचारिक उन्नति परिस्थिति के दबाव से आगे ही रही है; बल्कि परिवर्तन के अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा करने का कारण बनी है। या यों कह लें कि परिस्थिति का एक महत्वपूर्ण अंग यह रहा है कि जहाँ जन-साधारण की ओर से उपेक्षा या विरोध भी था, वहाँ भी कुछ उदार दूरदर्शी लोगों का आग्रह भारी परिवर्तन लाने में समर्थ हुआ है। जिस प्रकार सामाजिक चेतना ने सास्कृतिक चेतना को प्रभावित किया, उसी प्रकार राज-नैतिक जागृति भी सामाजिक चेतना का रूप परिवर्तित करती रही। वर्ग-चेतना

और वर्ग-संघर्ष की भावना ने सामाजिक चेतना को बढ़ावा दिया।

प्रगतिशील आन्दोलन

इंग्लैंड में कुछ-एक भारतीय लेखकों द्वारा 'प्रगतिशील लेखक दल' की स्थापना, और इन लेखकों में से कुछ के भारत लौटने के बाद से वर्ग-संघर्ष पर आश्रित सामाजिक चेतना का भारत के लेखकों पर प्रभाव क्रमशः बढ़ता गया। आरम्भ में 'प्रगतिशील लेखक संघ' में विभिन्न प्रवृत्ति के लोग थे, जिनको साथ मिलाने वाली भावना वस्तुस्थिति के प्रति एक सन्देह की भावना थी। 'सुधारवाद, या कि प्राचीन संस्कृति की पुनःस्थापना का स्वप्न पर्याप्त नहीं है, और इन से अधिक भी कुछ होना चाहिए; लेखक को भी नेताओं का मुँह न जोह कर स्वयं कार्यात्मक रूप में कुछ करना चाहिए'—सामान्यतया ऐसा मानने वाले सभी लेखक प्रगतिशील आन्दोलन की ओर आकृष्ट हुए, क्योंकि वह आन्दोलन उन की उदात्त भावनाओं के लिए नया क्षेत्र प्रस्तुत करता जान पड़ता था। किन्तु क्रमशः प्रगतिशील आन्दोलन में 'शील' का स्थान 'वाद' ने लिया। जिन के नाम और प्रतिष्ठा के आधार पर प्रगतिशील लेखक संघ संगठित हुआ और पनपता रहा, वे एक-एक कर उस से अलग हो गये या अलग कर दिये गये। इस प्रकार दूसरी खेप के नये लेखक नेता भी प्रतिष्ठा की पीठिका से गिरा दिये गये, और उन के स्थान पर नये देवता स्थापित हुए। बनाने और गिरा कर मिटाने का यह क्रम अभी चल रहा है, तब तक चलता रहा जब तक कि गिराये जाने के लिए कोई बाकी न रहा—रहे तो एक फतवा देने वाला मौलवी और एक व्यवस्था देने वाला काजी! व्यंग्यकारों ने सुझाया कि जैसे पत्र-पत्रिकाओं में इस अंक के लेखक शीर्षक के नीचे लेखकों का परिचय दिया जाता है, उसी प्रकार प्रगतिवादी पत्र में अगर प्रति मास 'इस मास के सुर' और 'इस मास के असुर' शीर्षक स्तम्भ दिये जाने लगें तो उस साधारण नागरिक का कल्याण हो सकता है, जो स्वयं मताग्रही न होकर दूसरों के मत जानते रहना चाहता है!

भाषा-सम्बन्धी चेतना

एक और कार्यशील प्रभाव भाषा-सम्बन्धी चेतना का था। महावीरप्रसाद द्विवेदी से भाषा का संस्कार आरम्भ हुआ अवश्य, लेकिन हिन्दी अभी ऐसी स्थिति पर नहीं पहुँची थी कि हमें प्रत्येक हिन्दी प्रयोग के लिए कोई स्पष्ट रूढ़ि या प्रतिमान मिल सके। हिन्दीतर भाषाभाषी जिस सुगमता से साधारण 'काम-चलाऊ' हिन्दी सीख-बोल लेता है, उतनी सुगमता से उर्दू या बंगला नहीं। इस आधार पर यह भी कहा जा सकता था कि उर्दू और बंगला अधिक सम्पन्न, पुष्ट और मँजी हुई भाषाएँ हैं जब कि हिन्दी अपेक्षाकृत अविकसित है, और यह भी कहा जा

सकता था कि हिन्दी अभी तक इन भाषाओं की अपेक्षा अधिक ग्रहणशील है। हिन्दी अपनी लम्बी परम्परा में सदैव जन-विद्रोह की भाषा रही है, और जन-साधारण की आशाओं-आकांक्षाओं और उमंगों ने हिन्दी के माध्यम से अभिव्यक्ति पायी है। फारसी, अंग्रेज़ी, और अंग्रेज़ की पोषिता उर्दू के रहते हुए हिन्दी बढ़ी और फैली है। उस के प्रसार और नव-निर्माण का कार्य अब भी चल रहा है। जो भाषाएँ 'बन चुकी' हैं, उन के साहित्य के लिए वह भाषा जहां एक मँजा हुआ साधन उपस्थित करती है, वहां भाषा-रूपी ठठरी के कारण एक बन्धन भी खड़ा कर देती है। जब कि हिन्दी की अद्यावधि ग्रहणशीलता और निर्माणशीलता उस में एक लचीलापन पैदा करती है जो उसे राष्ट्रभाषा पद के विशालतर दायित्व का भार सँभालने में मदद करेगा। निस्सन्देह हिन्दी में भी ऐसी प्रवृत्तियां हैं, और पिछले वर्षों में कुछ अधिक मुखर रही हैं, जो हिन्दी को भी एक जड़ ठठरी बना देना चाहती हैं—भाषा-सम्बन्धी जागृति का यह प्रतिक्रियात्मक पहलू भी है ही। पर हिन्दी के इस तथाकथित 'अनगढ़' रूप के लिए लज्जित होने का कोई कारण नहीं है। जब व्रजभाषा 'भाषा' थी और हिन्दी केवल एक 'खड़ी' अर्थात् रूखी बोली, तब व्रजभाषा जड़ता को प्राप्त हो चुकी थी और खड़ी बोली विकास कर रही थी। हिन्दी आज भी खड़ी बोली है, और हमें आशा करनी चाहिए कि हम उसे सदैव खड़े और गतिमान रूप में ही देखेंगे। जिस दिन वह बैठ कर या जम कर फतवे देने लगेगी, उस दिन से उस का मँजाव और चमक तो और बढ़ायी जा सकेगी लेकिन उस का सहज प्रसार रुक जायेगा। हिन्दी ने अगर समूचे देश की साधना और आकांक्षा को और भाषाओं की अपेक्षा अधिक व्यक्त किया, तो आज भी उसे यह गौरवमय दायित्व दो नहीं देना है। हिन्दी को किसी पर कुछ लादना नहीं है बल्कि हिन्दीतर प्रदेशों की साधना, आकांक्षा और अन्तःस्फूर्ति को अपने भीतर पाना और अभिव्यक्त करना है।

मानववादी प्रवृत्ति

एक और रचनात्मक प्रवृत्ति भी उल्लेखनीय है जिसे साधारण मानववादी प्रवृत्ति कहा जा सकता है। जिस प्रकार अन्य सभी प्रवृत्तियों के अन्दर हमने दोहरी प्रेरणाएँ देखीं, उसी प्रकार मानववाद भी दो भिन्न दिशाओं में बह रहा है। इस प्रवृत्ति को यद्यपि पाश्चात्य विचारों से काफी प्रेरणा मिली, तथापि यह भारतीय विचारधारा से यों भी बहुत मेल खाती थी और इस लिए वर्षों से दबी हुई भारतीय चेतना ने दुगुनी स्फूर्ति से इस का अभिनन्दन किया।

मानववादी प्रवृत्ति के मूल में जो प्रेरणाएँ रहीं उन पर विचार करते समय हमारे समकालीन जीवन की सांस्कृतिक पीठिका की ओर ध्यान देना उचित होगा। 'संस्कृति' नया शब्द है। प्राचीन भारत में कहीं इस शब्द का उल्लेख नहीं

मिलता, यद्यपि हम यह कहने के अभ्यस्त हो गये हैं कि हमारी सांस्कृतिक परम्परा कम-से-कम छः हजार वर्ष लम्बी है। बंगला में 'संस्कृति' के अलावा एक और शब्द 'कृष्टि' भी प्रचलित है, यह शब्द गढ़ा हुआ है—(कदाचित् रवीन्द्रनाथ ठाकुर का—कम-से-कम इसे प्रचलित तो उन्हीं ने किया)। अंग्रेजी शब्द 'कल्चर' की यह अनुकृति जान पड़ता है क्योंकि पश्चिम में भी 'कल्चर' का यह अर्थ नया है और पहले उस का सम्बन्ध भी कृषि-कर्म से ही था। भारतीय अथवा हिन्दू परम्परा में एक शब्द है 'संस्कार', गुजराती में यह लगभग उसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। जिस में हिन्दी में 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग होता है। इस के अतिरिक्त 'शील', 'विनय', 'धर्म' आदि शब्द भी संस्कृति के पर्यायवाची तो नहीं लेकिन संस्कृति की मूल भारतीय भावना के द्योतक हैं। इन शब्दों को ध्यान में रखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय परम्परा में संस्कृति धर्म का ही एक प्रस्फुटन था। संस्कृति समूहगत अनुभव और उस से सिद्ध नैतिक प्रतिमानों पर आश्रित एक नियमित जीवन परिपाटी का नाम है। जब तक इस समूहगत अनुभव का परीक्षण ऐसी कसौटी पर होता रहा जिस की अपनी विश्वसनीयता का आधार धर्म था, अर्थात् जो किसी मानवोपर अलौकिक आधार से मिलती थी, तब तक अनिवार्य था कि संस्कृति धर्म की ही आनुषंगिक रहे। जिसे हिन्दू संस्कृति कहा जाता है, उस का अनुशासन भी इसी प्रकार धर्म अथवा मानवोपर सत्ता पर आधारित। लेकिन उन्नीसवीं शती से क्रमशः स्पष्टतर होती हुई सामाजिक शक्तियों के घात-प्रतिघात में जब भारतीय सामाजिक आचरण के मानदण्ड लौकिक अथवा मानवी आधारों पर बनने लगे तभी से संस्कृति की चर्चा अधिक होने लगी। तब से 'धर्म' शब्द पर्याप्त नहीं रहा—या कह लीजिए कि उस में अतिव्याप्ति आ गयी, क्योंकि संस्कृति को लौकिक आधारों पर आश्रित जीवन-परिपाटी ही माना जाने लगा। इस लिए कम-से-कम हिन्दी में 'संस्कार' शब्द के बदले 'संस्कृति' शब्द का प्रयोग होने लगा। 'संस्कार' यों तो ठीक शब्द था लेकिन कर्मवाद के साथ रूढ़ हो जाने से उस में अर्थान्तर होने की सम्भावना रहती थी।

मानववाद की उत्पत्ति संस्कृति को लौकिक प्रमाण देने की चेष्टा से होती है। मानववाद संस्कृति को एक नैतिक आधार देना चाहता है, जिस प्रकार मार्क्सवाद उसे एक आर्थिक आधार देना चाहता है। मानववाद मानव के विकास के आधार पर नैतिक मान्यताओं की अवधारणा करता है, और उसी से आर्थिक सम्बन्धों को भी अनुशासनीय मानता है। मार्क्सवाद आर्थिक सम्बन्धों को ही मूल आधार मानता है और उसी से नैतिक प्रतिमानों को सिद्ध करता है। इस प्रकार दोनों के लौकिक होते हुए भी उन की तर्क-परम्परा में पूर्वापर अथवा कार्य-कारण का भेद है, जो विरोध का भी कारण बनता है। जो हो, उपर्युक्त कारणों से संस्कृति की चर्चा इतनी अधिक होने लगी है। विभिन्न मतवादों के बीच में उन लोगों को अच्छा

अवसर मिल गया है जो हिन्दू संस्कृति अथवा आर्य संस्कृति की दुहाई दे कर संस्कृति के नये आधार को निस्सार बना देना चाहते हैं। मार्क्सवाद और नये मानववाद में चाहे जितना विरोध हो, यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि दोनों ही संस्कृति का आधार लौकिक मानते हैं। यह स्वस्थ आधुनिक प्रवृत्ति है। संस्कृति के केवल अलौकिक रहस्यवादी अथवा शाश्वत आधार खोजना निरी प्रतिक्रिया है; यह इस के बावजूद कि धार्मिक परम्परा का ज्ञान लौकिक संस्कृति को गहराई आयाम दे सकता है।

विकृतियाँ : अर्थज और कामज

भूमिका कदाचित् अधिक विस्तार से बाँधी गयी है। किन्तु वास्तव में वह केवल भूमिका नहीं है, क्योंकि लेखक की मनोदशा का सम्पूर्ण चित्र सामने पा कर हम उस की रचना की प्रवृत्तियों को भली-भाँति समझ सकते हैं। एक पूरी आकार-रेखा हमारे सामने है जिस में विभिन्न अवयवों को यथास्थान आसानी से बिठाया जा सकता है। यद्यपि यह भी कहना चाहिए कि यह वास्तव में सम्पूर्ण चित्र नहीं है। सम्पूर्ण चित्र के लिए हमें उन विकृतियों का भी उल्लेख करना चाहिए जो सामाजिक जीवन की घुटन और कुंठाओं से उत्पन्न हुईं। यहाँ हम 'सामाजिक' एक व्यापक अर्थ में कह रहे हैं, क्योंकि ये विकृतियाँ अर्थ और काम दोनों के क्षेत्रों को दूषित करने वाली थीं। इन का, और समकालीन साहित्य पर इन के प्रभाव का, अध्ययन स्वयं एक रोचक और उपयोगी विषय है, किन्तु यहाँ उस की गहराइयों में नहीं जाना होगा। यहाँ इतना ही कह देना काफ़ी है कि ये विकृतियाँ हमारे साहित्य में भी प्रकट हुईं, जैसी कि वे अन्य साहित्यों में और अन्य प्रदेशों के जीवन में प्रकट हुई होंगी और हैं। कुछ तो जीवन की परिस्थितियों ने इन्हें पैदा किया, और कुछ विदेशी प्रभावों से इन्हें प्रोत्साहन मिला। इन के साथ ही भारतीय सिनेमा और रेडियो का प्रभाव भी अपना महत्त्व रखता है। साहित्य प्रकारों के अध्ययन में इन विकृतियों का उल्लेख फिर होगा।

साहित्यिक कृतित्व

इस साधारण पृष्ठभूमि पर हम समकालीन साहित्यिक कृतित्व का विवेचन कर सकते हैं। विधाओं के अध्ययन में भी कविता को प्रथम न रख कर एक दूसरी विधा, उपन्यास को लिया जाये। इस लिए नहीं कि उस में हिन्दी ने अपेक्षया बड़ा कृतित्व दिखाया है, वरन् इस लिए कि हिन्दी लेखन की पहुँच जितनी भी रही—ऊर्ध्व या समतल—और उस की जो मर्यादाएँ रहीं, उन की छाप उपन्यास पर बहुत स्पष्ट है। कविता की तुलना में उपन्यास से सामाजिक परिवृत्ति के प्रभाव का अधिक विस्तृत और स्पष्ट परिदर्शन अपेक्षित भी होना चाहिए।

प्रेमचन्द हिन्दी के पहले आधुनिक उपन्यासकार थे। आधुनिक इस अर्थ में कि उन्हें समकालीनता का, अपने समवर्ती जीवन की अन्त:शक्तियों का जीवित बोध रहा। इस दृष्टि से वह अपने पूर्ववर्ती साहित्य से एक बहुत ऊँची सीढ़ी आगे थे; और उन के द्वारा यह नयी शक्ति और दृष्टि पा कर उपन्यास फिर पुराने आख्यानों की ओर नहीं लौटा, न लौट सकता था। और भी उपन्यासों में समवर्ती सामाजिक जीवन के चित्र रहे, किन्तु प्रेमचन्द-सी प्रखर सच्चाई और दृष्टि किसी में हुती थी। यह नहीं कि प्रेमचन्द के उपन्यासों में दोष नहीं थे। उन की दृष्टि भी किसी हद तक एकपक्षीय थी। निम्न-वर्गीय पात्रों का उन का चित्रण खरा और सच्चा है, मगर मध्यवर्ग के पात्रों का चित्रण सतही और अविश्वास्य। इस में वह किसी हद तक अपनी परिवृत्ति की सीमाओं से बद्ध थे, यद्यपि उन की दृष्टि स्वस्थ थी। उन के उपन्यासों का दोष अनुभव की सीमा का दोष है, सङ्कुचित सहानुभूति या उदारता की कमी से उत्पन्न होने वाला नहीं। इस के विपरीत कई-एक अन्य समकालीन उपन्यासकार, जिन में सामाजिक चेतना तो रही और सामाजिक समस्याओं का सामना करने का दावा भी रहा, प्रेमचन्द की भाँति उदार नहीं हुए। उन की दृष्टि इच्छापूर्वक सङ्कुचित की गयी दृष्टि थी—वे यथार्थदर्शी होने का दावा करते थे किन्तु उन का यथार्थ एक खंडित यथार्थ था, जिसे वे खंडश: ही देखना चाहते थे। यों कहें कि वे एक सैद्धान्तिक ढाँचा लेकर लिखना आरम्भ कर देते थे, और यथार्थ के उन खंडों को नहीं देखना चाहते थे जो उस ढाँचे में नहीं बैठते थे। जीवन को 'अविचल दृष्टि से और सम्पूर्ण' देखना वे नहीं चाहते थे। प्रेमचन्द का मानववाद पूरे जीवन को देखना चाहता था, देख कर उसे अपनी सहानुभूति देता था और सहानुभूति के माध्यम से सिद्धान्तों को पकड़ता था। दूसरी ओर प्रगतिवादी लेखक सिद्धान्त से आरम्भ करता, उसी से एक प्रकार के मानववाद को सिद्ध करता था और उस वाद के दबाव के कारण मानव से सहानुभूति का सम्बन्ध जोड़ना चाहता था। किन्तु रागात्मक सम्बन्ध तर्क के सहारे नहीं जुड़ सकता, इस लिए हम पाते हैं कि प्रगतिवादी लेखक का रागात्मक सम्बन्ध मानव से नहीं, केवल अपने सिद्धान्त से ही रह जाता था, और वह कट्टर मताग्रही हो जाता था। प्रेमचन्द जानते थे कि जन्म, कर्म या घटना-चक्र से किसी वर्ग के हितों से सम्बद्ध हो जाना सामाजिक जीवन की एक घटना अथवा वास्तविकता है, किन्तु मानव होना उस के जीवन की ही बुनियादी वास्तविकता है—और उसी बुनियादी वास्तविकता के नाते मानव मात्र सहानुभूति का पात्र है। समाज के वर्ग-विभाजन और उस से उत्पन्न होने वाले उत्पीड़न और शोषण को मानव जीवन के एक अंग या व्याधि के रूप में ही देखना होगा। कह सकते हैं कि प्रेमचन्द सामाजिक आदर्शवादी थे। आज किसी को आदर्शवादी कहना एक प्रकार की गाली ही है, और 'प्रेमाश्रम' के आदर्श समाज का हवाला देकर प्रेमचन्द के आदर्शवाद को काल्पनिक और असार

सिद्ध किया ही जा सकता है। लेकिन एक लेखक की समाज-परिकल्पना की अपर्याप्तता से ही यह सिद्ध नहीं होता कि उस के आदर्श में प्राण-शक्ति नहीं है, या कि उस के आदर्शवाद में रचनात्मक सम्भावनाएँ बिलकुल नहीं हैं। एक दूसरे क्षेत्र से उदाहरण लें तो हम कह सकते हैं कि गांधीजी की भावी राम-राज्य की कल्पना असार थी; लेकिन उन के आदर्शवाद में रचनात्मक शक्ति बिलकुल नहीं रही, ऐसा कोई दुराग्रही ही कह सकता है। परवर्ती उपन्यासों की अपेक्षा प्रेमचन्द के उपन्यासों में रचनात्मक प्रभाव की सम्भावना अधिक रही क्यों कि प्रेमचन्द का आदर्शवाद मानवता में आसक्ति रखता था, और वह आसक्ति रचनात्मक प्रणालियों में बाँधी जा सकती थी।

इन व्यापक प्रतिपत्तियों का स्पष्टीकरण करने के लिए समकालीन उपन्यास-साहित्य की विस्तृत समीक्षा अपेक्षित है जिस का यहाँ स्थान नहीं। परवर्ती उपन्यास क्षेत्र से कुछ उदाहरण ले कर ही समकालीन प्रवृत्तियाँ समझी जा सकती हैं और देखा जा सकता है कि कैसे 'टेक्नीक' के विकास के साथ-साथ लेखक की दृष्टि कुछ सकुंचित ही होती गयी है। सामाजिक वस्तु से सम्बन्ध रखने वाले उपन्यासों में जैनेन्द्र कुमार के 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी', भगवतीचरण वर्मा के 'टेढ़े मेढ़े रास्ते', उपेन्द्रनाथ अश्क के 'गिरती दीवारें', इलाचन्द्र जोशी के 'सन्यासी', 'प्रेत और छाया' तथा 'निर्वासित', यशपाल के 'देशद्रोही', रांगेय राघव के 'घरौंदे', रामचन्द्र तिवारी के 'सागर, सरिता और अकाल' तथा अमृतलाल नागर के 'महाकाल' का उल्लेख किया जा सकता है। अज्ञेय का 'शेखर' भी उल्लेख्य होता, अगर 'अज्ञेय' से इस लेखक का घनिष्ट सम्बन्ध न होता और अगर सामाजिक वस्तु के रहते हुए भी 'शेखर' प्रधानतया एक व्यक्ति-चित्र न होता—जैसा कि जैनेन्द्रकुमार का 'त्याग-पत्र' भी है। इन दोनों उपन्यासों का हिन्दी उपन्यास के टेकनीक के विकास के लिए अध्ययन करना उपयोगी हो सकता है, क्योंकि और उपन्यासों से ये दोनों वस्तु-संगठन और वर्णन की दृष्टि से बिलकुल भिन्न हैं।

उपन्यासों के नाम केवल उदाहरण के रूप में लिये गये हैं जो उपन्यास छूट गये हैं उनकी अवज्ञा करना अभीष्ट नहीं है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उस का आशय यह नहीं समझना चाहिए कि हिन्दी उपन्यास ने कोई उन्नति नहीं की या कि उस का उपन्यास-साहित्य नगण्य है। यहाँ पर केवल सामाजिक पृष्ठभूमि की कसौटी पर हिन्दी उपन्यास को परखना हमें अभीष्ट है, और उस दृष्टि से मानना पड़ता है कि हिन्दी का उपन्यासकार अभी तक उतनी विशाल दृष्टि नहीं पा सका है कि समूची सामाजिक परिवृत्ति को एक साथ देख कर उस के अन्दर प्रवहमान सामाजिक शक्तियों और प्रवृत्तियों को यथातथ्य चित्रित कर सके। हिन्दी भाषा और साहित्य जिस प्रकार समूचे भारत की परिवृत्ति को प्रतिबिम्बित करता रहा है, समकालीन हिन्दी उपन्यास वैसा अभी

नहीं कर रहा है। यों अन्य क्षेत्रों में हिन्दी ने कई-एक उल्लेखनीय उपन्यास प्रस्तुत किये हैं और अन्य भाषाओं की तुलना में वह ऊनी नहीं बैठेगी। युग-चित्रों में—जिन्हें वास्तव में ऐतिहासिक उपन्यास नहीं कहना चाहिए—राहुल सांकृत्यायन के उपन्यास और हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'बाणभट्ट की आत्मकथा' महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। दोनों ने प्रचुर ऐतिहासिकसामग्री का उपयोग किया है और दोनों की रचनाओं में लेखक का ज्ञान और पांडित्य प्रमाणित होता है। हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यास में ऐतिहासिक सत्य अधिक है, क्योंकि उन्होंने अपने पूर्वग्रहों और राजनीतिक किंवा अन्य मतवादों का आरोप वर्णित काल के विचारों अथवा मनोवृत्तियों पर नहीं किया। राहुलजी ने ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग आधुनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए किया, जिस से उन का उपन्यास तत्कालीन विचार अथवा समाज-स्थिति का चित्र नहीं रहा। हजारीप्रसादजी के उपन्यास में भावनाओं की तीव्रता और वस्तु-संगठन की परिपक्वता एक पहले उपन्यास के लिए आश्चर्य जनक है।

आधुनिक साहित्य-प्रवृत्तियों का अध्ययन भारतेन्दु से ही आरम्भ होता है, यह कहा जा चुका है। भारतेन्दु-युग की सर्वतोमुखी सांस्कृतिक-साहित्यिक जागृति से आरम्भ विकास-परम्परा में महावीरप्रसाद द्विवेदी के समय में खड़ी बोली की कविता ने एक स्पष्ट रूप लिया। यह (सापेक्ष) परिपक्वता—उन विभिन्न प्रयोगों और अन्वेषणों का ही फल था जो भारतेन्दु से आरम्भ हुए थे, और जिन के पीछे उन विविध प्रकारों की प्रेरणाएँ थीं जिन्हें पुनरुत्थान या पुनर्जागरण का व्यापक नाम दिया जाता है। हम कह सकते हैं कि महावीरप्रसाद द्विवेदी से पहले हिन्दी में अनेक बोलियों की कविता थी पर उन के समय से खड़ी बोली की कविता ही हिन्दी कविता हो गयी। इस के बाद भी भाषा के रूप के निखार में समय लगना आवश्यक था, भाषा-मार्जन का यह काम महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा कुछ और समकालीनों ने बड़ी निष्ठापूर्वक किया। हमारी पीढ़ी का ध्वनि और नाद-सौन्दर्य की चर्चा करने वाला हिन्दी लेखक भी भाषा के रूप के बारे में कदाचित् उतना सतर्क नहीं है जितना ये प्रारम्भिक लेखक और उन के द्वारा शिक्षित-दीक्षित हिन्दी कवि रहे। आज जो लोग उस काल की कविता को इतिवृत्तात्मक या उपदेशात्मक कह कर उस की अवहेलना करते हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि स्कूल-मास्टर का स्कूल-मास्टरी करना ही स्वाभाविक है, और इस में उस की हार नहीं, सफलता है। भाषा का रूप सँवर चुकने के बाद ही पन्त या 'निराला' का आविर्भाव सम्भव था, जिन्हों ने बाह्य रूप को अन्तःसौन्दर्य का प्रतिबिम्ब मान कर भाषा को आत्मा का नया संस्कार देना चाहा। यह सहज विकास का क्रम था। 'निराला' के तेजस्वी स्वर ने यद्यपि 'छन्द के बन्ध' तोड़ने का संकल्प घोषित किया, तथापि यह चुनौती उतनी क्रान्तिकारी नहीं थी, क्योंकि भाषा का विकास उस बिन्दु पर पहुँच ही गया

या जहाँ कवि भाषा को एक परिष्कृत वाह्य आकार के रूप मे ग्रहण कर के उस मे नये प्राण भरना चाहे।

पन्त और 'निराला' दोनो मे सूक्ष्म शब्द-चेतना थी। उन की कविता ने और कविता-सम्बन्धी वक्तव्यों ने भाषा को एक नया सौन्दर्य और गहराई दी, और वाचक को नया बोध और सस्कार। अनन्तर पन्त शब्द-चेतना और ध्वनि के प्रयोगों से आगे बढ कर एक शान्त और लगभग निर्वेद चिन्तन के स्थन पर पहुँच गये जहाँ शब्द-सौन्दर्य केवल आनुषगिक रह गया। 'निराला' बराबर ही अन्वेषक और आविष्कारक रहे, जब तक कि उन के दीर्घ और निरवधि एकाकीपन ने उन के व्यक्तित्व को विघटित करना आरम्भ नही कर दिया। यह एक मिथ्या प्रचार और 'निराला' के विशाल व्यक्तित्व पर लाछन है कि आर्थिक क्लेशो ने और विपन्नता ने उन्हें तोड़ दिया। उन्हो ने नि सन्देह बहुत क्लेश सहा होगा लेकिन यह मानना कठिन है कि उन का प्रतिभाशाली व्यक्तित्व उसी से हार गया। प्रतिभा की अपनी व्याधियाँ होती है, जो आर्थिक क्लेशो से प्रभावित भले ही हो सकती हो पर मूलत उन से उत्पन्न नही होती। विशुद्ध आर्थिक आधार पर 'निराला' के व्यक्तित्व-विकास और उन के कृतित्व का अध्ययन फलप्रद नही हो सकता। उन्हें समझने के लिए कही विशालतर सामाजिक पृष्ठभूमि और मानसिक प्रक्रियाओ का गहरा और विस्तृत अन्वेषण अपेक्षित है।

हिन्दी काव्य-विकास मे भाषा की दृष्टि से भी और सामाजिक प्रभाव (सिग्निफिकैन्स) की दृष्टि से पन्त और 'निराला', 'प्रसाद' अथवा महादेवी वर्मा से अधिक महत्वशाली हैं। 'प्रसाद' साधारणतया पुनरुत्थानवादी थे। यद्यपि उन की रचनाओ मे—विशेषकर काव्यतर रचनाओ मे—पुनरुत्थान के अलावा अन्य प्रवृत्तियाँ भी लक्षित होती हैं और 'ककाल' अथवा 'तितली' मे एक अटपटे यथार्थवाद के सकेत है तथापि कहा जा सकता है कि हिन्दी काव्य की परम्परा मे उन्हो ने अपना एक स्थान ले लिया—जिसे अपनी-अपनी रुचि के अनुसार ऊँचा या कम ऊँचा माना जा सकता है—पर उस परम्परा को किसी नयी दिशा मे नही मोड़ा। 'प्रसाद' और महादेवी अपने काल की प्रवृत्तियो का औरो से कहीं अच्छा प्रतिबिम्बन करते हैं, किन्तु उन प्रवृत्तियो को रूप देने मे इन की व्यक्तिगत देन उतनी बड़ी नही है। वे छायावाद का प्रतिनिधित्व करते हैं, इस लिए कि उन मे छायावाद बोला है—वह छायावाद जो कि एक सामाजिक परिवृत्ति मे और नैतिक सामाजिक प्रतिमानों की एक विशेष अवस्था मे सारे सास्कृतिक जीवन मे प्रकट हुआ। पन्त और 'निराला' उस का उतना सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व कदाचित् नही करते, किन्तु उन की व्यक्तिगत देन अपेक्षाकृत बड़ी है और उन के दिये हुए सस्कार परवर्ती कविता को छायावाद मे निकाल कर आगे भी बढा सके हैं। इस अन्तर के कारण ही महादेवी के काव्य मे एक स्थितिशीलता और परिवर्तनहीनता है जब कि पन्त और

'निराला' के काव्य में बहुत विकास और परिवर्तन हुआ है और एक रोचक विविधता पायी जाती है—विशेषतया 'निराला' में।

हमारे आलोच्य समूचे काल पर विभिन्न पीढ़ियों की विभिन्न प्रवृत्तियों को समान भाव से उलांघते हुए छा जाने वाले श्री मैथिलीशरण गुप्त का नाम अभी तक नहीं लिया गया है। उस का कारण है। सामाजिक प्रवृत्तियों के अध्ययन में उन्हें स्थान दे देना अपेक्षया कठिन है। क्योंकि वह उन प्रवृत्तियों को उतना स्पष्ट प्रतिबिम्बित नहीं करते और न मानते ही थे कि काव्य केवल समाज-प्रतिबिम्ब है जिस में साधना से कोई अन्तर नहीं पड़ता। यों तो यह कहा जा सकता है कि साधना के भी रूप बदलते रहते हैं और वह भी केवल युग-प्रतिबिम्ब है। काव्य की पारम्परिक, व्यक्ति-निरपेक्ष परिभाषा को समकालीन कवि ने फिर से ध्यान देने के योग्य सिद्ध किया तो मैथिलीशरण गुप्त ने। गुप्तजी यद्यपि काव्य सम्बन्धी विवादों में कभी नहीं पड़े, तथापि उन के काव्य से दीखता है—और व्यक्तिगत विचार विनिमय भी इस अनुमान को पुष्ट करता है—कि कवि व्यक्ति और काव्य के सम्बन्ध को वह उस प्रकार नहीं देखते थे जिस प्रकार कि व्यक्तिवादी कवि या आलोचक देखता है—या कि दूसरे छोर पर जनवादी आलोचक देखता है। और यह मानना होगा कि उनके काव्य के प्रमाण की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

नयी काव्य-रचना और उस की सामाजिक पृष्ठभूमि के सम्बन्ध का अध्ययन एक तो उस सीधे सहज वर्ग विभाजन के आधार पर किया जा सकता जो 'सहयोद्धा' और 'शत्रु' नाम की दो ही कोटियाँ जानता है। सोफ़िया का पुस्तकालय अतीत में एक बार ही जलाया गया था और फिर नहीं जलाया जा सकता, ऐसे विश्वास के लिए वर्तमान राजनैतिक दल-संगठन कोई पुष्ट आधार नहीं देता! (उस दिन प्रश्न यह था कि पुस्तकालय में भरे हुए ग्रन्थ या तो कुरान के समर्थक हैं, इस लिए अनावश्यक हैं या विरोधी हैं इस लिए कुफ़ हैं, आज विकास हुआ है तो इतना कि हम समर्थक को बिलकुल अनावश्यक न मानें मगर नियन्त्रित करके रखें। इस हद तक हम अपने को अग्रसर कह सकते हैं!)

सौभाग्यवश सब आलोचक इस एक श्रेणी के नहीं रहे—यद्यपि इस श्रेणी के आलोचक अपेक्षया अधिक मुखर रहे। किन्तु इन का कुछ अनुकूल प्रभाव भी पड़ा।

हमारी पीढ़ी के कवि एक ऐसे स्थल पर पहुँच गये थे जहाँ उन्हें अपनी पिछली समूची परम्परा का अवलोकन कर के आत्माभिव्यक्ति के नये प्रकार खोजने की आवश्यकता प्रतीत हो रही थी। यों तो हर काल में कवि अपने माध्यम में कुछ वृद्धि करता रहता है; और उक्ति में नया चमत्कार लाता रहता है, क्योंकि प्रत्येक चमत्कारिक उक्ति परिचित हो कर चमत्कार-विहीन हो जाती है, रूपक

और उपमाएँ घिस कर साधारण अभिधा बन जाती हैं। भाषा के विकास का यह सहज क्रम है—प्रत्येक भाषा का शब्द-कोष मरे हुए रूपकों का भण्डार है। किन्तु हमारे युग मे रूपकों के जीर्ण होने की यह क्रिया विशेष तेजी से हुई, और साथ ही भारी सामाजिक परिवर्तनों के साथ काव्य की वस्तु मे असाधारण विस्तार आया। कवि ने नये सत्य देखे—नये व्यक्ति-सत्य भी और सामाजिक सत्य भी—और उन को कहने के लिए उसे भाषा को नये अर्थ देने की आवश्यकता हुई। आवश्यकता काव्य-क्षेत्र मे भी प्रयोग की जननी है, और जिन-जिन कवियों ने अनुभूति के नये सत्यो की अभिव्यक्ति करनी चाही सभी ने नये प्रयोग किये। ये प्रयोग अनेक दिशाओ मे हुए। कुछ प्रयोग असफल भी हुए। हिन्दी काव्य के उन पाठको की, जो अंग्रेजी या यूरोपीय साहित्य पढ़ते हैं और उन के प्रतिमानों से हिन्दी काव्य का परीक्षण करते हैं, प्राय धारणा रहती है कि हिन्दी के सब प्रयोग केवल नकल है, और बहुधा ऐसे प्रयोगों की नकल जो विदेशी साहित्यो मे असफल मान कर छोड भी दिये गये हैं। यह किसी हद तक सच भी हो सकता है, किन्तु किसी प्रयोग का एक भाषा में पहले किया जा चुकना, दूसरी भाषा के लिए उस के मूल्य का अन्तिम निर्णय नही कर देता। दूसरी भाषा जब तक स्वतन्त्र रूप से विकास के उस बिन्दु तक न पहुंचे जहां पर वह प्रयोग उस के लिए सार्थक हो सके, तब तक उस प्रयोग की उपयोगिता या अनुपयोगिता पर वह भाषा कोई अन्तिम निर्णय नही कर सकती। यो दूसरों के प्रयोगो से हम लाभ उठा सकते हैं, और हिन्दी ने भी उठाया है। रैंम्बो या मेलार्मे के शब्द-सकेतों के प्रयोग फ्रांसीसी भाषा मे फिर कभी नही होगे, न ही फ्रांसीसी कवि फिर वैलेरी के साथ ध्वनियों का आध्यात्मिक अर्थ खोजेगा। किन्तु हिन्दी अगर प्रतीकों और ध्वनियों का अन्वेषण करती है तो वह न पिष्ट-पेषण है, न समय नष्ट करना, क्योंकि फ्रांसीसी ने अपने साहित्य मे जिस सत्य को पा लिया, उसी सत्य को आत्म-सात् करने के लिए हिन्दी के—या किसी भी दूसरी भाषा के—पास कोई 'छोटा रास्ता' नही है। हमें सुविधा है तो इतनी, कि दूसरों का एक अनुभव हमारे सामने है जिस के सहारे हम स्वय अपने अनुभव की परीक्षा कर सकें। साहित्य का सत्य अगर निरपेक्ष नही होता, तो वह केवल वस्तु-सापेक्ष या समाज-सापेक्ष नही, भाषा-सापेक्ष और काल-सापेक्ष भी होता है; और काल केवल सवत्सरो से नही बल्कि विकास की अवस्थाओं से भी मापा जाता है।

हिन्दी के काव्य-प्रयोगो ने कविता को कुछ गूढ़, दुर्बोध और दीक्षा-गम्य तो बनाया ही, इसे गुण कोई नही कहेगा। पर बिना उस दुर्बोधता के कारण देखे ही दमेलने करार देना भी अन्याय होगा। कवि जब अपना सत्य दूसरे पर प्रकट करता है एक है, तब अनिवार्यतः यह मानता है कि वह सत्य जितने अधिक व्यक्तियों का विषय है। हो, उतना ही काव्य सफल है। इसी लिए कविता को भाषा के लिए

भाषा सर्वदा आदर्श के रूप में रहती है और रहनी चाहिए, पर साथ ही वह आदर्श पहुँच से कुछ बाहर ही रहता है। कविता को बहुजन-संवेद्य बनाने का यह कर्तव्य स्वीकार करता हुआ भी कवि अगर उस में सम्पूर्ण सफल नहीं हो पाता, तो उस के कारण अन्वेषणीय होते हैं। दुर्बोधता हमारे ही काल की, या हमारे काल के कुछ कवियों की विशेषता है, ऐसा नहीं है। वेदों में भी अस्पष्टता और दुर्बोधता है और सांकेतिक शब्द हैं, यद्यपि वैदिक आर्य आज की वर्जनाओं से बँधे नहीं थे और खासे मुँहफट लोग थे। सिद्धों की भाषा में भी 'सन्ध्या भाषा' के प्रयोग कम न थे। विदेशों में दीक्षा-गम्य काव्य की परम्पराएँ हैं। यही कहा जा सकता है कि जब-जब कवि की दृष्टि का विकास हुआ है, उसने नया विस्तार या नयी गहराई देखी है, तब-तब उस की भाषा दुर्बोध और दीक्षा-गम्य हुई है। कवि की समस्या को इस रूप में देखें कि क्या वह उतना ही सत्य कहे जितना सब समझें, या उस सत्य को भी कहे जिसे कुछ समझें, तो उस के द्विधा से सहानुभूति की जा सकेगी। समकालीन कविता की दुर्बोधता में भी यह बात ध्यान में रखनी चाहिए। निस्सन्देह इस तर्क में खतरा है और इस की आड़ में अनेक दाम्भिकों को शरण मिल सकती है, लेकिन खतरा कहाँ नहीं है?

नये सत्य को संवेद्य बनाने के प्रयोगों की यह एक दिशा थी। एक दूसरी दिशा थी लोक-गीतों और लोक-कला के अध्ययन द्वारा काव्य-रचना को ऐसा संस्कार देने की जिस से कि वह नये सत्य को लोक-संवेद्य बना सके। लोक-संस्कृति की ओर झुकाव की चर्चा मैंने पहले भी की है, यहाँ उस के एक विशिष्ट पहलू की ओर ही संकेत है। जनवादी प्रवृत्ति ने इस क्षेत्र में उपयोगी काम किया, और उस का प्रभाव मूल्यवान सिद्ध हुआ, क्योंकि वह प्रभाव उस सीमित राजनैतिक लक्ष्य का अतिक्रम करता था जिस के लिए वह साधा गया। यह लोकोन्मुख झुकाव उपर्युक्त दूसरी प्रवृत्ति का शोधक और पोषक हुआ, और एक हद तक सैद्धान्तिक जनवाद को भी उसने गहराई, उदारता और सहिष्णुता की ओर प्रेरित किया। काव्य सामाजिक असन्तोष और क्रान्ति-चेष्टा का साधन बन सकता है, लेकिन सीधे-सीधे तलवार के रूप में नहीं, तलवार के आध्यात्मिक पर्याय के रूप में ही। किसी आततायी की कहानी पढ़ी थी जिसने अपने बन्दी को तलवार दिखा कर कहा था, "जानते हो, मैं तुम्हारी जान ले सकता हूँ?" बन्दी ने उत्तर दिया था, "और तुम जानते हो, मैं जान दे कर तुम्हारी अवज्ञा कर सकता हूँ?" काव्य यही उत्तर दे सकता है। 'मैं तुम्हारी जान ले सकता हूँ' के उत्तर में 'मैं भी तुम्हारी जान ले सकता हूँ,' यह कथन काव्य का—साहित्य का—नहीं हो सकता।

साहित्य की इन दो मुख्य विधाओं के बाद तीसरी विधा नाटक की हो सकती, पर रंगमंच के अभाव में नाटक-रचना में एक अवास्तविकता रहती ही है; और हिन्दी नाटकों की विवेचना में शायद ऊपर की स्थापनाओं में विशेष परिवर्तन न

होता। 'प्रसाद' के नाटकों में या पौराणिक आधार लेकर रचे गये अन्य नाटकों में टेकनीक की जो त्रुटियाँ रहीं उन का एक प्रधान कारण रंगमंच का अभाव और नाटककार के व्यावहारिक अनुभव की कमी ही थी। वस्तु की दृष्टि से भी इन नाटकों में सांस्कृतिक प्रत्यावलोकन की भावना ही मुख्य रही। परवर्ती कुछ नाटकों में सामाजिक वस्तु ली गयी और टेकनीक भी माँज गया, पर यह वस्तु भी प्रत्यक्ष सामाजिक अनुभव का परिणाम उतनी नहीं थी जितना अंग्रेजी नाटकों के अध्ययन का परिणाम। सामाजिक समस्याओं का निजी अनुभव और उन पर (यद्यपि एक सीमित दृष्टि से ही) गम्भीर चिन्तन लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में दीखा, एक दूसरे स्तर पर सामाजिक सम्बन्धों का चित्रण सेठ गोविन्ददास के अथवा उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के नाटकों में लक्षित हुआ।

जन-सम्पर्क के आग्रह से कुछ एकांकी और छोटे-छोटे प्रहसन आदि भी लिखे गये, इन में से कई रंगमंच पर आने का सौभाग्य भी पा सके। रेडियो की माँग ने 'रेडियो नाटक' अथवा 'ध्वनि नाट्य' के एक नये काव्य-प्रकार को जन्म दिया। नाटक दृश्य काव्य है; लेकिन रेडियो नाटक श्रव्य ही हो सकता है और उस में नाटकीय संघर्ष की तीव्रता शब्द अथवा ध्वनि के द्वारा ही प्रकट की जा सकती है। हिन्दी में यह नाट्य-प्रकार अभी अधिक विकसित नहीं हुआ है। हमारे नाटककार अभी तक नये टेकनीक की अनिवार्यता को पूरी तरह स्वीकार नहीं कर सके हैं।

रेडियो का प्रतिकूल प्रभाव केवल नाटक पर ही नहीं, समूचे सांस्कृतिक और साहित्यिक जीवन पर पड़ा है। रेडियो सामाजिक पृष्ठभूमि का एक महत्त्वपूर्ण अंग है और सामाजिक विकास की धाराओं को न केवल प्रभावित करता है वरन् उन्हें दिशा देने में निर्णायक भी हो सकता है। किन्तु व्यवहारतः वह हमारे सांस्कृतिक शिक्षण और रुचि-संस्कार का माध्यम न बन कर विकृतियों के प्रचार और प्रसार का ही माध्यम अधिक रहा है। रेडियो के समर्थन में इतना कहा जा सकता है कि वह हमारे चित्रपट से गया-बीता तो नहीं है। लेकिन सिनेमा एक व्यवसाय है जिस पर पूँजी हावी है और जो इस लिए अर्थ-लोलुपता के दुष्परिणामों का शिकार है; जब कि रेडियो सार्वजनिक धन पर पलने वाला सरकारी विभाग है और सार्वजनिक सेवा के संगठन में मुख्य गिना जाता है।

प्रकाशन का व्यवसाय भी सामाजिक परिस्थिति का एक तथ्य है, और उस के प्रभावों का अध्ययन भी अत्यन्त शिक्षाप्रद होगा। हिन्दी का क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण हो गया है, पर इस के बावजूद हिन्दी के साहित्यकार की स्थिति सुधरने के लक्षण नहीं दीखते—जिस प्रकार गन्ने की पैदावार बढ़ जाने से हम-आपको चीनी मिलने की सम्भावना बढ़ती नहीं दीखती। किन्तु प्रकाशन की समस्याओं का, और एक सामाजिक शक्ति के रूप में प्रकाशन के प्रभाव का अध्ययन एक स्वतन्त्र विषय है।

खड़ी बोली की कविता : पृष्ठभूमि

समकालीन साहित्य प्रवृत्तियों का निरूपण और मूल्यांकन किसी भी देश या काल में एक दुस्तर कार्य होता है। हमारे आज के युग में तो यह कार्य और भी कठिन है, क्योंकि समकालीन जीवन की प्रगति इतनी द्रुत, उलझी हुई और जटिल है कि उस के विकास की दिशा पहचानना उस की प्रवृत्ति के सूत्र पकड़ना एक अन्तर्द्रष्टा का काम हो गया है। और अन्तर्द्रष्टा का सहज-बोध स्वभावतः ऐसी वस्तु है कि उसे हम तत्काल स्वीकार नहीं कर पाते, काल की कसौटी पर ही उस की परख होती है और कालान्तर में ही हम उस की प्रामाणिकता पहचानते और अंगीकार करते हैं।

ऐसी स्थिति में समकालीन हिन्दी काव्य के बारे में दावे के साथ कुछ कहना जोखिम का ही काम है। किन्तु यदि वादी हो कर कोई बात न कही जाय, अध्येता के रूप में निकट अतीत की प्रवृत्तियों को पहचान कर उन के आधार पर समकालीन कृतित्व के और सम्भाव्य प्रगति के बारे में कुछ अनुमान किया जाय, तो उसे निराधार कल्पना न कहा जा सकेगा, और समकालीन कृति-साहित्य के अध्ययन में उस से कदाचित् कुछ प्रकाश भी मिल सकेगा।

हिन्दी काव्य के इतिहास की परम्परा में जो विभिन्न आन्दोलन आये उन्हें ध्यान में रखते हुए, उन्नीसवीं शती में खड़ी बोली और उस के काव्य-साहित्य के नवजागरण के विषय में कोई एक साधारण स्थापना करनी हो तो यही बात सब से अधिक युक्तिसंगत और अभिप्रायपूर्ण होगी कि खड़ी बोली का अभ्युत्थान साहित्य में लौकिकता की प्रतिष्ठा और स्वीकृति का पर्याय था। निस्सन्देह रीतिकाल के साहित्य में भी एक प्रकार की लौकिकता थी, और उत्तर रीतिकाल की अतिरंजित शृंगारिकता में ऐन्द्रिय उत्तेजना के उपकरणों से आगे किसी गम्भीर आध्यात्मिक अभिप्राय की खोज पाठक की विश्वास क्षमता पर जोर डालती है, तथापि राजा के मनोरंजन की सामग्री प्रस्तुत करने वाला कवि भी उस प्राचीन परम्परा का ही निर्वाह करता था जिस के अनुसार राजा में देवता का अंश होता है - राजभक्ति भी धर्मभक्ति का और इस प्रकार भगवद्भक्ति का एक अंग होती है। हिन्दी काव्य की परम्परा में उस समय तक धर्म-भावना प्रधान रही; मुस्लिम काल में

जितने साहित्यिक आन्दोलन और उत्थान हुए सब की मूल प्रेरणा भी धार्मिक ही रही। उन्नीसवीं शती में जिस साहित्यिक उन्मेष का आरम्भ हुआ, वही पहले-पहल इस का अपवाद हुआ : उस की मूल प्रेरणाएँ धार्मिक न हो कर लौकिक रहीं और उन में व्याप्त लोक-चेतना न केवल बनी रही वरन् क्रमशः और भी स्पष्ट और व्यापक होती गयी। जिस सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति में इस लौकिकता का उदय हुआ, उस के सन्दर्भ में ही इस का आविर्भाव और विकास ठीक-ठीक समझा जा सकता है।

खड़ी बोली का उत्थान उस समय आरम्भ हुआ जब कि भारत की केन्द्रीय सत्ता तो विघटित हो ही चुकी थी, उस के उत्तराधिकारी विभिन्न मुस्लिम राज्य भी हीन और निःसत्त्व थे और देशी रजवाड़े तथा सामन्ती शासन भी जीर्णावस्था को प्राप्त हो चुके थे। समाज दलित, निर्धन और असन्तुष्ट था। इस प्रकार समाज के भीतर विरोध और संघर्ष के लिए भूमि तैयार थी। किन्तु इन सोयी हुई सामाजिक शक्तियों को जगाने और धार देने के लिए जिस आध्यात्मिक प्रेरणा की आवश्यकता थी उस का अभाव था। वह प्रेरणा उसे पश्चिमी विचार-दर्शन के बौद्धिक और भाविक धक्के से मिली। लम्बी किन्तु ह्रासशील सांस्कृतिक परम्परा वाली एक वृद्ध, विशृंखल, वर्तमान दैन्य और भविष्यत् अनिश्चय के कारण अतीतोन्मुख जर्जर जाति को, एक मिश्र संस्कृति और तरुण परम्परा वाली किन्तु समृद्ध और समर्थ जाति की आत्म-विश्वास-भरी भविष्योन्मुखता ने उस का सच्चा रूप उघाड़ कर दिखा दिया। इस मार्मिक आघात से भारतीय समाज तिलमिला उठा, साथ ही उसे एक नयी दृष्टि मिली, अपने ही सम्बन्ध में उस में एक नया और तीव्र जिज्ञासा-भाव उत्पन्न हुआ। यह जिज्ञासा भी लौकिक थी और इस के उत्तर भी लौकिक ही हो सकते थे।

पश्चिम के सम्पर्क से जो बहुविध प्रमन्थन आरम्भ हुआ उस से भारतीय समाज बड़ी तेज़ी से बदलने लगा। सामाजिक क्षेत्र में विचारों के इस समीर ने नयी केन्द्रोन्मुख प्रवृत्तियों को उकसाया : विशृंखल और विभाजित समाज को पुनः संगठित करने की भावना एकाधिक सामाजिक आन्दोलनों में प्रकट हुई। आर्य-समाज और ब्राह्म-समाज दोनों उभय-क्षेत्रीय आन्दोलन थे, उन का धार्मिक पक्ष भी नगण्य नहीं था पर विशेष महत्त्व उन की सामाजिक भावना का ही था। उन का धार्मिक आग्रह (यह बात ब्राह्म-समाज की अपेक्षा आर्य-समाज के विषय में और अधिक सच है) सुधार द्वारा आत्मरक्षा का था, उन का सामाजिक आग्रह एक स्वस्थतर संगठन का। दोनों ही क्षेत्रों में रूढ़ि-भार से मुक्ति का प्रयत्न था।

राजनैतिक-आर्थिक क्षेत्र में इस समीर ने इतिहास के नये बोध की प्रवृत्ति दी : विदेशीय सम्पर्क और प्रभाव का एक नया रूप हमारे सम्मुख आया। सामन्तों-रजवाड़ों के सन्धि-विग्रहों और गठबन्धनों से ऊपर उठ कर हम यह स्पष्ट देखने

लगे कि नयी विदेशी सत्ता राजनैतिक और आर्थिक शोषण का यन्त्र है, और हिन्दू-मुस्लिम सभी समान रूप से उस के शोषित और शोष्य हैं। ('सूरन साहेब लोग जो खाता सारा हिन्द हजम कर जाता', अथवा 'भीतर भीतर सब रस चूसै हँसि-हँसि मैं तन मन धन मूसै . अँगरेज'—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)। भारत लुट रहा है, और भारत का धन विदेशों को चला जा रहा है, इस के तीखे अनुभव ने व्यापक राष्ट्रीयता की भावना को पुष्ट किया।

शिक्षा और मनोविकास के क्षेत्र में इसी समीर ने मानवीय दर्शन की प्रतिष्ठा की। विकासवाद के सिद्धान्त और उस से उद्भूत मानव की श्रेष्ठता के बोध ने एक वैचारिक क्रान्ति सी उपस्थित की, उस के प्रभाव की गहराई और व्यापकता देखते हुए उसे आध्यात्मिक क्रान्ति कहना भी अत्युक्ति न होगा। मानव अभी तक एक देवोन्मुख अकिंचन तत्व था, अब वह सहसा सृष्टि का केन्द्र-बिन्दु बन गया। निस्सन्देह ईश्वरीय सृष्टि का एक अंग होने के नाते भी उस के अधिकार और उत्तरदायित्व निश्चित किये जा सकते थे—धार्मिक आचार और धर्माश्रित नैतिकता में द्विधा या अनिश्चय नहीं था, पर प्राकृतिक सृष्टि का शीर्ष स्थानीय अथवा मानवीय समाज का केन्द्र होने पर उस के सारे प्रतिमान और मूल्य बदल गये और उस के आचार अथवा नैतिकता की कसौटी ईश्वर-निष्ठा न रह कर मानव निष्ठा हो गयी। जिस लौकिकता की चर्चा हम कर रहे हैं, वह वास्तव में 'मूल्यों के पुनर्मूल्यन' का ही पहलू है। मूल्यों अथवा प्रतिमानों और संस्कृतियों का गहरा सम्बन्ध होता है—निश्चित समाज-सम्यता प्रतिमानों पर आधारित सर्वतोमुखी रचनाशील प्रगति ही तो संस्कृति है—पर इस सम्बन्ध में ही यह बात निहित है कि नये प्रतिमान सहसा नहीं बन जाते, वे एक सांस्कृतिक परम्परा माँगते हैं। सांस्कृतिक परम्पराओं का उन्मूलन तो सरल होता है, नयी परम्पराओं का रोपण उतना सुकर नहीं, पुराने मूल्यों का अवमूल्यन आसानी से किया जा सकता है पर नये मूल्यों की प्रतिष्ठा दीर्घकालीन प्रयास माँगती है। लौकिकता का उदय और विकास भी बिना अव्यवस्था के नहीं हुआ। इस काल में समय-समय पर जो नास्तिवादी या नकारात्मक दर्शन सामने आते रहे, वे उस दिग्भ्रम को ही सूचित करते हैं जो देवोन्मुखता से हट कर मानवोन्मुखता तक पहुँचने के संक्रमण-काल में स्वाभाविक था। इस दिग्भ्रम ने और अधिक व्यापक अराजकता का रूप क्यों नहीं लिया, इस के विशद् अध्ययन का यहाँ स्थान नहीं है, यहाँ इतना संकेत यथेष्ट होगा कि अराजकतावादी दर्शनों की धूम इसी काल में रही, पर उन का आदर्शवाद कार्यान्वित न हो सका क्योंकि व्यवहार को अनुशासित करने वाली सामाजिक शक्तियाँ भी इस काल में प्रकट हुईं। इग्लैंड की औद्योगिक क्रान्ति और उस के प्रभावों का अध्ययन तत्कालीन राजनैतिक ही नहीं, सामाजिक और साहित्यिक प्रवृत्तियों को भी समझने के लिए आवश्यक है। यूरोप में राष्ट्रीयतावाद की जो लहर फैली, उस का औद्योगिक

क्रान्ति से गहरा सम्बन्ध था। इस कारण यूरोप में राष्ट्रीयतावाद ने एक आक्रामक रूप लिया जिस का चरम रूप उपनिवेशवाद हुआ। दूसरी ओर औद्योगिक क्रान्ति का इतना ही गहरा सम्बन्ध उस उदार मानवीय दृष्टि से था जिसने मानव-स्वाधीनतावादी अथवा 'लिबरल' दर्शनों को जन्म दिया। इधर के राजनैतिक और सिद्धान्तवादी संघर्षों के कारण हम बहुधा आर्थिक संघर्ष के प्रभावों को ही सर्वोपरि महत्त्व देने की भूल कर जाते हैं। हमें यह न भूलना चाहिए कि मानवी-स्वाधीनता के जो नये मूल्य हमें मिले वे इसी युग की देन हैं। 'मानव स्वतन्त्र है, या हो सकता है', लिबरल दर्शनों को अनुप्राणित करने वाला मूल विश्वास यह था, उस स्वतन्त्रता की परिभाषा और रक्षा-व्यवस्था के बारे में विचार भिन्न हो सकते थे। मानव की स्वतन्त्रता की परिभाषा का विवाद हल हो चुका हो ऐसा नहीं है, पर उस के लिए निरन्तर आन्दोलन और सर्वसत्तावादी प्रवृत्तियों के अतिवाद द्वारा मानव-मात्र के एक नयी मानसिक दासता में बँध जाने की सम्भावना का विरोध करने की शक्ति हमें इसी विश्वास से मिली। कलाकार की स्वाधीनता का आदर्श मानव की स्वाधीनता के आग्रह का एक पहलू था। इस के अपने भी अतिवाद थे, जो आज ऐतिहासिक कौतुक-वस्तु से अधिक महत्त्व नहीं रखते, पर आज के आस्थावान कलाकार की स्वाधीनता अथवा स्वतन्त्र विवेक का आग्रह उन्नीसवीं शती के 'कला के लिए कला' के आन्दोलन से सर्वथा भिन्न है।

तो खड़ी बोली के माध्यम से हिन्दी साहित्य का जो उन्मेष उन्नीसवीं शती के मध्य में आरम्भ हुआ, उस की सब से अधिक उल्लेखनीय विशेषता यह नयी लौकिकता अथवा लौकिक दृष्टि ही है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस प्रवृत्ति को एक घना पुंजित, आत्म-चेतन और सोद्देश्य रूप दिया। ह्रासशील दरबारों के दूषित वातावरण में क्षयप्राप्त होते हुए हिन्दी साहित्य को वह उबार कर नयी लोक-भूमि पर लाये। इस प्रकार के मौलिक परिवर्तन किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं लाये जाते, यद्यपि मौलिक प्रतिभाशाली व्यक्तित्वों की छाप उन पर पड़ सकती है। भारतेन्दु भी जिस आन्दोलन के निमित्त बने, उसे ऐतिहासिक कारणों की पृष्ठिका के साथ ही देखना होगा। उन्नीसवीं शती का भारत ऐसे परिवर्तन के लिए तैयार ही था। जैसी स्थिति थी, उस में राष्ट्रीयतावाद वैसा विकृत रूप नहीं ले सकता था जैसा उसने यूरोप में लिया, भारत में वह स्वदेश-प्रेम के रूप में ही प्रकट हुआ। उसने जातीय उत्कर्ष की भावना को उभारा और साधारणतया देश को एक नयी सांस्कृतिक चेतना दी। अपनी सभ्यता और संस्कृति का गर्व इस सांस्कृतिक नव-चेतना का ही फल था और स्वभाषा-प्रेम उस गर्व का एक पहलू।

किन्तु उन्नीसवीं शती के भारत में लौकिकता के उदय की, और उस के सन्दर्भ में भारतीय साहित्यों के अथवा विशेषतया हिन्दी साहित्य के नवोन्मेष की चर्चा एक बात है, और खड़ी बोली के अभ्युत्थान और व्यापक प्रसार की चर्चा

दूसरी बात। खड़ी बोली के अभ्युदय के कारण स्वतन्त्र परीक्षण माँगते हैं, क्योंकि परवर्ती प्रगति को ठीक परिपार्श्व में रखने के लिए केवल साहित्य की अन्तः-प्रवृत्तियों को नहीं, भाषा की प्रवृत्तियों को भी समझना अनिवार्य है।

हिन्दी साहित्य में लौकिक दृष्टि का आविर्भाव, और खड़ी बोली में साहित्य रचना के नवयुग का आरम्भ, दोनों एक साथ हुए, साहित्य के इतिहास का कोई भी अध्येता इसे लक्ष्य किये बिना नहीं रह सकता। यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या यह केवल आकस्मिक संयोग था, या कि दोनों घटनाओं में कोई सम्बन्ध था? क्या कारण था कि हिन्दी की रचनात्मक प्रतिभा ने साहित्य की एक सम्पन्न, मधुर और परिमार्जित प्रतिष्ठित भाषा से विमुख होकर एक रूखी और अटपटी बोली को अपनाना आरम्भ कर दिया? दो हज़ार वर्ष पहले बौद्ध साहित्य ने भी संस्कृत को छोड़ कर प्राकृत को अपनाया था, किन्तु इस ऊपरी समानता का ऐतिहासिक अभिप्रेत कितना है इस पर विवाद हो सकता है। क्या कि व्रज-भाषा केवल साहित्य की या किसी विशिष्ट अभिजात वर्ग की भाषा ही रही हो या रह गयी हो ऐसा नहीं था, वह भी एक जीवित सहज प्रचलित जन-भाषा थी। बल्कि इस काल की हिन्दी रचनाओं में जो खड़ी बोली व्यवहृत हुई—जिसे यथार्थ दृष्टि से देखने पर एक सीमा तक चेष्टित, कृत्रिम, पुस्तकीय भाषा स्वीकार करना होगा—उस से व्रज-भाषा कहीं अधिक जन-भाषा थी उस का एक स्पष्ट निर्दिष्ट फिर भी विस्तीर्ण प्रदेश था जहाँ वह मातृभाषा के रूप में सहज-भाव से बोली और बरती जाती थी। और फिर यदि भाषा-परिवर्तन संस्कृत को छोड़ कर पालि-प्राकृत अपनाने जैसी क्रिया थी, अर्थात् उस की जड़ में एक अभिजात संस्कारी भाषा का तिरस्कार कर के सहज लोक-भाषा का व्यवहार करने की सामाजिक विद्रोह की भावना थी, तो साहित्यिक व्रज-भाषा को छोड़ कर विभिन्न आंचलिक बोलियों या मातृभाषाओं को क्यों नहीं अपनाया गया? केवल एक बोली—और वह खड़ी बोली—क्यों इन सामाजिक विद्रोह का अस्त्र बनी? और इन से अधिक मार्के की बात इस अस्त्र का समर्थ और निष्ठापूर्ण प्रयोग खड़ी बोली के अपने प्रदेश में न हो कर दूर बनारस में क्यों हुआ, जो कि एक दूसरी और उतनी ही समर्थ जन-भाषा का प्रदेश था? स्पष्ट है कि इस परिवर्तन को समझने के लिए संस्कृत-पालि का उदाहरण सीधा-सीधा नहीं लागू किया जा सकता, और सामाजिक चेतना की प्रक्रिया के विभिन्न पहलुओं की पड़ताल आवश्यक है।

खड़ी बोली के उत्थान में व्रज-भाषा के प्रति किसी प्रकार का द्वेष, या एक प्रदेश की भाषा को छोड़ने का कोई आग्रह नहीं था। खड़ी बोली के अंगीकार में अगर ऐसा नकारात्मक कोई आग्रह या जिसे व्रज-विरोधी कहा जा सके, तो वह भाषा के परित्याग का नहीं, उस की सामन्ती परम्पराओं के परित्याग का आग्रह था। व्रज के एक सजीव आंचलिक भाषा होते हुए भी रीतिवादी परम्परा ने

उस के साहित्यिक रूप को एक ऐसे सांचे में ढाल दिया था कि वह कृत्रिम के कड़े बन्धन में बंध गया था और उसे अभिजातवर्गीय अथवा सामन्ती पूर्वग्रहों से मुक्त करना कठिन हो गया था।

सामन्ती परम्पराओं के प्रति उदासीनता खड़ी बोली के उत्थान का पहला (और नकारात्मक) कारण था। दूसरा कारण—और इस का रचनात्मक महत्त्व स्पष्ट ही है—व्यापकता की खोज राष्ट्रीयता की केन्द्रोन्मुख भावना के उदय और विकास के साथ-साथ एक व्यापक भाषा की—या व्यापक भाषा की अनुपस्थिति में सब से अधिक व्यापक घटक की—खोज स्वाभाविक थी। और यह व्यापक घटक खड़ी बोली ही हो सकती थी : ब्रज भाषा का उपयोग अपने प्रदेश से बाहर केवल साहित्य-क्षेत्र तक सीमित था, जब कि खड़ी बोली अपने प्रदेश से बाहर लोक-व्यवहार में भी आती थी, भले ही अशुद्ध रूप में। यहां खड़ी बोली के अन्तर्गत हिन्दी-उर्दू के प्रश्न को उठाना अनावश्यक है। यहां तक कि उर्दू का कोई मताग्रही समर्थक खड़ी बोली को उर्दू का पर्याय भी कहना चाहे (जो कि आगे के विवेचन से भ्रान्त सिद्ध हो जायगा) तो उस से भी इस स्थल पर कोई परिवर्तन नहीं आता। और साम्प्रदायिक दृष्टि से देखने पर भी स्थिति ज्यों-की-त्यों रहती है। यह मान भी लें कि हिन्दी हिन्दू की और उर्दू मुसलमान की भाषा थी (जो ऐतिहासिक दृष्टि से मिथ्या है) तो भी स्पष्ट है कि खड़ी बोली को एक प्रकार की बहु-प्रदेशीय व्यापकता प्राप्त थी जो और किसी जन-भाषा को नहीं थी। और फिर केन्द्रोन्मुख राष्ट्रीयता के सम्मुख 'हिन्दू' और 'मुस्लिम' को एक ही सत्ता 'भारतीय' की परिधि में ले आने की आवश्यकता का अपना एक दबाव था जो पुनः खड़ी बोली के पक्ष में क्रियाशील होता था।

यह राष्ट्रीयता के उदय का, और उस भावना से उत्पन्न होने वाले नये उत्तरदायित्व के ज्ञान का ही परिणाम था कि साहित्य-रचना के लिए खड़ी बोली का प्रयोग होने लगा, और ऐसे लेखक भी खड़ी बोली में लिखने लगे जो कि ब्रज-भाषा पर अच्छा अधिकार रखते थे—अर्थात् जिन्हें अभिव्यक्ति के लिए न केवल ब्रज-भाषा को छोड़ कर दूसरा माध्यम खोजने की कोई आवश्यकता नहीं थी, बल्कि जिन्हें दूसरे माध्यम की अपरिपक्वता अखरती भी थी। खड़ी बोली के व्यवहार का राष्ट्रीयता की भावना से कितना निकट सम्बन्ध था इस को जांचने की एक विधि यह भी है कि देखा जाय, उस काल के किन-किन लेखकों ने खड़ी बोली को अपनाया या कौन-कौन ब्रज के आग्रह पर अड़े रहे, और किन में राष्ट्रीयता का स्वर कितना मुखर था, या कहां तक भाषा-परिवर्तन और राष्ट्रीय चेतना का आविर्भाव एक साथ हुए। हमारा अनुमान है कि ऐसा अध्ययन दोनों के अभेद्य सम्बन्ध का प्रमाण देगा। इतना ही नहीं, इस दृष्टि से भी अध्ययन किया जा सकता है कि जिन्होंने ब्रज-भाषा और खड़ी बोली दोनों का उपयोग किया, उन्होंने किसी भाव

अथवा विचार-वस्तु के लिए जिस भाषा को चुना, यह अध्ययन भी राष्ट्रीयता और खड़ी बोली के सम्बन्ध को पुष्ट करेगा।

किन्तु भाषा-परिवर्तन के पूरे सक्रमण मे ब्रज-भाषा से खड़ी बोली तक की यात्रा केवल एक चरण थी। यात्रा वहीं जा कर समाप्त नही हो गयी। सक्रमण का दूसरा चरण खड़ी बोली के अन्तर्गत एक भाषा-रूप को छोड़ कर दूसरे भाषा-रूप का ग्रहण था। यह हो जाने पर ही राष्ट्रीयता की मांग का सम्पूर्ण उत्तर मिल सकता था और व्यापकता के दायित्व का समुचित निर्वाह हो सकता था। भारतेन्दु-काल मे हिन्दी और उर्दू का जो सघर्ष चल रहा था, और जिस की निष्पत्ति वास्तव मे प्रेमचन्द मे आ कर हुई वह व्यापकता के आन्दोलन का ही एक पहलू था। इस तर्क से ब्रज-भाषा से खड़ी बोली तक आना पर्याप्त नही है, यह क्रमश स्पष्ट होने लगा, जब लेखको ने यह अनुभव किया कि जिस भाषा का उन्हो ने वरण किया है, उस की व्याप्ति का क्षेत्र पढे लिखे लोगो तक सीमित हुआ जा रहा है। अर्थात् ब्रज-भाषा के स्थान पर खड़ी बोली के एक परिष्कृत परिमार्जित सस्कारी रूप उर्दू का ग्रहण एक दीक्षित भाषा के स्थान पर दूसरी दीक्षित भाषा की प्रतिष्ठा मात्र है और वास्तव मे व्यापकता के लिए परिमार्जित भाषा का मोह छोड कर लोक-साधारण की भाषा को अपनाना होगा। यह इसी बोध का परिणाम था कि जिन लोगों का उर्दू पर अधिकार था उन्हों ने भी क्रमश मार्जन की दृष्टि से हीनतर हिन्दी को अपनाया। स्वय भारतेन्दु के खड़ी बोली काव्य के सस्कार उर्दू के अधिक थे उन की गजलें, उन की फारसी शब्दावली, और उन का कविनाम 'रसा' इस के प्रमाण हैं। फिर भी वह हिन्दी के नवयुग के प्रवर्त्तक हुए इस का कारण उन की लोकोन्मुखता ही थी। यह भाषा क्रान्ति का दूसरा चरण था, जिस का ध्येय था साधारण जन की भाषा का अगीकार। सस्कृत-पालि के विकल्प की समानता यहाँ पर आ कर यथातथ्य लागू होती है ब्रज और खड़ी बोली के विकल्प से उन की समानता नही थी पर उर्दू और हिन्दी का विकल्प उस की ऐतिहासिक आवृत्ति थी—जहाँ तक कि इतिहास मे आवृत्ति अर्थ रखती है।

शब्द-चयन की दृष्टि से भारतेन्दु-युग का लेखक शुद्धिवादी नही था. वह उर्दू, फारसी, सस्कृत, अन्य प्रादेशिक भारतीय भाषा, लोक-भाषा, कही से भी कोई भी उपयोगी शब्द या प्रयोग ले लेने को तैयार था। किन्तु हिन्दी के वरण के बारे मे उसके मन मे कोई द्विधा न बची थी—वह इतर भाषाओ के शब्दो से हिन्दी का ही भण्डार भरता था, इतर भाषाएँ नही लिखता था। हिन्दी के प्रतिमानीकरण का सघर्ष बाद की बात थी · नयी भूमि पर अधिकार करने के लिए पहले चहारदीवारी बाँधी जाती है, पीछे झाड झखाड साफ किये जाते हैं। प्रतिमानीकरण का यह कार्य द्विवेदी-युग की मुख्य प्रवृत्ति थी। इस काल मे खड़ी बोली हिन्दी एक सस्कारी भाषा हो गयी, और तभी से उसे खड़ी बोली कहना भी अनावश्यक हो गया—

हिन्दी संज्ञा उसी के लिए रूढ़ हो गयी। इस प्रतिमानीकरण के आन्दोलन में भूलें न हुई हों या दुराग्रह न प्रकट हुए हों ऐसा नहीं है, फिर भी उसने लेखक में भाषा के प्रति एक जागरूकता उत्पन्न की जिस का गहरा रचनात्मक प्रभाव पड़ा। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि परवर्त्ती साहित्यिक आन्दोलनों में भाषा के रूप के सम्बन्ध में ऐसी जागरूकता फिर नहीं देखी गयी। छायावादी काल की भाषा-सम्बन्धी चेतना का आधार था शब्द-कौतूहल अथवा ध्वनि-योजना का सार्थक उपयोग, और तदाश्रय प्रयोगवादी काव्य का मुख्य आग्रह प्रतीक-योजना का ही रहा—यद्यपि शब्द-कौतूहल भी उस में था, जिस की दिशा छायावाद के शब्द-कौतूहल से भिन्न थी। यह ठीक है कि द्विवेदी-युग में भाषा की—या भाषा के रचनाशील प्रयोक्ता कवि की—आवश्यकताएँ दूसरी थीं, फिर भी कभी यह लक्ष्य कर के खेद होता है कि आज का लेखक भाषा के रूप-सौष्ठव और व्यापक प्रतिमानों के विषय में उतना सतर्क नहीं है जितना द्विवेदी-युग का लेखक था। उस काल का अतिवादी भाषा को इस जोखिम में डालता था कि कहीं वह अपना लचकीलापन और ग्रहणशीलता खो कर 'काठ-सी कठैठी' न हो जाये, आज का अतिवादी उस के सामने यह खतरा उपस्थित करता है कि कहीं वह अपनी सार्वभौमता खो कर एक दीक्षागम्य सांकेतिक भाषा न हो जाये। किन्तु भाषा की प्रवृत्तियों की पड़ताल में हम बहुत काल-व्यतिक्रम कर गये हैं।

◇ ◇ ◇

यह कहा जा चुका है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी को नयी लोकभूमि पर लाये और उस के साहित्य में मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के निमित्त बने। भारतेन्दु-युग के सभी कवियों ने जोरों से अनुवाद भी किये—गतानुगतिक भाव से केवल संस्कृत से नहीं वरन दूसरी भारतीय भाषाओं से (विशेषतया बंगला से) और भारतीयेतर भाषाओं से भी (मुख्यतया अंग्रेज़ी से या अंग्रेज़ी के माध्यम से अन्य यूरोपीय भाषाओं से)। स्वायत्तीकरण के इस बहुमुखी आन्दोलन की जड़ में नवजाग्रत राष्ट्रीय भावना तो थी ही, एक नयी उदार दृष्टि भी थी। साहित्य-शरीर की इस अभिवृद्धि से लेखक का मानसिक आकाश और खुला और उस के क्षितिज दूर-दूर तक फैले; साहित्य के आस्वादन, परीक्षण और मूल्यांकन के लिए उसे नये साधन और प्रतिमान मिले; और इन का उस की रचना पर गहरा प्रभाव पड़ा। किन्तु इस ग्रहणशीलता के साथ-साथ निरन्तर हिन्दी के कृतिकार में 'अपनेपन' की भावना पुष्ट होती गयी। 'प्रेम अपनो ही पर कर रे' (श्रीधर पाठक) निरी संकीर्णता का नारा नहीं था बल्कि नयी ऐतिहासिक प्रवृत्ति से अनुप्राणित सांस्कृतिक दृष्टि की एक उपलब्धि थी। आत्म-सम्मान के लिए पहले आत्म-साक्षात्कार आवश्यक है, किन्तु आत्म-साक्षात्कार तब तक कैसे हो सकता है जब तक हम में यह आस्था न हो कि हमारा एक विशिष्ट आत्म-रूप है भी—कि अपने ही प्राणों के प्राण हैं?

इस प्रकार जहाँ एक नयी मानवमूर्ति की प्रतिष्ठा हो रही थी और यह स्वीकार किया जा रहा था कि मानव-रूप होने के नाते ही वह सुन्दर और सम्मान्य है, वहाँ दूसरी ओर भारतीय की एक नयी मूर्ति की प्रतिष्ठा हो रही थी और यह पहचाना जा रहा था कि वह मूर्ति मूलतः सुन्दर और सम्मान्य है, भले इस समय खंडित या हीनत्व-प्राप्त हो। 'प्राचीन और नवीन अपनी सब दशा आलोच्य है, अब भी हमारी अस्ति है' (मैथिलीशरण गुप्त) नयी दृष्टि पर आधारित आत्म-प्रतिष्ठा का ही दूसरा पहलू था—यद्यपि कवि साथ ही यह स्वीकार करने को भी बाध्य था कि 'अवस्था शोच्य हैं'। बल्कि अपनी वर्तमान हीनावस्था को देखने और स्वीकार करने का साहस उसे इसी से मिलता था कि मूलतः उस का भाव आत्मावहेला अथवा अनास्था का नहीं रहा था।

यहाँ यह अवश्य लक्ष्य करना होगा कि इस नव प्रतिष्ठित आत्म-भाव के मूल में अनेक प्रकार की प्रवृत्तियाँ थीं और सब ऐतिहासिक दृष्टि से प्रगतिशील नहीं थीं—अर्थात् कुछ ऐसी भी थीं जिन की शक्ति संकीर्णता और असहिष्णुता की शक्ति थी। सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन बहुधा पश्चाभिमुख रूढ़िवादी प्रवृत्तियों को इतनी ओट दे देता है कि परम्पराओं की रक्षा के नाम पर वे सामाजिक प्रगति को रोकने का उपक्रम करने लगें, और भारतीयता की पुनःप्रतिष्ठा के इस युग में इन्हों ने भी अपेक्षित तत्परता दिखायी। इस काल के सामाजिक-धार्मिक आन्दोलनों में जिस प्रकार एक ओर अन्धविश्वास और रूढ़ियों के उन्मूलन का और दूसरी ओर एक नयी कट्टरता और मतवादिता का (उसे मतान्धता न कहें तो) आग्रह लक्षित होता है, उसी प्रकार साहित्य में भी एक ओर पश्चिम की चुनौती के सम्मुख नव निर्माण का उत्साही स्वर और दूसरी ओर निरी प्राचीन परम्परा या रूढ़ि की दुहाई सुनने को मिलती है। इस युग का बहुत-सा 'नकटाई-काव्य' तथा खान-पान सम्बन्धी काव्य ('चिपकूट चले रम ले मन को') इस दोहरी प्रवृत्ति का अच्छा उदाहरण हो सकता है। नाथूराम शर्मा 'शंकर' की प्रार्थना 'द्विज वेद पढ़ें, सुविचार बढ़ें, बल पाय चढ़ें सब ऊपर को' में उन का यह विश्वास ही ध्वनित होता है कि सनातन वैदिक परम्पराओं से हटना ही हमारे ह्रास का कारण हुआ और उन की ओर लौटने से ही समाज सुधर जायगा। 'शंकर' तो खैर ध्वजाधारी कवि थे ही, महावीरप्रसाद द्विवेदी भी उस युग के प्रति मोह की दुर्बलता से मुक्त नहीं थे जिस में ऐसे वेद-पाठ किया करती थी। किन्तु दूसरी ओर श्रीधर पाठक जब व्यंग्य-पूर्वक कहते हैं कि 'मनुजी, तुमने यह क्या किया ?' तब वह सनातन परिपाटी की दुहाई नहीं देते, और न उस परिपाटी को वेदों की भाँति अपौरुषेय अथवा पूर्वजों को त्रिकालदर्शी सर्वविद् मानते हैं. वह स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि मानव ने ही मानव को रूढ़ियों से बाँधा है और ये बन्धन असहनीय हैं : 'और अधिक क्या कहें आपजी, कहते दुखता हिया, जटिल जाति का अटल पाँत का जाल है जिस का

लिया ? मनुजी, तुमने यह क्या किया !' ऐसे स्वरों में ध्यान में रख कर, अनेक दोषों के रहते हुए भी इस समूचे युग की स्वस्थ, उदार, भविष्योन्मुख लौकिक सास्कृतिक दृष्टि को स्वीकार करना ही होगा।

◇ ◇ ◇

आत्म-प्रतिष्ठापन के आरम्भिक युग में खड़ी बोली में काव्य में दो प्रधान धाराएँ रहीं, इस का सकेत ऊपर किया जा चुका है। नैतिक-उपदेशात्मक काव्य का सम्बन्ध नयी सामाजिक दृष्टि से था, ऊपर के विवेचन के बाद इस पर जोर देने की आवश्यकता न होनी चाहिए। न इसी का अलग स्पष्टीकरण आवश्यक है कि उपदेश-काव्य की एक प्रेरणा प्रत्यभिमुख दृष्टि से भी मिलती थी। इतिवृत्त-काव्य अधिकतर जातीय उत्कर्ष के ऐतिहासिक अथवा पौराणिक युगों से प्रेरणा लेता था आत्म-प्रतिष्ठापन के लिए अतीत गौरव का स्मरण और उस के प्रमाण से भावी उत्कर्ष की सम्भावना करना स्वाभाविक ही था। यों इस अनुक्रम में किसी भी स्थल पर रुका जा सकता था . कामताप्रसाद गुरु ऐतिहासिक घटनाओं की आवृत्ति से आगे नहीं बढ़े, और अयोध्यासिंह उपाध्याय की दृष्टि पौराणिक काल में ही रमी रही। भारतीयेतर प्रभाव दोनों कवियों में बहुत अल्प मिलेगा, अन्तरग और बहिरग दोनों दृष्टि से इन की प्रवृत्ति परम्परावादी रही, फिर भी सम-कालीन राजनैतिक प्रभावों से वे बिलकुल अछूते नहीं रह सके। 'हरिऔध' के 'भारत गीत' में ('महती महापुनीता मधुरा मनोहरा है, वसुधा-ललाम-भूता भारत-वसुन्धरा है') भारत के समकालीन संघर्ष का वैसा स्पन्दित प्रतिबिम्ब भले ही न हो जैसा 'सनेही' की 'कौमी गजल' ('मुनक्कश अपने दिल पर हिन्द की तस्वीर होने दो, कदम से उस के अपने सीने पर तनवीर होने दो') में है, पर इस में सन्देह नहीं कि उस संघर्ष की हवा उन्हें भी लगी। 'भारतेन्दु की मुकरी की-सी स्पष्ट दो-टूक बात ('रूप दिखावत सरवस लूटे, फन्दे में जो पड़े न छूटे, कपट कटारी जिय में हूलिस, क्यों सखि, साजन ? नहीं सखि, पुलिस !') उन से कभी कहते न बनी, पर बहुत बचा कर बात कहते हुए भी इतना तो उन्हें भी कहना पड़ा कि 'क्या टलेंगे न पसीने वाले, क्या सदा ही पिसा करेंगे हम ?'

इतिवृत्त-काव्य में भी सकीर्णता और प्रत्यभिमुखता के लिए यथेष्ट गुजाइश थी। अतीत गौरव का स्मरण तीव्र साम्प्रदायिक पूर्वग्रह के साथ भी हो सकता था, (जिस की यत्किंचित् छूत इस काल के अनेक कवियों को थी और कामताप्रसाद गुरु में भी देखी जा सकती थी) अथवा उस से यह भाव भी जगाया जा सकता था कि भारतीय जाति (क्योंकि सम्पूर्ण मानव-जाति) क्रमशः और अनिवार्यतः पतन की ओर जा रही है—उस अनिवार्यता से बचने का कोई उपाय हो सकता है तो अतीत की ओर लौटना या अतीत युग को फिर से लाना ही। काल्पनिक इतिवृत्त भी काव्य में आता था, इस का एक कारण तो यह था ही कि राजनैतिक प्रतिबन्धों

के कारण जहाँ सामयिक स्वदेशी प्रसंग नहीं उठाये जा सकते थे वहाँ ऐसे इतर दृष्टान्त का सहारा लिया जाता था जिस से समयानुकूल भावनाओं को जगाया जा सके। उदाहरण के लिए, रामनरेश त्रिपाठी के खण्ड-काव्यों को इसी दृष्टि से देखा जा सकता है 'मिलन' की घटना-भूमि उत्तर इटली में स्थापित की गयी है, और 'पथिक' की एक कल्पित देश-काल में, किन्तु दोनों की भाव-वस्तु समकालीन भारत और उन के राजनैतिक संघर्ष से सम्बन्ध रखती है और उसी के सन्दर्भ में दोनों में दोनों काव्यों का पूरा रसास्वादन किया जा सकता है।

राय देवीप्रसाद और गोपालशरण सिंह का काव्य एक दूसरी दृष्टि से विशेष स्थान रखता है। ऊपर बताया गया कि काल या प्रवृत्तियों का दो टूक विभाजन नहीं हो सकता पूर्ववर्ती प्रवृत्तियाँ बहुत देर तक बनी रहती हैं और परवर्ती प्रवृत्तियों के लक्षण बहुत पहले प्रकट हो जाते हैं। एक ओर परम्परानुगतिक प्रवृत्ति का गोपालशरण सिंह बहुत बाद तक ले आये, और दूसरी ओर जो रोमांटिक प्रभाव अनन्तर छायावाद में मुखर हुआ उस के पूर्व-संकेत 'पूर्ण' के काव्य में मिलने लगे। 'वसन्त-वियोग' का कल्पोद्यान-वर्णन इस का उदाहरण है ही, अन्तिम 'था जहाँ वारामास ऋतु-राज-चारु-विलास, पहुँचा वहाँ भी रोग भारी वसन्त वियोग' की तो रोमांटिक भावना का पूरा प्रतिबिम्ब कहा जा सकता है। और दूर की कौड़ी लाना न जान कर व्यापक परिपार्श्व के इंगित के लिए इतना कह देना अनुचित न होगा कि इसी प्रकार और बाद की 'नयी कविता' की प्रवृत्तियों के अंकुर श्रीधर पाठक में पाये जा सकते हैं। यह कहना कदाचित् इस युग के कवि-समुदाय के साथ अन्याय न होगा कि श्रीधर पाठक इस के सर्वाधिक कवित्व-सम्पन्न कवि थे। भारतेन्दु को खड़ी बोली युग का प्रवर्तक मान कर भी कहा जा सकता है कि श्रीधर पाठक ही उस के वास्तविक 'आदिकवि' थे। युग को प्रतिबिम्बित करते हुए भी उन का काव्य सब से अधिक ऐसे तत्त्व हमें देता है जो युग के साथ ही बीत नहीं जाते—अर्थात् जो वास्तव में शुद्ध साहित्य-तत्त्व हैं।

० ० ०

द्विवेदी युग की परिस्थितियाँ और समस्याएँ आरम्भिक युग से भिन्न थीं। हिन्दी के प्रतिमानीकरण का कार्य अभी पूरा न हुआ था, पर खड़ी बोली की प्रतिष्ठापना के विषय में कोई द्विधा न रही थी। इसी प्रकार यद्यपि भारतीयता के स्वरूप की कोई सामान्य और सर्वसम्मत अवधारणा अभी नहीं हो सकी थी, तथापि उस की अस्ति के बारे में कहीं कोई सन्देह नहीं रह गया था। राष्ट्र की रूप-कल्पना में कोई कठिनाई अब नहीं थी, एक व्यापक राष्ट्रीय आन्दोलन की नींव पड़ चुकी थी और सारा देश अंगड़ाइयाँ ले रहा था। अपनी तत्कालीन परिवृत्ति के दबाव से मुक्त होकर कवि फिर उन व्यापक और जटिल प्रभावों का ग्रहण, अन्वयन, विश्लेषण और आवश्यक परिवर्तन के साथ स्वायत्तीकरण कर सकता था

जो नये ज्ञान-विज्ञान के कारण मानसिक अथवा बौद्धिक वायुमण्डल मे क्रियाशील थे। इस नयी स्थिति का परिणाम वे दो धाराएँ थी जो खड़ी बोली काव्य के द्वितीय युग की विशेषताएँ हैं। नयी लौकिक दृष्टि ने मानव को जो नया गौरव दिया, उस के विभिन्न अभिप्राय और आनुषगिक परिणाम क्रमश और स्पष्ट होते गये और उन मे नयी प्रवृत्तियो का उदय हुआ, पर यह वास्तव मे तीसरे उत्थान की बात है।

समकालीन प्रभाव हम इतर कवियो मे तो देख ही सकते है, मैथिलीशरण गुप्त जैसे मर्यादा-प्रेमी वैष्णव भक्त कवि की रचनाओ मे भी लक्ष्य करते हैं। उन के राष्ट्रीयतावाद की ओर तो सकेत करना भी अनावश्यक होगा, लोकमत ने सहज ही उन्हे राष्ट्रकवि का पद दिया और पाँच दशको पर छाया उन का काव्य-कृतित्व राष्ट्र-प्रीति का सन्देश सुना कर देश को प्रेरणा और उद्बोधन देता रहा है। किन्तु मानवतावाद की छाप भी उनके काव्य पर स्पष्ट थी 'भारत-भारती' और 'झकार' ने ले कर 'दिवोदास' और 'पृथिवी-पुत्र' तक उन के काव्य की प्रगति पद-पद पर उसे सूचित करती रही। उन की दृष्टि परलोक मे नही, इसी लोक मे निबद्ध थी; बार-बार नर के नरत्व का, पुरुष के पुरुषार्थ का जयघोष उन्होने किया। 'भारत-भारती' की राष्ट्रीयता तत्कालीन वैचारिक स्थिति के अनुरूप ही अधूरी थी, और नये युग मे वैसी प्रेरणा नहीं दे सकती थी जैसी उसने उस समय दी, किन्तु निरन्तर विकासशील विचारावली और आदर्श के कारण ही गुप्तजी इस द्रुत संक्रमित परिस्थिति में भी न केवल युग के साथ चलते रह सके वरन् समकालीन समाज को निरन्तर उद्‌बुद्ध करते रह सके। 'राजा और प्रजा' तक उन का काव्य निरन्तर हिन्दी-भाषी भारत की आशा-आकाक्षा का प्रतिनिधित्व करता रहा। न केवल यही, उसे 'भारतीयता का काव्य' कहा जा सकता है, क्यो कि उस मे उदारता भी है और मर्यादा-प्रेम भी, प्राचीन का गर्व भी है और नये का अभिनन्दन भी, विशाल ऐतिहासिक अनुभव पर आधारित आस्था भी है और भविष्य के लिए एक सयत आशा भी। समकालीन चिन्तन को राष्ट्रीयतावाद और मानवतावाद मे विरोध अनिवार्य दीखता है, और शुद्ध राष्ट्रीयतावाद की निष्पत्ति सर्वत्र जिस युयुत्सु सकीर्णता मे होती रही है वह इस का पर्याप्त प्रमाण है; परन्तु मैथिलीशरण गुप्त के काव्य मे ऐसा कोई विरोध लक्षित नही होता—एक तो इस लिए कि स्वातन्त्र्य-लाभ तक इन दोनो मे विरोध का कोई प्रश्न ही नही था और जब तक राष्ट्रीयता शोषण से मुक्ति का आन्दोलन है तब तक वह मानववादी है ही, दूसरे इस लिए भी कि गुप्तजी का मानवतावाद निरन्तर उन के विश्वासों को सयत या विकसित करता रहा। कुछ लोगो का कहना है कि इसी कारण उन का 'साकेत' उस पद को नही पा सका जो 'रामचरितमानस' का है; वह जो हो, इस मे सन्देह नही कि उन की लोकोन्मुखता ही उन के काव्य को समाज के सब स्तरो मे समान रूप से ग्राह्य बना सकी। वाद-पीड़ित परवर्ती युग में प्रत्येक कवि विवाद का विषय बना पर

गुप्तजी उस से दूर तक मुक्त रह गये।

भाषा के परिमार्जन और संस्कार में गुप्तजी की देन का उल्लेख करना आवश्यक है। इस का श्रेय महावीरप्रसाद द्विवेदी को दिया जाता है, और निःसन्देह उन की कर्मठता, दृढ़ता और विवाद-सन्नद्धता के बिना यह कार्य न हो सकता, किन्तु यह भी उतना ही सच है कि उन की भाषा-सम्बन्धी अवधारणाओं को मैथिलीशरण गुप्त जैसा कुशल और परितोषदायी उदाहर्ता न मिलता तो ये संस्कार इतनी सुगमता से इतने गहरे न पैठ पाते। भाषा के प्रतिमान निर्धारित करने वाला चाहे कोई हो, एक अकेला कृतिकार भाषा के रचनाशील व्यवहार से उसे जो व्याप्ति और सार्वदेशिक मान्यता दिला सकता है वह बीसियों शास्त्रविद् नियन्ताओं के सामर्थ्य से परे होता है। मैथिलीशरण गुप्त का प्रभाव कितना गहरा पड़ा, इस का इस से अच्छा और क्या उदाहरण होगा कि उन्हों ने जो चलाया वह तो चला ही, जो निषेध किया वह छूटा ही, पर उन्हों ने निषेध नहीं किया, केवल स्वयं नहीं बरता, उस को बरतना केवल इतने ही से कठिन हो गया कि उन्हों ने उसे नहीं अपनाया! हिन्दी छन्द में लघु-गुरु-सम्बन्धी रियायतें जो द्विवेदी-काल तक प्रचलित थीं और जो उर्दू में आज भी सजीव बनी हुई हैं, केवल गुप्तजी के द्वारा प्रयुक्त न होने के कारण अप्रचलित हो गयीं और अब बरती जाती हैं तो 'उर्दू की' मानी जाती हैं। नयी प्रवृत्ति उन्हें हिन्दी का परम्परागत अधिकार घोषित कर के पुनः अपनाने के लिए सचेष्ट है, वह दूसरी बात है।

सियारामशरण गुप्त साधारणतया उसी धारा में आते हैं जिस का प्रतीक पुरुष उन के अग्रज को माना जाता है। उन की सांस्कृतिक चेतना ने असहयोग के आन्दोलन से विशेष प्रेरणा पायी। दार्शनिक आधारों को ध्यान में रखते हुए मानना होगा कि यह आन्दोलन एक सांस्कृतिक आन्दोलन था। सियारामशरण गुप्त भारतीय सांस्कृतिक चेतना के नैतिक आधारों में बहुत गहरे पैठते थे, अग्रज की भाँति मर्यादा में नहीं, जिस भित्ति पर मर्यादा खड़ी होती है उसी में उन की रुचि थी। सूक्ष्म नैतिक विवेचन में वह अद्वितीय थे, आचार की मान्यताओं की जाँच में वह उन के आधारभूत नैतिक मूल्यों को पकड़ते थे। अग्रज की भाँति वह कथा-काव्य लिखते थे लेकिन उस की वस्तु पौराणिक या ऐतिहासिक नहीं होती थी, वह समकालीन साधारण जीवन से ली जाती थी। समकालीन साधारण जीवन का वृत्तान्त 'सनेही' ने भी लिखा, 'सनेही' का आग्रह वस्तु-पक्ष पर, आर्थिक वैषम्य, निर्धनता, उत्पीड़न, क्लेश पर था, सियारामशरण गुप्त का आग्रह वस्तुस्थिति के मूल में वर्तमान नैतिक समस्या पर। मैथिली-शरण गुप्त की दृष्टि ही मानवतावादी थी, सियारामशरणजी अपनी वर्ण्य वस्तु से मानवीय सम्बन्ध भी स्थापित करना चाहते थे। मैथिलीशरणजी ने इतिहास की उपेक्षिताओं की ओर ध्यान खींचा, सियारामशरणजी समाज के—आज के

समाज के—दलितों को सहानुभूति देते थे। यहाँ फिर इस सहानुभूति और 'सनेही' अथवा और पहले 'शंकर' के करुणा-भाव में भेद करने की जरूरत है। उन की करुणा का आधार व्यक्ति का कष्ट था, किन्तु सियारामशरणजी की व्यथा का कारण व्यक्ति के व्यक्तित्व का असम्मान था। उन का आग्रह व्यक्ति की सुख-सुविधा का नहीं, व्यक्ति की प्रतिष्ठा का था। वह काव्य को लोक के और निकट लाने के आग्रही थे क्योंकि वह लोक-साधारण से एकात्म्य के समर्थक थे। मैथिलीशरणजी मातृभूमि के, पारिवारिक जीवन के कवि थे, सियारामशरणजी मानव-सम्बन्धों के और सामाजिक जीवन के, मैथिलीशरणजी की दृष्टि ऐतिहासिक-सांस्कृतिक थी; सियारामशरणजी की सामाजिक-नैतिक, मैथिलीशरणजी निष्ठा के कवि थे, सियारामशरणजी संवेदना के।

माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण शर्मा भी मुख्यतया राष्ट्रीयता के कवि हैं, यद्यपि उन में वे प्रवृत्तियाँ भी पायी जाती हैं जिन की हम अभी छायावाद के प्रसंग में चर्चा करेंगे; छायावाद के आरम्भिक काल की भाषा-सम्बन्धी स्वच्छन्दता भी उन में पायी जाती है। दोनों में न केवल सरकारी भाषा का आग्रह नहीं रहा वरन् उस के प्रतिकूल कभी बहुत अटपटी और कभी बहुत मुहावरेदार, कभी ठेठ और कभी गरिष्ठ, कभी सीधी-सादी और कभी दुरूह भाषा दोनों ने लिखी। सिद्धान्ततः 'नवीन' संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के अरबी-फारसी से व्युत्पन्न शब्दों के बहिष्कार के समर्थक थे अर्थात् शुद्धिवादी थे, व्यवहार में उन का स्वच्छन्द और अराजक स्वभाव ऐसी कोई मर्यादा नहीं निभा पाता था। किन्तु यह अराजकता दोनों कवियों के काव्य के आस्वादन में बाधा नहीं देती, क्योंकि कुछ ऐसी ही अव्यवस्था उस वर्ग में भी पायी जाती रही जो उस काव्य का पाठक था—साधारणतया राष्ट्रीयतावादी किन्तु इस से आगे अस्पष्ट और दिशाहीन असन्तोष और अशान्ति से भरा हुआ वर्ग, जो अधकचरी अंग्रेज़ी-शिक्षा के कारण अपनी बोली से भी कट गया था और किसी अन्य भाषा से अन्तरंग सम्पर्क भी न स्थापित कर सका था। अब, जब एक ओर हिन्दी एक पुष्ट और परिमार्जित रूप पा चुकी है, और दूसरी ओर छायावाद के द्वारा लाये गये या सीधे अंग्रेज़ी से आये हुए प्रयोग भी किसी हद तक रूढ़ हो कर अपना स्थान बना चुके हैं, माखनलाल चतुर्वेदी अथवा 'नवीन' की भाषा की असम गति और उभर कर दीखती है; लेकिन हिन्दी-पाठक (और समकालीन कवि) की चेतना पर उनके काव्य ने प्रभाव डाला यह असन्दिग्ध है। उस में एक ओज और प्रवाहमयता है जो अभी तक अनुकरण को ललकारती है। परवर्ती काव्य-आन्दोलनों में ठेठ बोली और देहाती मुहावरे के बारे में जो कौतूहल और प्रयोग-तत्परता लक्षित होती है, उसे इन बुजुर्गों के उदाहरण से प्रेरणा न मिलती यह असम्भव था।

० ० ०

यहाँ तक हम ऐसी काव्य-कृतियों की बात करते आये हैं जिन्हें साधारणतया विषय-प्रधान कहा जा सकता है। यद्यपि विषय की प्रधानता सब में एक-सी रही, और कभी-कभी विषयी की चिन्तना या अनुभूति विशेष रूप से मुखर हो उठती है, तथापि इन कवियों को उन से, जिन्हें छायावादी कहा जाता है, जो बात पृथक करती है वह यही है। विषयी-प्रधान दृष्टि ही छायावादी काव्य की प्राणशक्ति है।

ऊपर हमने मूल्यों और प्रतिमानों के ह्रास और उन के स्थान पर नये मूल्यों और प्रतिमानों की स्थापना का उल्लेख किया है। विदेशी शिक्षा तो आयासपूर्वक पुराने मूल्यों को उच्छिन्न कर ही रही थी, पाश्चात्य विचारधारा का प्रभाव भी इसी दिशा में पड़ रहा था। ईश्वर-परक नैतिकता का स्थान मानव-परक नैतिकता ले रही थी, नयी नैतिकता की स्थापना धीरे-धीरे हो रही थी अत: एक स्वच्छन्दतावादी या कि नास्तिकवादी अन्तराल बढ़ता जा रहा था। महायुद्धोत्तर अव्यवस्था और नैराश्य ने इस अन्तराल को और बढ़ा दिया। फलतः संवेदनाशील कृतिकार में गहरा अन्तर्द्वन्द्व प्रकट हुआ। यह अन्तर्द्वन्द्व उसे साधारण जन से दूर भी ले गया, और इस दूरी के बोध ने अन्तर्द्वन्द्व को नयी तीव्रता भी दी। इस ने नये कवि में एक अभूतपूर्व मनोवैज्ञानिक व्याकुलता उत्पन्न की। छायावादी काव्य मुख्यतया इस व्याकुलता को अभिव्यक्त करने के प्रयत्नों का परिणाम था। 'छायावाद' नाम सर्वथा अपर्याप्त है, किन्तु साहित्यिक वादों के नाम प्रायः ही अपर्याप्त और अनुपयुक्त होते हैं और प्रचलन ही उन्हें अर्थ देता है। 'छायावाद' नाम भी पहले अवहेलनासूचक अर्थ में प्रयुक्त हुआ था।

छायावादी कवि की यह व्याकुलता नाना रूपों में प्रकट हुई। किन्तु उन में सामान्य बात यह थी कि विषयी की प्रधानता थी: सभी रूपों की मूल प्रेरणा वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति थी। वह वैयक्तिकता चाहे कल्पना की हो, चाहे चिन्तना की, चाहे अनुभूति की और चाहे स्वयं आध्यात्मिक व्याकुलता की ही। इस वैयक्तिकता के उत्थान में मानसिक और आध्यात्मिक व्याकुलता के अतिरिक्त सीधे विदेशी प्रभाव भी कारण हुए। अंग्रेजी रोमांटिक काव्य से परिचय होना भी एक महत्त्वपूर्ण कारण था। बल्कि यहाँ तक कहा जा सकता है कि विदेशी परम्परा से परिचय और अपनी परम्परा का अज्ञान (जो दोनों ही विदेशी शिक्षा के फल थे!) बहुत हद तक इस नयी प्रवृत्ति के, और इसलिए उस प्रवृत्ति के उपहास के भी, कारण बने। किन्तु आज, जब छायावादी कविता हिन्दी परम्परा की एक प्रतिष्ठित कड़ी है और हमारी काव्य-सम्पदा की एक बहुमूल्य वस्तु, तब हम, उपहास-वृत्ति छोड़ कर यह भी पहचान सकते हैं कि इन 'विदेशी' प्रभावों में वास्तव में अपने ही स्वरों की प्रतिध्वनियाँ भी थीं, केवल दूरी और विभिन्न माध्यमों के प्रभाव ने उन का रूप इतना बदल दिया था कि उन्हें पहचानना कठिन हो जाए!

अंग्रेजी रोमांटिक काव्य ने इटली और यूनान से, या फ्रांस और जर्मनी से छन कर आये हुए इन देशों के प्रभावों से, प्रेरणा ग्रहण की, पर स्वयं इन देशों में, बल्कि सारे पूर्वी यूरोप और भूमध्य-सागर तट-प्रदेश के साहित्य में, पश्चिम एशिया के प्रभाव क्रियाशील थे, और उन में पूर्व की देन काफी थी। रोमांटिक आन्दोलन का नया बहुदेवतावाद प्राचीन यूनानी साहित्य का प्रभाव-मात्र नहीं था, यह तो इसी से स्पष्ट होना चाहिए कि यूनानी 'क्लासिकल' साहित्य सर्दैव यूरोपीय साहित्य की पृष्ठिका में रहा और 'क्लासिकल' के प्रति विद्रोही ही तो 'रोमांटिक' हुआ। प्रश्न साहित्य से परिचय का नहीं था, साहित्य के प्रति नयी दृष्टि का था। जर्मनी में गयटे ने कालिदास की शकुन्तला को सम्बोधन कर के कविता लिखी, अथवा रूमानिया में ऐमेनेस्कू ने 'कामदेव' पर काव्य लिखा, इस का इटली या यूनान से कोई सम्बन्ध नहीं था। यह बात चौंकाने वाली हो सकती है पर निराधार नहीं कि यदि छायावादी आन्दोलन की एक प्रेरणा हिन्दी कवि द्वारा शेली और कीट्स का आविष्कार था, तो यूरोप के रोमांटिक आन्दोलन की एक प्रेरणा यूरोपीय कवि द्वारा कालिदास का आविष्कार था। नि सन्देह केवल एक प्रेरणा के आधार पर कोई व्यापक स्थापना करना भूल होगी, पर यह बात दोनों दिशाओं के प्रभाव के बारे में कही जा सकती है। वैसे हिन्दी पर रोमांटिक काव्य के प्रभाव में दूरागत भारतीय प्रतिध्वनि थी, इसे यों भी सिद्ध किया जा सकता है कि उस काव्य के द्वारा प्रभावित हिन्दी कवि फिर कालिदास की ओर लौटे—उन्होंने एक नयी दृष्टि से कालिदास को देखा और अपनाया, या कहें कि कालिदास का पुनराविष्कार किया। यह उल्लेख है कि कालिदास के हिन्दी-अनुवाद महावीरप्रसाद द्विवेदी प्रभृति जिन कवियों ने किये उन्हों ने कालिदास के बारे में नयी दृष्टि नहीं पायी; उन के लिए प्रबन्ध-काव्य भर रहा जिस में वृत्तान्त मुख्य था और वर्णन काव्य-लक्षणों की दृष्टि से अनिवार्य, बस। किन्तु छायावादी कवि ने कहानी मानो पढ़ी ही नहीं, कालिदास नामक ऐन्द्रजालिक द्वारा सशरीर आँखों के सामने ला खड़ी की गयी प्रकृति की अनिर्वचनीय मूर्ति को वह अपलक देखता रह गया। यहाँ भी नये परिचय का प्रश्न नहीं था, नयी दृष्टि का ही प्रश्न था। इसी लिए कालिदास के 'पुनराविष्कार' की बात कही गयी, इसी प्रकार नया युग नयी दृष्टि दे कर नयी अर्थवत्ता की प्रतिपत्ति करता है।

वास्तव में अंग्रेजी में, या साधारणतया यूरोप में, रोमांटिक भावना के अभ्युदय के अनेक कारण थे। किन्तु यहाँ यूरोपीय साहित्य के इतिहास का ब्योरा आवश्यक नहीं है। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि यद्यपि रोमांटिक आन्दोलन पर विज्ञान द्वारा बुद्धि के उन्मोचन का प्रभाव पड़ा, तथापि उस आन्दोलन की नयी दृष्टि का रहस्य बुद्धि के उन्मोचन में नहीं, भावना और कल्पना के उन्मोचन में, एक नयी संवेदना में था। इस के अतिरिक्त उसे उस नैतिक उन्मोचन से भी यथेष्ट सुविधा

मिली जो धर्म अथवा ईश्वर-परक नैतिकता के स्थान में प्रकृति-परक नैतिकता के अंगीकार का स्वाभाविक परिणाम था। रोमांटिक आन्दोलन की परिधि के भीतर भी, ज्यों-ज्यों प्रकृति-सम्बन्धी धारणा बदलती गयी त्यों-त्यों प्रकृत नैतिकता की अवधारणा भी बदलती गयी और परिणामतः नैतिक उन्मोचन ने एक अभूतपूर्व स्वच्छन्दतावाद का रूप लिया। प्रकृति एक भव्य कल्याणमयी शक्ति है; प्रकृति नीति-अनीति से परे का एक सहज आकर्षक बन्धन है, प्रकृति मूलतः पापात्म है किन्तु उस के मोहमय रूप के आकर्षण से कोई बच नहीं सकता, पाप ही जब प्रकृति है तब स्वेच्छापूर्वक उस का वरण ही प्रकृति-धर्म के अनुकूल आचरण है—इस परम्पर-क्रम में रोमांटिक आन्दोलन के उत्कर्ष और अधःपतन के पूरे इतिहास का निचोड़ है।

नैतिक उन्मोचन के नये और स्फूर्तिप्रद वातावरण में कलाकार की कल्पना स्वच्छन्द विचरण करने लगी। इस स्वच्छन्दता के नये प्रतीकों की खोज में कवि उन बहुदेवतावादी परम्पराओं की ओर मुड़ा जिन्हें ईसाइयत ने दबा दिया था। इन में एक ओर यूनानी देव-माला थी जिस से 'क्लासिकल' साहित्य के कारण समूचे यूरोप का शिक्षित वर्ग परिचित था। इस के देवता अधिकतर प्राकृतिक शक्तियों के देव-प्रतिम रूप थे और इस लिए उस वातावरण में सहज ही ग्राह्य हो सकते थे जिस में प्रकृति को एक नये प्रकाश में देखा जा रहा था। दूसरी ओर ईसा-पूर्व स्थानीय परम्पराओं के देवता अथवा देवाकार पूर्व-पुरुष थे—उदाहरणतया ट्यूटन अथवा नोर्स परम्परा के युद्ध और शान्ति के, प्रेम और ईर्ष्या के देवता। ये भी प्राकृतिक शक्तियों के देवता थे, क्यों कि ये मानव की सहज प्रवृत्तियों के अतिमानवी रूप थे। धर्म-मूलक नैतिकता के स्थान पर प्रकृत नैतिकता की प्रतिष्ठा की क्रिया में ये भी अनुकूल और उपयोगी प्रतीक देते थे। तीसरी ओर परम्पराओं का वह समूह था जिसे यूरोप की दृष्टि में 'पूर्वीय' कहा जा सकता है; इन में 'निकट-पूर्व' अथवा पश्चिम एशिया और भूमध्य सागर के दक्षिण-पूर्वीय तट से आने वाले प्रभाव भी थे और भारत अथवा चीन तक से आने वाले प्रभाव भी। निकट-पूर्वीय प्रभावों में इस्लाम धर्म बहुदेवतावादी नहीं था, परन्तु उस के प्रदेश में ऐसे अन्धविश्वासों की कमी नहीं थी जो स्वच्छन्दतावादी कल्पना को खुला क्षेत्र दे सकें। (इस अन्तर्विरोध को समझने के लिए हम स्मरण करें कि भारत में ही जब आक्रान्ता हो कर इस्लाम तलवार के ज़ोर पर अपने विशिष्ट एकेश्वरवाद का प्रचार कर रहा था, तब उसी के प्रचारकों का सांस्कृतिक प्रभाव हमारे आख्यान और लोक-कथा-साहित्य को जिन्न-भूत और परी-परिन्दों की चित्र-विचित्र कहानी से भर रहा था।) धर्म-युद्धों के काल में और बैजन्ती साम्राज्य के कारण पश्चिम एशियाई प्रभाव विशेषतया दक्षिण यूरोप में पहले से सक्रिय थे। भारत-चीन के प्रभाव कुछ तो यूनान से प्राचीन परिचय के कारण बीज-रूप में रहे ही होंगे; कुछ अरब और पुर्तगेज़ी नागरिकों के

साथ पश्चिम एशिया से छन कर (और रूपान्तरित अथवा विकृत हो कर) ही यूरोप मे पहुँचे: जहाँ उन की दूरी उन के आकार अस्पष्ट करती थी, वहाँ कल्पना को मनमाने आकार गढ़ने की सुविधा भी देती थी।

इग्लैंड मे रोमांटिकवाद का झुकाव पहले और प्रधानतया यूनानी-इटालीय परम्परा की ओर हुआ, किन्तु, जैसा कि पहले कहा जा चुका, ये देश स्वयं पूर्व से प्रभावित हो रहे थे। परवर्ती अंग्रेज़ी कवियो पर फ़ासीसी रोमांटिकवाद की छाप गहरी थी और उस मे पश्चिम एशिया (और उत्तर अफ्रीका) के प्रभाव गहरे थे। जर्मन रोमांटिक काव्य मे ट्यूटन परम्पराओ का प्रतिबिम्ब स्पष्ट है, उस के अतिरिक्त पूर्व के प्रभाव भी पर्याप्त थे। कॉलरिज के काव्य मे भारत और चीन की ओर संकेतो की भरमार है, कीट्स पर यूनानी (हेलेनिक) प्रभाव मुख्य है, शेली पर इस्लाम का प्रभाव उल्लेख्य है (भले ही इस्लाम की उस की अवधारणा बिलकुल अनैतिहासिक हो), और इस का भी प्रमाण है कि उपनिषदों के अनुवाद उस ने पढ़े थे (दारा शिकोह के अनुवादो के फ़ासीसी अनुवाद प्रायश रोमांटिक कवियो ने पढ़े, उत्तर रोमांटिको ने अमरुक के अनुवाद भी)। बायरन मे विभिन्न प्रभाव लक्ष्य है और फ़ासीसी आन्दोलन से उसका निकट सम्बन्ध है, स्विनबर्न और रोज़ेटी भी अनेक प्रभावो को प्रतिबिम्बित करते हैं। गयटे और शिलर की पूर्वाभिमुखता असन्दिग्ध है। इन सभी के साहित्य से भारत का शिक्षित वर्ग परिचित था। फ़ासीसी रोमांटिक कवियो का और उत्तरकालीन यूरोपीय रोमांटिकों अथवा सम्बद्ध सम्प्रदायो का अध्ययन रोमांटिक काव्य-परम्पराओ के परस्पर प्रभावो के बारे मे हमारी स्थापना और पुष्ट करता, किन्तु यहाँ उस का ब्योरा आवश्यक नही है क्यो कि हिन्दी का छायावादी कवि उन से विशेष परिचित नही था और उस के उन से प्रभावित होने का प्रश्न ही नही उठता (सिवाय इस के कि अगर माइकेल मधुसूदन दत्त और तरु दत्त यूरोपीय रोमांटिको से प्रभावित हुए थे या उनके अनुवाद भी कर गये, और इन दोनो का काव्य छायावादी का परिचित रहा, तो एक प्रश्न बचा रह जाता है)। हाँ, हिन्दी की अत्याधुनिक प्रवृत्ति के अध्ययन मे वैलेरी और वर्लेन और बोदलेयर की कृतियाँ अवश्य अपना महत्त्व रखेंगी।

◇ ◇ ◇

भारतीय और यूरोपीय साहित्यों के परस्पर आदान-प्रदान के परिपार्श्व मे, उन्नीसवी शती के अंग्रेज़ी साहित्य ने किस प्रकार हिन्दी मे छायावाद के आविर्भाव मे योग दिया, यह ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा। अंग्रेज़ी शिक्षा ने भारतीय पाठक का परिचय केवल समकालीन पश्चिमी साहित्य से नही वरन् एक साथ ही उसकी पूरी परम्परा से कराया था, इस लिए विभिन्न प्रभावों का सकुल उपस्थित होना स्वाभाविक था। पर साहित्यों या संस्कृतियों के प्रभाव में यह

बात भी महत्व रखती है कि परिस्थिति कहाँ तक किस प्रभाव के ग्रहण के अनुकूल है ऐसा हो सकता है कि कोई बीज युगों के बाद सहसा अंकुरित हो उठे—जैसा कि कालिदास के विषय में ऊपर देखा जा चुका है।

तो छायावाद मुख्यतया पश्चिम से प्रभावित नयी व्यक्ति-परक दृष्टि का परिणाम था। किन्तु वह केवल विदेशी परम्परा में एक स्वदेशी कड़ी जोड़ने का प्रयत्न नहीं था, नये छायावादी कवि के पास अपना नया वक्तव्य अवश्य था और उसे कहने की तीव्र उत्कंठा भी। जिन कवियों में निष्ठा थी वे उपहास और अवमानना से संकल्प-च्युत न हो कर नये सामंजस्य के शोध में लगे रहे और क्रमशः जो अटपटा और अपरिचित जान पड़ता था उसे आत्मीय और प्रीतिकर बनाने में सफल हुए।

छायावादी के सम्मुख पहला प्रश्न अपने कथ्य के अनुकूल भाषा का—नयी संवेदना के नये मुहावरे का—था। इस समस्या का उसने धैर्य और साहस के साथ सामना किया। उपहास और अवमानना से च्युत-संकल्प न हो कर उस ने अपनी बात कही, और जो कुछ कहा उस के सुनिश्चित कारण भी दिये। क्रमशः उस की साधना सफल हुई और जो एक दिन उपहासास्पद समझे जाते थे आज हिन्दी के गौरव माने जाते हैं। छायावादी कवियों ने भाव, भाषा, छन्द और मण्डन-शिल्प सभी को नया संस्कार दिया; छन्द, अलंकार, रस, ताल, तुक आदि को गतानुगतिकता से उबारा, नयी प्रतीक-योजना की स्थापना की। इस प्रकार काव्य की वस्तु और रूपाकार दोनों में गहरा परिवर्तन प्रस्तुत हुआ।

छायावाद के चार प्रमुख कवि हैं—जयशंकर 'प्रसाद', सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानन्दन पन्त और महादेवी वर्मा। वैयक्तिकता के काव्य में यह अस्वाभाविक नहीं कि चारों एक वर्ग के हो कर भी परस्पर इतने भिन्न हों।

स्वर्गीय जयशंकर 'प्रसाद' के काव्य में वह उन्मुक्त स्वच्छन्द भाव नहीं है जो अन्य छायावादी कवियों में पाया जाता है, यद्यपि संसार की रूप-माधुरी को आकण्ठ पान करने की लालसा उन की कविता में स्पष्ट है। इस का एक कारण तो अतीत के प्रति, और विशेष रूप से बौद्ध उत्कर्ष-काल के प्रति, उन का आकर्षण है। जहाँ इस आकर्षण के कारण वह उस काल के मोहक और मादकता-भरे चित्र प्रस्तुत करते हैं वहाँ हम यह भी पाते हैं कि उस से एकात्म हो कर वह अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों के प्रति एक संकोच का अनुभव करते हैं। उन की आरम्भिक रचनाओं में तो इस संकोच का बन्धन इतना कड़ा है कि बहुधा जान पड़ता है कि वह जो कहना चाहते हैं वह नहीं पाते, मण्डन और सज्जा का एक भारी आवरण उन के भावों पर है जो स्वयं तो लुभावना हो सकता है पर प्रकाशन में सहायक नहीं होता। इस संकोच या भिझक का दूसरा कारण भाषा की अपर्याप्तता भी थी जिस का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। फिर सामाजिक परिस्थिति के साथ असामंजस्य भी एक कारण रहा एक ओर वह देश-काल की सीमाओं से परे किसी कल्पना-लोक

मे विचरण करने की आकाक्षा जगाता था तो दूसरी ओर प्रकृत आकाक्षाओं की सहज अनुभूति को सकुचित करता था। इन दोनों प्रवृत्तियो की चरम परिणति क्रमश पलायनवाद और निराशावाद मे होती है। सौन्दर्य उपभोग्य है, इस विषय मे 'प्रसाद' कभी द्विधा मे नही थे, न रूपाकर्षण को ले कर कोई गाँठ उन के मन मे पड़ी; वह निरन्तर 'पार्थिव सौन्दर्य को स्वर्गीय महिमा से मडित' कर के देखते रहे। अत वह पलायनवादी निराशावादी न हुए, पर असामजस्य के अनुभव ने उन्हे भी अपने भावो को आध्यात्मिकता के आवरण मे व्यक्त करने को प्रेरित किया। भावनाओ को मूर्त रूप दे कर स्वतन्त्र कर्त्ता के रूप मे उन का वर्णन करना इसी प्रवृत्ति का एक रूप है, और यह समान रूप से सभी छायावादी कवियो मे लक्षित होती है। 'प्रसाद' जी इस से आगे भी बढे, आरम्भ मे जो केवल एक आवरण था, गम्भीर चिन्तन और मनन के कारण एक तत्त्वदर्शन बन गया' निजी अनुभूति से ऊपर उठ कर उन्हो ने एक परम प्रेममय, परम आनन्दमय का आभास पाया और उन का काव्य उसी के प्रति निवेदित हुआ। इसी कारण उन का काव्य अतृप्ति का काव्य नही हुआ, जैसा कि कम समर्थ कवियो का हो गया जिन के कारण छायावाद के ग्राह्य होने मे और भी देर लगी।

छायावाद का स्वच्छन्दतावादी पक्ष अपने पुष्ट और सबल रूप मे श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के काव्य मे व्यक्त होता है। अपने समूचे कृतिकाल मे वह अपना कविनाम सार्थक करते हुए एक अविराम विद्रोह-भावना के कवि रहे' किसी भी क्षेत्र मे गतानुगतिकता उन्हे अवमान्य हुई और एक प्रखर व्यक्तित्व की ओजभरी और दुर्दान्त अभिव्यक्ति से उन्हो ने पाठक और आलोचक को अभिभूत कर दिया। किन्तु व्यक्तित्व की निर्बाध अभिव्यक्ति के इस कवि मे व्यक्ति-वैचित्र्य की चेतना बहुत कम रही; सहज भाव से ही उस तेजस्वी व्यक्तित्व की विशिष्टता और शक्ति प्रतिभासित हो गयी। अनुभूति की तीव्रता के कारण उन के आवेग प्राय निरकुशता की सीमा पर रहते थे, और 'छन्द के बन्ध' के प्रति कवि की घोर अनास्था इस खतरे को और भी बढा देती थी। किन्तु वास्तव मे कवि का मुक्ति का आग्रह बाह्य प्रसाधन के प्रति विद्रोह था, आन्तरिक सयम की अवज्ञा नही, उन के मुक्त छन्द मे भी एक झकार और ताल विद्यमान था। और क्रमश उन की रचनाओ मे एक और गहरा सयम भी लक्षित हुआ—उन के कथा-काव्य मे : घटनाओं की पूर्वापर सगति ने अनिवार्यत· अकुश का काम किया और इस प्रकार सधी हुई शक्ति का जो आभास उन के कथा-काव्य मे मिला वह अतुलनीय हुआ। 'राम की शक्ति-पूजा' जैसी रचनाएँ हिन्दी मे नही हैं। निष्कम्प सन्तुलन के साथ आवेगो की ऐसी तीव्रता और भाषा का तदनुकूल प्रवाह दुर्लभ है। स्फुट गीत सर्वत्र ऐसे विमुग्धकारी नही हुए; और उन मे दुरूहता और दुर्बोधिता भी थी और कही-कही असम्बद्धता या विसगति भी (जिस से अपेक्षया लम्बी काव्य-कथाएँ भी

मुक्त नहीं थी), किन्तु उन में भी जो सफल प्रगीत थे वे मानो खड़ी बोली के पाठक के लिए एक नया अनुभव हुआ। बंगला-साहित्य के गहरे अध्ययन का भी उन की रचनाओं पर प्रभाव रहा बंगला के स्वच्छन्दतावादी और रहस्यवादी काव्य ने उन की भाषा और विचार-सयोजन को एक विशिष्ट दिशा देने में योग दिया। परवर्ती कविता में लोक-भाषा की ओर जाने का नया प्रयास दीखा, और पुष्टतर सामाजिक चेतना उन्हे तीखे व्यग्य और कटाक्ष की ओर भी प्रेरित करती रही।

छायावाद की शक्ति का प्रतिनिध जहाँ 'निराला' ने उपस्थित किया, वहाँ उस की सूक्ष्म सवेदना श्री सुमित्रानन्दन पन्त में लक्षित हुई। पाश्चात्य रोमांटिकवाद ने किस तरह इस कवि की हिन्दी कविता को प्रभावित किया, इसे समझने के लिए भी पन्तजी का काव्य ही अध्येय है। रोमांटिसिज़्म को 'द रनैसेंस आफ वंडर'—आश्चर्य-कौतूहल का पुनरुज्जीवन कहा गया है। पन्तजी के प्रथम काव्य-सग्रह का (बल्कि पहले दो सग्रहो का) इस से अच्छा वर्णन नहीं हो सकता, मानव और प्रकृति के सौन्दर्य के प्रति एक ऋजु कौतूहल उन का मूल स्वर था। सौन्दर्य के प्रति 'निराला' में एक पौरुष-दृप्त जयी का भाव था, 'प्रसाद' में पारखी उपभोक्ता का; पन्त में उस की अन्तर्निहित शोभा के प्रति एक मुग्ध अकृत्रिम विस्मय का भाव है। आरम्भिक अंग्रेज़ी रोमांटिक कवियों के साथ तुलना को और आगे बढ़ाना हो, तो 'पल्लव' की भूमिका की वर्ड्सवर्थ और कॉलरिज के 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका के साथ तुलना की जा सकती है : छायावाद की दृष्टि को स्पष्ट करने और उस के आन्दोलन को ग्राह्य बनाने में इस भूमिका ने वही काम किया जो रोमांटिक दृष्टि और आन्दोलन के लिए कॉलरिज-वर्ड्सवर्थ ने किया था। पन्तजी ने इस भूमिका में शब्दों की प्रकृति और उन की अर्थबोधन-क्षमता, छन्द, तुक और ताल का नयी दृष्टि से विवेचन किया, और उस के द्वारा समवर्ती काव्य-रसिक को नयी दृष्टि दी।

पन्तजी मूलतः गीतिकाव्य के कवि रहे। यह गीति-कार्व्यात्मकता वर्ड्सवर्थ और शैली से प्रभावित हुई यह असन्दिग्ध है : उन के अनेक लाक्षणिक प्रयोग और प्रतीक-योजनाएँ भी अंग्रेज़ी रोमांटिक काव्य का प्रभाव सूचित करती हैं। किन्तु यह प्रभाव अनुकरण कदापि नहीं है ; उन काव्य की विशेषता को स्वायत्त कर के एक नयी दृष्टि प्राप्त कर के पन्तजी आगे बढ़े हैं। भारतीय परम्परा से पहले से भली-भाँति परिचित होने के कारण वह यों भी निरे नयेपन के आकर्षण से नहीं बह सकते थे, और एक सचेत कलाकार के नाते वह निरन्तर नवीन विचारों के साथ अपनी साहित्यिक परम्परा का सामञ्जस्य भी खोजते गये। व्याप्ति पाती हुई उन की दार्शनिक दृष्टि उन के काव्य को तीन सोपानों पर ले गयी है। सौन्दर्य-बोध पर समाज-बोध हावी हुआ, और फिर उन पर अध्यात्म-बोध। आरम्भ के मुग्ध विस्मय का स्थान पहले एक शान्ति-ज्ञान ने लिया, और फिर एक व्यापक कल्याण-भावना

ने। इस सक्रमण मे बीच-बीच मे सहज कौतूहल मानो फूट कर निकलता रहा—और सौन्दर्य के प्रति कौतूहल ने केवल रूप-कौतूहल का नही, शब्द-कौतूहल, ध्वनि-कौतूहल, नाद-कौतूहल का भी रूप लिया—किन्तु अब उस की शान्तोदात्त गति मानो कल्पना की रंगीनी और आवेगो की चचलता से ऊपर उठ गयी है वह केवल एक अनिर्वचनीय आध्यात्मिक उन्मेष और आनन्द का सृजन करती है।

रामकुमार वर्मा भी छायावादी परम्परा के कवि हैं। उन की प्रतिभा की मुख्य अभिव्यक्ति नाटक के क्षेत्र मे हुई है, उन की कविता मे उच्च कोटि का परिमार्जन और सौष्ठव और अपना विशिष्ट व्यक्तित्व रहते हुए भी उस कोटि की मौलिकता नहीं है जो कि 'निराला' और पन्त के काव्य की मूल शक्ति रही। रामकुमार वर्मा नया मार्ग बनाने वाले नही, प्रशस्त मार्ग का अनुसरण करने वाले रहे है, यह कथन उन के काव्य के गुणों को और साथ-साथ उन के कृतित्व की मर्यादा को सूचित करता है। छायावाद की भाव-प्रवण सहजता उन मे एक नियन्त्रित और अलकृत रहस्यवादिता के रूप मे प्रकट होती है कवि की सवेदना को सदैव कलाकार का रूप-बोध सस्कार देता रहता है, और कभी तो सवेदना केवल एक निर्दिष्ट रूपाकार मे हल्के-हल्के रंग भरती है। 'गीत' के प्रतिमान और 'कविता' के प्रतिमान मे अन्तर अपार नही है।

छायावाद के उपर्युक्त कवि सहज ही दो धाराओ मे बँट जाते है, यद्यपि जैसा कि हम पहले भी कह आये हैं, सब की वैयक्तिकता विशिष्ट है। भावी इतिहासकार कदाचित् 'निराला' और 'पन्त' को ही छायावाद के प्रतिनिधि कवि मानेगा, क्यो कि उस का शुद्ध रूप उन्ही मे प्रकट होता है। 'प्रसाद' का ऐतिहासिक ग्रह उस उच्छ्वसित वैयक्तिकता के आडे आता है जो छायावाद का मूल लक्षण है, महादेवी वर्मा मे भी 'प्रसाद' की भाँति एक सकोच है जिस का स्रोत दूसरा है। उन मे तीव्र सवेदना है और उन का क्षेत्र भी गीति-काव्यात्मक है पर सवेदना की अपनी मर्यादाएँ होती है। सकोच—जिस के मूल मे वही आशका है कि भावो की सहज अभिव्यक्ति पाठक का अग्राह्य होगी और वह उसे सहानुभूति न दे सकेगा—उन्हे भी प्रतीको का आश्रय लेने को बाध्य करता है। वह भी अपने भावावेगो को दबाती या आवृत करती हैं, और मनोवृत्तियो को मूर्त रूप दे कर उत्तम पुरुष मे उन के क्रिया-व्यापारो का वर्णन कर के तटस्थता या विषयि-निरपेक्षता का आभास उत्पन्न करती हैं। किन्तु यह बात भी उन के पहले के काव्य के विषय में ही कही जा सकती है। उन मे सहज-प्रेरित सूक्ष्म सवेदना तो थी, पर मुक्त अभिव्यक्ति को सम्भव बनाने वाला नि सशय आत्म-विश्वास नही ; फलत उन के काव्य की दिशा उत्तरोत्तर अन्तर्मुख होती गयी और पीछे के काव्य को छायावादी न कह कर रहस्यवादी कहना ही उचित होगा। उस मे भावोच्छ्वास क्रमश कम होता गया है, प्रतीकों का उत्तरोत्तर अधिक सहारा लिया गया है। उन का काव्य एक

'चिन्तन' और 'असीम' प्रिय के प्रति निवेदित है जिसमें अशेष कोमलता है। नारी प्रकृति उस की प्रतीक्षा में निःस्तब्ध सजगता से खड़ी है, आसन्न मिलन और आसन्न विरह के दो ध्रुवों में दोलायित जीवन की धूप-छाँह ही उन के काव्य की वर्ण्य वस्तु है।

० ० ०

मानव की प्रतिष्ठापना के काव्य की और गहरी पड़ताल करने पर हम देखते हैं कि इस आन्दोलन के चलते-चलते ही हमारी मानव-सम्बन्धी धारणाएँ बदलती गयीं और प्रतिष्ठा का अर्थ तो बदला ही। फलतः मानव की प्रतिष्ठा का समान आग्रह करने वालों में भी कई दल हो गये जो न केवल परस्पर भिन्न वरन् बहुधा उग्र विरोधी भी।

'मानव की प्रतिष्ठा' का पहला और व्यापक अर्थ था मानव-समाज के आधारभूत नैतिक मूल्यों का पुनः परीक्षण और एक नये लौकिक आधार पर उन की स्थापना, अथवा दैव-सम्भूत नैतिकता के बदले मानव-सम्भूत नैतिकता की प्रतिष्ठा। व्यापक दृष्टि से भी इस परिवर्तन के दो सोपान रहे: पहले लोकोत्तर नियमों अथवा ऋत का स्थान प्राकृतिक नियमों अथवा विज्ञान ने लिया, फिर प्रकृति के स्थान में मानव की प्रतिष्ठा हुई। परिवर्तन के इन दो सोपानों को ध्यान में रख कर ही हम उस वैविध्य को समझ सकते हैं जो इस काल की साहित्यिक प्रगति में लक्षित हुआ।

विज्ञान द्वारा प्राकृतिक नियमों के शोध का जहाँ एक ओर यह परिणाम हुआ कि संसार के घटना-चक्र को हम विधि की कामता या स्वैर गति से सचालित न मान कर प्राकृतिक नियमों द्वारा सचालित मानने लगे और समझने लगे कि जीवन की प्रगति में एक स्पष्ट कार्य-कारण-परम्परा और सगति है, वहाँ दूसरी ओर यह भी एक परिणाम हुआ कि प्रकृत प्रत्यक्ष की अनैतिकता या अतिनैतिकता ने हमारे सदसद् विवेचन को निरर्थक सिद्ध कर दिया। पुण्य पुरस्कृत होता है, पाप का दंड मिलता है (इस लोक में या परलोक में), यह मानना असम्भव हो गया: यह असन्दिग्ध था कि प्रकृति पापी और पुण्यवान् में कोई भेद नहीं करती। 'प्रकृति अतिनैतिक है,' विज्ञान की इस पहली स्थापना से बढ़ कर साहित्यकार का यह मान लेना कि 'प्रकृति पापवृत्ति' है शोचनीय भले ही रहा हो, सर्वथा अकल्पनीय तो नहीं था। इस प्रकार पाश्चात्य विज्ञान के बुद्धिवाद ने ही उस रोमांटिक प्रवृत्ति को प्रोत्साहन (और अपना पक्ष पुष्ट करने का उपकरण) दिया जो उस के विरोध में खड़ी हुई। निस्सन्देह प्राकृतिक नियमों के शोध में अग्रसर होते हुए विज्ञान ने हमें नये नैतिक मूल्य दिये, और रोमांटिक आन्दोलन की यह पाप-पूजा की आवृत्ति क्रमशः मरणोन्मुखता के दलदल में विलीन हो गयी—किन्तु इस बीच इस ने सारे यूरोप के साहित्य को आक्रान्त किया। और जहाँ यह इतने स्पष्ट रूप में नहीं भी

खड़ा किया गया ; पर पाप के आकर्षण के लुभावने चित्र प्रस्तुत किये गये, और उस आकर्षण के सम्मुख मानव की दुर्बलता या असहायता को कारुणिक रूप में प्रस्तुत कर के उस के लिए संवेदना की माँग की गयी। विज्ञान की प्रत्यक्ष प्रेरणा से जागे हुए विस्मय के भाव के साथ-साथ प्रच्छन्न मार्ग से आयी हुई मानव के असहाय प्रेम और कारुणिक कामना की यह भावना भी रोमांटिक आन्दोलन की एक मुख्य विशेषता रही। और आन्दोलन की अन्य विशेषताओं के साथ इस की भी अनुगूँज (भले ही बहुत दूर से और बहुत देर में आयी हुई) भारतीय साहित्यों में पहचानी जा सकती है।

निस्सन्देह करुण प्रेम के चित्रण के मूल में ('करुण है हाय प्रणय'—पन्त) सामाजिक रूढ़ियों, निषेधों और विरोधों की नयी चेतना भी रही जिस ने कवि को उन घटनाओं की ओर देखने की प्रेरणा दी जिन्हें पहले का कवि अनदेखा कर जाता था, और जिस ने उसे यह भी दिखाया कि वे रूढ़ियाँ और निषेध जीर्ण, अनुचित, अमान्य और खण्डनीय हैं, कि प्रेम का करुण होना नितान्त अनावश्यक है—बल्कि करुणा इसी में है कि जीर्ण रूढ़ियों को न तोड़ कर मानव व्यर्थ में ही उन का बोझ ढोता चलता है।

नयी सामाजिक चेतना का प्रभाव तो स्पष्ट था ही और क्रमशः स्पष्टतर होता गया; पर उस के उन्मेष के कारण भी विविध थे। उन की चर्चा हम अभी करेंगे। उस से पहले स्वच्छन्दतावाद के एक और उपेक्षित पक्ष की ओर संकेत कर देना उचित होगा। हमारे राष्ट्रीय काव्य पर अन्य प्रभावों के साथ एक प्रभाव यह भी था। विदेशी दासता के प्रति रोष, विगत गौरव की कसक, नये सांस्कृतिक अभिमान के साथ-साथ एक बलवती काव्य-प्रेरणा इस स्वच्छन्दता की भी थी। जहाँ एक ओर इस से प्रेरित कवि अपने 'फक्कड़पन', 'दीवानापन', 'मस्ती', 'अलमस्त फकीरी' का दावा करता था, वहाँ इसी के कारण वह स्वातन्त्र्य का भी दावा करता था, अर्थात् अपने स्वच्छन्दता के आदर्श को वह आध्यात्मिक पहनावे में फकीरी या अनिकेतत्व का दावा कर के, सामाजिक पहनावे में फक्कड़पन या दीवानगी का दावा कर के और राजनीतिक पहनावे में विद्रोह या 'शहादतेवतन' का दावा कर के उपस्थित करता था। छायावाद के आरम्भ के कवियों में यह बात उतनी स्पष्ट नहीं थी; उन के सम्मुख मुख्य प्रश्न काव्य के तत्कालीन बहिर्मुख परिवेश के विरुद्ध अपनी अन्तरोन्मुखता का आग्रह करना, और गीति-तत्त्व की प्रतिष्ठा के उपयुक्त भाषा का निर्माण करना ही था। इस के अतिरिक्त भारतीय चिन्तन और दर्शन के संस्कार उन के अधिक गहरे थे, इतर पश्चिमी प्रभाव, चिन्तन के उतने नहीं जितने कृति-साहित्य के थे। छायावाद के प्रमुख कवियों में पन्त ने ही अपनी सूक्ष्मतर संवेदना के कारण इन प्रभावों को ग्रहण कर के अभिनव रचनात्मक रूप दिया। फिर छायावाद के आरम्भ के कवियों में राष्ट्रीयता या राष्ट्रीय स्वाधीनता का

आग्रह भी उतना नहीं था, उन्हों ने सांस्कृतिक पुनरुज्जीवन पर ही अधिक बल दिया। रोमांटिक स्वच्छन्दतावाद और राष्ट्रीय विद्रोहवाद का सम्बन्ध हम जितना स्पष्ट आतंकवादी विप्लव आन्दोलनों में देख सकते हैं, उतना ही समवर्त्ती साहित्यिक कृतियों में भी। नज़रुल इस्लाम का 'भगवान् के वक्ष पर पदचिह्न आँक देने' वाला विद्रोही भृगु, 'नवीन' का 'कारावासी लौह-शक्ति', 'मस्त फ़क़ीर', भगवतीचरण वर्मा का 'मस्ती का आलम साथ लिये', 'बन्धन तोड चलने' वाला 'दीवाना', और 'बच्चन' का 'लहरों से उलझने को फड़कती भुजाओं' वाला अधीर तीरवासी—ये सब सगे नहीं तो धर्म-भाई अवश्य हैं और इन्हें मिलाने वाला धर्म स्वच्छन्दतावाद है। इतना ही नहीं, अविराम अटनशील यात्री का जो प्रतीक हम न केवल इन कवियों में वरन् नरेन्द्र शर्मा और 'सुमन' में भी पाते हैं (कहीं वह शापग्रस्त है, कहीं नियति से बँधा, कहीं पथ के रहस्यमय आकर्षण से मर्यादित), वह भी रोमांटिक साहित्य की देन है। इन परवर्त्ती कवियों ने पाश्चात्य साहित्य (काव्य और अकाव्य) अधिक पढ़ा और भारतीय चिन्तन-परम्परा से इतनी प्रेरणा नहीं पा सके, अतः उन की रचनाओं में उन प्रभावों को पहचानना कम कठिन है जो क्रियाशील उन से पहले भी थे।

किन्तु साहित्यिक प्रभावों में अधिक गहरा और तीव्र प्रभाव सामाजिक-ऐतिहासिक परिस्थितियों का था, जो बड़ी द्रुत गति से बदल रही थीं। वैज्ञानिक शोधों के कारण जीव-जगत् में मानव के स्थान के विषय में धारणाएँ मूलतः बदल गयी थीं, और दूसरी ओर यन्त्र उद्योगों के विकास से सामाजिक सम्बन्ध बड़ी तेज़ी से बदल रहे थे—अर्थात् मानव-समाज में व्यक्ति के स्थान के विषय में नयी धारणाएँ बन रही थीं। प्राणि-जगत् की योजना में मानव के स्थान का नया निरूपण एक प्रकार की आध्यात्मिक क्रान्ति था। उस में जीव मात्र के प्रति एक नये भाव का उदय हुआ और नये मानव-सम्भूत नैतिक मूल्य प्रतिष्ठित होने लगे। नीति-स्रोत ईश्वर के स्थान पर जो नीति-निरपेक्ष प्रकृति बिठा दी गयी थी, उस का स्थान फिर नैतिक मानव को दिया गया। इस वैज्ञानिक मानववाद ने नये मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा की, और एक आत्मानुशासित नीतिवान् मानव व्यक्ति की परिकल्पना करने लगा। 'वास्तव में मानव ऐसा नहीं पाया गया, फिर भी उस की प्रबोधन की सम्भावनाएँ असीम हैं और ज्यों-ज्यों वह प्रबुद्ध होता जायेगा त्यों-त्यों वह स्वतः अधिक नीतिवान् होता जायेगा', ऐसा इस नये मानववाद का आग्रह था। दूसरी ओर, यन्त्र-उद्योगों ने श्रम-सम्बन्धों के विषय में जो नयी दृष्टि दी, वह वर्ग-संघर्षों पर आधारित सामाजिक क्रान्ति का स्रोत बनी। इस ने सामूहिक कर्म को ही महत्त्व दिया और व्यक्ति के विकास के आग्रह को भ्रान्त और असामाजिक प्रवृत्ति घोषित किया। दोनों प्रकार के आग्रह मानव की प्रगति की ओर तीव्रता दे सकते या अपना स्वतन्त्र सन्तुलन स्थापित कर सकते, किन्तु राजनैतिक घटना-चक्र ने

परिस्थिति को दूषित कर दिया और सामाजिकता का स्वस्थ आग्रह, राजनैतिक सगठन द्वारा नियन्त्रण का मतवाद बन गया।

इस संघर्ष की जो निष्पत्ति हुई, उसने काव्य-प्रगति के अगले चरण को प्रभावित किया। उत्तर छायावाद काल के कवियो की काव्य-रचना इसी सघर्ष की पृष्ठिका पर हुई। सघर्ष का बोध इन की रचनाओ मे लक्षित हुआ, और समय-समय पर विभिन्न कवियो ने उसके सम्बन्ध मे, या उस से प्रेरित, विचार भी प्रकट किये। कभी परस्पर-विरोधी विचार भी प्रकट किये गये, और कभी ऐसा भी हुआ कि कवि ने अपने रचना-कर्म को दो खडो मे बाँट दिया। यह विभाजन कवि के अनिश्चय अथवा द्विभाजित मानस का ही प्रतिबिम्ब था, और प्राय कवि को स्वय अपनी स्थिति का बोध भी रहता था। वह दो प्रकार की रचना करता था, एक को वह स्वय 'क्षयग्रस्त' या 'रोमानी' कह कर उस के प्रति अवहेलना दिखाता, तो दूसरी को वही 'सामयिक प्रवृत्ति के अनुकूल' अथवा 'वाद को पुष्ट करने के लिए लिखी गयी' बता कर अवमान्य ठहरा देता।

◇ ◇ ◇

इन कवियो मे श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान ही पाश्चात्य प्रभाव से मुक्त थी और उन की 'राष्ट्रीयता' राजनीतिक राष्ट्रवादिता की अपेक्षा शुद्ध भारतीयता ही अधिक थी। उन के काव्य में प्रसाद गुण भी था और ओज गुण भी स्त्री-कवियो मे वह अपने ढग की अद्वितीय रही। राष्ट्रीय अथवा भारतीयता की कविताओं के अतिरिक्त उन की अन्य रचनाओ को एक ऋजु ममत्व, एक व्यापक वात्सल्य अनुप्राणित करता है। सियारामशरण गुप्त के उपन्यासो की सहज आत्मीयता का काव्यात्मक प्रतिरूप सुभद्राकुमारी चौहान की कविताओ मे मिलता है।

रामधारीसिंह 'दिनकर' के काव्य की मस्ती और तीव्र सामाजिक चेतना—जो कभी-कभी आक्रोश की सीमा तक पहुँच जाती है और जिस के कारण उन्होंने सामाजिक व्यग्य की कविता भी लिखी—उन्हे अपने समवर्ती कवियो से सम्बद्ध करती है। किन्तु इस के बावजूद वह एक विशेष कारण से अपने समवर्त्तियो से पृथक् हो जाते हैं। यहाँ हमारा इगित उन के राष्ट्रीयतावादी या उद्बोधन काव्य की ओर अथवा उन की सामाजिक मगलाकाक्षा की ओर नही है, बल्कि इस बात की ओर कि एक व्यक्तिवादी वातावरण मे आगे आ कर भी उन्हो ने न केवल व्यक्ति-वादी दृष्टि को अपनाया नही बल्कि उस का प्रत्याख्यान भी किया। कहा जा सकता है कि मस्ती और ओज के उपासक, पौरुष के दर्प के कवि हो कर भी उन्होने स्वच्छ-न्दतावाद का दर्शन नही अपनाया। प्रवृत्तिगत भेदो के रहते हुए भी, किसी को भी यदि मैथिलीशरण गुप्त का उत्तराधिकारी कहा जा सकता है तो 'दिनकर' को ही। 'कुरुक्षेत्र' इस कथन को और भी बल देता है। वह उस अर्थ मे कथा-काव्य नहीं है जिस अर्थ मे 'साकेत' कथा-काव्य है। क्यो कि उस मे घटना-वर्णन तो है ही नही;

न ही वह 'यशोधरा' के ढंग का कथा-काव्य है जिस में घटनाओं का वर्णन तो नहीं है, पर विभिन्न पात्रों की विभिन्न समय की मन स्थितियों के वर्णन द्वारा अप्रत्यक्ष रूप में घटना-प्रवाह सूचित कर दिया गया है। 'कुरुक्षेत्र' वास्तव में एक नाटकीय संवाद है, उस की नाटकीय तीव्रता ही उस के मानसिक ऊहापोह और तत्त्व-चिन्तन को नीरस होने से बचा लेती है और उस कथा को मानो मूर्त कर देती है जो उस के पीछे घटित हुई है और उस स्थिति को लायी है जिस में संवाद हो रहा है। किन्तु फिर भी 'कुरुक्षेत्र' परिपाटी सम्मत प्रबन्ध-काव्यों से सर्वथा भिन्न और गुप्तजी के काव्यों के निकट है क्यों कि उन की दृष्टि में साम्य है और वह मानवता और मानवीयता की प्रतिष्ठा करते हैं। यही बात आवश्यक परिवर्तन के साथ 'उर्वशी' के बारे में भी कही जा सकती है, वह भी नाटकीय संवाद है जिस का तत्त्व-चिन्तन उस की नाटकीयता पर और कहीं तो उस की संवादिता पर भी बहुत ज़ोर डालता है। यहाँ 'दिनकर' की एक विशेषता की ओर ध्यान दिलाना उचित होगा जो कि पर्ववर्तियों की तुलना में उन की मर्यादा भी बना। दिनकर' ने वृत्त-काव्य को भी और मुक्तक को भी विचारों का वाहन बनाया है, इस अर्थ में कहा जा सकता कि वह समकालीन अथवा नयी प्रवृत्तियों के सहपथिक हैं। पर परवर्ती कवि ने जब विचार को भाव से अधिक महत्त्व दिया है और कविता को विचार की वाहिका बनाया है तब उस के साथ नया शिल्प भी अपनाया है, वह मानता और जानता है कि वस्तु और रूप का सम्बन्ध अविच्छेद्य है और वस्तु अपने रूप का स्वयं सृजन करती चलती है। इस के विपरीत 'दिनकर' नयी और वैचारिक वस्तु देते हुए भी रूप-परिकल्पना के मामले में क्रान्ति का तर्क स्वीकार करना नहीं चाहते, नयी शराब खींचते हुए भी वह बोतल पुरानी ही पसन्द करते हैं। यही कारण है कि उन की कुछ छोटी कविताओं में सुभाषित की-सी चमत्कारिता और प्रखरता तो मिलती है पर कुल मिलाकर उस का प्रभाव आधुनिक संवेदना का—या आधुनिक संवेदना पर—नहीं पड़ता। छन्द और भाषा पर नयी प्रवृत्ति का प्रभाव उन की कविता पर भी दीखता है और बच्चन की कविता पर भी ; पर वस्तु, रूप और भाषा की एकात्मता दोनों में नहीं है। 'समकालीन संवेदना की कविता' और 'समकालीनता द्वारा प्रभावित संवेदना की कविता' का अन्तर स्पष्ट दीख जाता है।

श्री भगवतीचरण वर्मा और श्री हरिवंशराय 'बच्चन' छायावाद के उत्तर-काल के कवि हैं। कवि की कवि से तुलना किये बिना कहा जा सकता है, जैसे स्विनबर्न या रोज़ेटी रोमांटिक युग के उत्तरकाल के कवि थे।

यह कथन इस सन्दर्भ में सार्थक होता है कि पन्त और 'निराला' छायावाद के पूर्वकाल के कवि हैं। रोमांटिक प्रवृत्ति का विस्मय-भाव वर्माजी या 'बच्चन' की कविता में प्रायः बिलकुल नहीं है, किन्तु प्रकृति की शक्तियों के और अपनी वासना के आकर्षण के सम्मुख असहाय मानव उस का केन्द्र-बिन्दु है। उस की

असहायता ही उस के जीवन को अस्थिर, उस की नैतिक मान्यताओ को निराधार और उस के सुख-दुख को क्षण-भंगुर बना देती है। मोहाविष्ट वह निरन्तर चलता है : जीवन एक प्रकार की मदिरा है जो उस के मोह को बनाये रखती और उसे पथ पर प्रवृत्त किये चलती है। 'बच्चन' का मुहावरा उमर खैयाम (अर्थात् फिट्ज़जेरल्ड के अंग्रेज़ी उमर खैयाम) का मुहावरा है, और उन के प्रतीक भी उसी से प्रभावित हैं, पर उन की कविता रोमांटिक प्रवाह से अलग नही है।

परवर्ती आध्यात्मिक प्रवृत्ति उन्हे पृथक् न करती, तो श्री नरेन्द्र शर्मा इन दोनो के अधिक निकट हो सकते; पर आरम्भ से ही उन का पथ कुछ भिन्न रहा क्यो कि उन का प्रकृति-प्रेम उन्हे पन्त के निकट ले जाता था यद्यपि प्रकृति के प्रति वैसा विस्मय-भाव उन मे नही था। कई दृष्टियो से उन का विकास पन्त के ही समान्तर चलता है।

श्री बालकृष्ण राव मूलतः रोमांटिक कवियो से प्रभावित और छायावाद के सहयात्री होते हुए भी संकलित अन्य कवियों से अलग कोटि में आते हैं। इस के अनेक कारण है। एक तो भारतीय और विदेशी काव्य-साहित्य मे विस्तृत परिचय के कारण उन की दृष्टि व्यापक है। दूसरे—कदाचित् उपर्युक्त कारण से भी—उन का भाषा-प्रयोग अधिक 'आधुनिक' है। उन की वाक्य-रचना गद्य के अधिक निकट आती है। तुकान्त छन्दोबद्ध रचना मे, लय के नियमो का निर्वाह करते हुए भी वह आधुनिक प्रवृत्ति के अनुकूल यति को स्थिर न रख कर पंक्तियो मे वैचित्र्य उत्पन्न करते रहे, मुक्त-वृत्त की रचनाओं मे, निहित नाटकीय स्थितियो के संकेत भी एक आधुनिक समय-बोध को प्रतिबिम्बित करते हैं। इस प्रकार छायावाद से आरम्भ कर के भी वह वैज्ञानिक आधुनिक दृष्टि के कारण उस से पृथक् हो गये हैं।

शिवमंगलसिंह 'सुमन' अपने जनवादी आग्रह के बावजूद उत्तरकालीन छायावाद से अधिक दूर नहीं गये। कहा जा सकता है कि खुंडित कवि-कर्म वाला पथ उन्हो ने भी अपनाया। मुख्य प्रवृत्ति रोमांटिक रहते हुए अनेक कविताएँ उन्हो ने अलग ढंग की लिखीं। वादाक्रान्त वातावरण मे ऐसी कविताओ ने पाठको के कुछ वर्गो मे प्रतिष्ठा पायी, जब कि बहुसख्य समाज दूसरे प्रकार की कविताओ मे रस लेता रहा, और कदाचित् ये दूसरे प्रकार की कविताएँ ही अपने रचयिता के भावी कवि-यश का आधार होगी। प्रबल व्यक्तित्व का आकर्षण 'सुमन' को सदैव ही प्रभावित करता रहा है, उन की कविता मे वीर-पूजा का स्वर बराबर मुखर होता है। छन्द की दृष्टि से उन्हो ने मुक्त-वृत्त का भी सफल उपयोग किया है।

साहित्य मे युग-विभाजन मानचित्र की सीमा-रेखाओ की भाँति नही होता और विशेषतया समकालीन अथवा निकट काल की प्रवृत्तियो का पृथक्करण और भी जटिल होता है। एक युग की प्रवृत्तियाँ परवर्ती युग मे भी लक्षित होती रहती

हैं और अनन्तर मुखर होने वाले स्वरों के पूर्व-संकेत अतीत युग में भी मिल जाते हैं। फिर भी कहा जा सकता है कि इन कवियों द्वारा उद्‌भूत प्रवृत्तियों के बाद हिन्दी कविता ने एक नया मोड़ लिया। नये सक्रमण से हिन्दी कविता के स्वरूप में गहरा परिवर्तन हुआ। खड़ी बोली का काव्य पहले लोक भूमि पर उतरा, उसकी दृष्टि ईश्वर-परक से बदल कर मानव-परक हुई, फिर उसने मानव-समाज के भीतर व्यक्ति और समाज के रूप और इन की परस्परता को पहचाना—देखा कि वे परस्पर-विरोधी और परस्पर-पूरक, अन्योन्याश्रित और अन्योन्य-सम्भूत हैं। फिर कविता के बहिरंग या अन्तरंग के परिष्कार या उन्मोचन से आगे बढ़ कर एक नये आन्दोलन ने आग्रह किया कि वह कवि की संवेदना को एक नये स्तर पर ले जायेगा, ग्रहण करने वाली चेतना और गृहीत सम्पूर्ण इयत्ता के सम्बन्ध को ही नया रूप दे देगा। और यह किसी असाधारणत्व के दावे के साथ नहीं, बल्कि अपनी साधारणता को उतनी ही सहजता के साथ स्वीकार करते हुए जितनी से अपनी अद्वितीयता को। उसे कहाँ तक सफलता मिली, या मिल भी सकती थी, यह एक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है।

आधुनिक उपन्यास की पृष्ठभूमि

आधुनिक उपन्यास की चर्चा करते समय विषय को मुख्यतया अंग्रेजी उपन्यास तक ही सीमित रखना विश्व-साहित्य मे उपन्यास के विकास को एकांगी रूप देना है और स्वयं अंग्रेजी उपन्यास को भी अधूरा देखना है क्योंकि, विशेषतया उत्तर काल मे, वह दूसरी भाषाओ के साहित्यो और साहित्यिक आन्दोलनों से अत्यधिक प्रभावित होता रहा है। फिर भी, जहां तक हिन्दी उपन्यास का प्रश्न है उस की गतिविधि बहुत-कुछ अंग्रेजी उपन्यास के समान्तर रही और दूसरे साहित्यो का, यथा रूसी और फ्रांसीसी साहित्यो का, प्रभाव उस ने अंग्रेजी के माध्यम से ही ग्रहण किया। इसके अतिरिक्त हिन्दी-पाठक अंग्रेजी-साहित्य से न्यूनाधिक मात्रा मे परिचित होता ही है और इतर साहित्य का उस का ज्ञान न इतना विस्तृत होता है, न इतना व्यवस्थित। इस लिए उपन्यास सम्बन्धी साधारण स्थापनाओं के उदाहरण देने के लिए अंग्रेजी साहित्य को सामने रखना कदाचित् अधिक उपयोगी होगा।

आधुनिक उपन्यास के लक्षण पहचानने और उसे पूर्ववर्ती काल के अथवा विक्टोरियन युग के उपन्यास से पृथक् करने के लिए थोडा ऐतिहासिक प्रत्यव-लोकन आवश्यक है।

विक्टोरियन उपन्यास के विकास की पहली सीढी डिकेन्स और थैकरे को माना जा सकता है। दोनों मे बहुत अन्तर है, फिर भी दोनो पर साथ विचार किया जा सकता है, क्योंकि दोनों का उद्देश्य समाज को तद्वत् और सम्पूर्ण चित्रित करने का था। दोनों ने अपने-अपने ढग से समाज की सजीव गतिमयता का चित्र खीचा। डिकेन्स बौद्धिक नहीं था, उसने डार्विन नहीं पढा था और विकासवाद के सिद्धान्त से वह अपरिचित था। फिर भी समाज के विकास अथवा गतिमयता के प्रति उस की दृष्टि सजग थी। पात्रों का घटनाओ के द्वारा चरित्र-विकास दिखाने मे डिकेन्स असमर्थ है और उस के चरित्र आरम्भ मे जैसे आते हैं अन्त तक वैसे ही चलते है। किन्तु उस के उपन्यास मे लोक-कथा की-सी शक्ति है और उस के अनेक चरित्र ऐसे लोक-चरित्र हैं जो अंग्रेजी पाठक के साधारण जीवन और बातचीत के मुहावरे का अंग बन गये हैं। जैसा किसी ने कहा है, "जीवन मे वैसे चरित्र नहीं होते, लेकिन उसमे जीवन ही घाटे मे रहता है। मिकावर और मिसेज़ गैम्प आदि

जैसे पात्र अगर विधाता ने नहीं बनाये तो हमारा मन यही कहता है कि उसे बनाने चाहिए थे।" थैकरे ने जीवन का गम्भीर चित्र खींचने का प्रयत्न किया। उस का 'वैनिटी फेयर' इस समय तक के अंग्रेजी साहित्य में समाजालोचना का सब से महत्त्वपूर्ण उदाहरण है।

वास्तव में डिकेन्स और थैकरे को ही आधुनिक उपन्यास के आदि-प्रवर्तक माना जा सकता है। लेकिन फिर भी आधुनिक उपन्यास उन के उपन्यासों से बिलकुल भिन्न हैं, जैसा कि हम अभी देखेंगे।

विक्टोरियन उपन्यास के विकास का दूसरा चरण ऐंटनी ट्रालप, जार्ज एलियट और मेरेडिथ में लक्षित होता है। ट्रालप को थैकरे का अनुयायी माना जा सकता है यद्यपि वह स्वयं एक अच्छा उपन्यासकार था। तथापि यह भी कहा जा सकता है कि वह उपन्यासकार का उत्तम उदाहरण था क्यों कि वह शुद्ध उपन्यासकार था, ऐसा उपन्यासकार नहीं जो साथ-साथ कवि या आलोचक या समाजशास्त्री या सुधारक भी हो। उस के लिए मुख्य बात कहानी कहना था। युवक और युवतियों के मनोरंजन के लिए साधारण जीवन का ऐसा चित्र जिस में हास्य का पुट और करुणा की मिठास हो, यह ट्रालप के उपन्यास की परिभाषा है। उस के उपन्यासों में चरित्र के मनोविश्लेषण का अनुपात कुछ अधिक था। लेकिन फिर भी उस की मूल प्रवृत्ति समाज-चित्रण की ही थी। स्वभाव से वह परम्परावादी था और धार्मिक तथा नैतिक रूढ़ियों की ओर उस की प्रवृत्ति सहज स्वीकार की ही थी। जार्ज एलियट, मेरेडिथ और हेनरी जेम्स मुख्यतया चरित्र का विश्लेषण करते थे। जार्ज एलियट अपने समकालीनों की अपेक्षा अधिक बौद्धिक थी। नैतिक मान्यताओं के प्रति विद्रोह तो उस में नहीं था तथापि परम्परागत धर्म विश्वास पर उसे सन्देह था। वह ईसाई नीति-शास्त्रों को मानती और उस की रक्षा करना चाहती थी लेकिन साथ ही उसे आधिदैविक या अतिप्राकृतिक आधारों से अलग भी करना चाहती थी।

मेरेडिथ में दार्शनिक जिज्ञासा का भाव और उभर कर आया। वह जार्ज एलियट की अपेक्षा कहीं अधिक मौलिक विचारक था, जीवन के तथा धर्म के गम्भीरतर प्रश्नों के प्रति सजग और उचितानुचित, पाप-पुण्य आदि की समस्याओं में उलझा हुआ। जिन प्रश्नों को थैकरे ने अपने समाजालोचन में कभी छुआ भी न था उन्हें मेरेडिथ मुख्य रूप से सामने लाता था। मेरेडिथ ने ही पहले-पहल समकालीन तथा विक्टोरियन उपन्यास की अपर्याप्तता घोषित की और जीवन-दर्शन की आवश्यकता पर जोर दिया। "यह भविष्यवाणी की जा सकती है कि यदि हम शीघ्र ही उपन्यास में जीवन दर्शन का समावेश नहीं करते तो वह कला अपने बहुसंख्यक उपासकों के रहते हुए भी नष्ट हो जायेगी।"

तीसरा चरण विक्टोरियन समाज के विघटन का समय है और इस चरण के

उपन्यासों में जिज्ञासाएँ तीव्र हो उठती हैं। दूसरी ओर इस काल के लेखन में भाषा की अलंकृति भी बहुत देखी जाती है। उस चरण के मुख्य और महान् उपन्यासकार टामस हार्डी है। मेरेडिथ ने जिन समस्याओं को सूचित ही कर के छोड़ दिया था, हार्डी उन को गम्भीरता से आतंकित हो उठता है। वह समस्याओं को ही गम्भीर और विचारपूर्ण ढंग से उपस्थित नहीं करता बल्कि उन के सुलझाने या उत्तर की ओर भी संकेत करता है। 'टेस' में पतिता नारी के जीवनाधिकार का प्रश्न उठाया गया है। 'जूड द आब्सक्योर' में समाज के अन्दर व्यक्ति की समस्याओं को उठाया गया है।

लेकिन हार्डी की आलोचना को सामाजिक नहीं कहा जा सकता, वह जागतिक (कास्मिक) ही है क्योंकि उस का आक्रोश समकालीन समाज-व्यवस्था की रूढ़ियों के प्रति नहीं, समूचे जीवन-विधान के प्रति है। उस के अनुसार एक ओर मानव प्राणी है जो अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं और आयोजनों को समझता है, दूसरी ओर जड़ प्रकृति है जिस में न चेतनता है, न विवेक। इस प्रकार मानवी प्रवृत्तियाँ तो बोध-गम्य है लेकिन घटना-क्रम तर्कातीत और विसंगत है—जड़ जगत् का संगठन विवेकपूर्ण नहीं है। मानव और प्रकृति का यह विरोध, मानवी उद्योग और विधि के विधान का यह वैषम्य या असंगति ही मानव की ट्रैजेडी का मूल है।

हार्डी का साहित्य लोक-परम्परा और लोक-विश्वासों पर निर्भर करता हुआ चलता है। लोक-गाथा, लोक-कला, लोक-विश्वास और लोक-धर्म उस के साहित्य में इतना महत्त्व रखते हैं कि उपन्यास को विशिष्ट प्रदेश और उस प्रदेश की लोक-परम्परा से पृथक् कर के पूरी तरह समझा नहीं जा सकता।

हार्डी को 'अन्तिम विक्टोरियन' कहा जाता है। लेकिन उसे इतनी ही सार्थकता के साथ 'अन्तिम एलिज़ाबीथन' भी कहा जा सकता। क्यों कि हार्डी शेक्सपियर के साहित्य में डूबा हुआ है और शेक्सपियर का या एलिज़ाबेथ-कालीन नाटककारों का प्रभाव उस के साहित्य में स्पष्ट लक्षित होता है। उदाहरणतया हार्डी के देहाती पात्र शेक्सपियर के पात्रों से बहुत-कुछ मिलते हैं—वही पार्थिवता और वही काव्य-मयता उन में होती है। इसी प्रकार दैव-संयोग (कोइंसिडेंस) और हास्य का वैसा ही उपयोग हार्डी में है जैसा कि एलिज़ाबेथ-कालीन नाटक में, वैचित्र्य और वैषम्य का एलिज़ाबेथ-कालीन आकर्षण हार्डी को भी आकृष्ट करता है। 'रिटर्न ऑफ द नेटिव' के अंशों की तुलना वेब्स्टर के 'द व्हाइट डेविल' से और 'मेयर ऑफ कास्टरब्रिज' की तुलना शेक्सपियर के 'किंग लियर' से की जा सकती है।

हार्डी का समकालीन एक और उपन्यासकार अंग्रेज़ी उपन्यास की परम्परा में विशेष स्थान रखते हुए भी प्रायः उपेक्षित होता रहा है, वह है जार्ज गिसिंग। इस का कारण कुछ तो हार्डी का नैकट्य हो सकता है, कुछ यह कि गिसिंग की सत्य-वादिता में एक रूखापन और कटुता है। वास्तव में गिसिंग 'मोह-भंग' का पहला

उपन्यासकार है। शैली और विधान की दृष्टि से यद्यपि वह परम्परानुगामी है, तथापि वस्तु की दृष्टि से वह भविष्योन्मुख है—रूमानी प्रभावों से मुक्त, स्पष्टवादी, धार्मिक और राजनैतिक मान्यताओं के विषय में सन्देहवादी। गिसिंग ने इस का तीव्र अनुभव किया कि उपन्यास को अपना विस्तार नये वर्गों और नयी गहराइयों में ले जाना चाहिए। 'अनक्लास्ड' (वर्ग च्युत) नामक उपन्यास में वह कहता है, "रोज़मर्रा जीवन का उपन्यास अब घिस गया है। अब हमें और गहरे खोदना होगा और अछूते सामाजिक स्तर तक पहुँचना होगा।" इस का अनुभव डिकेन्स ने किया था लेकिन उस में अपने विषय का सामना करने का साहस नहीं था।

गिसिंग के इस मोह-भंग में नये अथवा आधुनिक उपन्यास का बीज निहित है।

◇ ◇ ◇

विक्टोरिया के युग के बाद एडवर्ड का काल केवल एक अन्तराल है विक्टोरियन से परिवर्तन वास्तव में प्रथम विश्व-युद्ध में ही आया जिस ने सहसा भारी उथल-पुथल कर दी और नये उपन्यास को जन्म दिया। आधुनिक उपन्यास वास्तव में युद्धोत्तर काल का उपन्यास है यह दूसरी बात है कि उस के बीज—जैसा ऊपर बताया गया है—पूर्ववर्ती कुछ उपन्यासों में ही निहित थे, और आधुनिक उपन्यास की परम्परा का विवेचन बिना विक्टोरियन युग में इन प्रवृत्तियों के मूल स्रोतों को पहचाने हो ही नहीं सकता।

विक्टोरियन उपन्यास मध्यवर्ग का, मध्यवर्ग की भावना का, बुर्जुआ संस्कृति का, उपन्यास था। उस का विकास इंग्लैंड की औद्योगिक क्रान्ति के समानान्तर चला। किन्तु विश्व-युद्ध ने बुर्जुआ जगत् को जड़ से हिला दिया, उस की संस्कृति लड़खड़ा कर टूट गयी, उस के प्रतिमान सहसा सन्दिग्ध हो उठे—

"सभी मानवीय सम्बन्ध परिवर्तित हो गये हैं—स्वामी और भृत्य के, पति और पत्नी के, माता पिता और सन्तति के। और जब मानव-सम्बन्धों में परिवर्तन आता है, तब धर्म, आचार, राजनीति और साहित्य में भी साथ-साथ परिवर्तन होता है।" (वर्जिनिया वुल्फ़)

साहित्यकार की दृष्टि अब वर्गों के संघर्ष को स्पष्ट देखने लगी। इतना ही नहीं, उस ने देखा कि वर्गों के जीवन के वृत्त के भीतर भी अनेक दरारें पड़ गयी हैं, वर्ग-संघर्ष के भीतर जातियों या घरानों के एक अलग संघर्ष की लीकें पहचानी जा सकती हैं। महायुद्ध ने मध्यवर्ग के जीवन को तो हिलाया ही, घरानों के जीवन पर भी गहरा आघात किया। महायुद्ध की चपेट में एक समूची युवा पीढ़ी को खो कर ये मध्यवर्गीय घराने अपने भविष्य की अनिश्चितता से आतंकित हो उठे—क्योंकि युवा पीढ़ी के मिट जाने से उनकी सम्पत्ति का उत्तराधिकार—और कुल का स्थायित्व—जोखिम में पड़ गया। सम्पत्ति-मात्र खतरे में है, यह दुश्चिन्ता मध्यवर्गीय जीवन को घुन-सी खाने लगी।

गाल्सवर्दी और किपलिंग इस संकट के उपन्यासकार हैं। गाल्सवर्दी के 'फोर्साइट सागा' की उपन्यास-परम्परा घरानों के जीवन के विस्फोट का ही चित्र है। 'मैन ऑफ़ प्रॉपर्टी' का नाम ही अभिप्राय-भरा है, और 'प्रॉपर्टी' की रक्षा की व्याकुलता गाल्सवर्दी के पात्रों का मुख्य मनोभाव है वर्गीय या कुल-गत मर्यादाओं की रक्षा का आग्रह सम्पत्ति-सम्बन्धी उस चिन्ता का ही प्रक्षेपण है।

वर्जिनिया वूल्फ और गाल्सवर्दी-किपलिंग में एक बड़ा अन्तर है ये दोनों उपन्यासकार बूर्जुआ उपन्यासकार हैं, किन्तु वर्जिनिया वूल्फ बूर्जुआ नहीं है, यद्यपि उसे बूर्जुआ-विरोधी भी नहीं कहा जा सकता। उस की बौद्धिकता और सूक्ष्म अनुभूति उसे इस से ऊपर उठाते हैं प्रतिमानों के बूर्जुआ होते हुए भी उसका दृष्टिकोण अधिक बौद्धिक और उस की संवेदना का वृत्त अधिक विस्तृत है।

इन के अनन्तर जो महत्त्वपूर्ण नाम सामने आता है—और इस नाम के साथ अंग्रेजी उपन्यास संक्रान्ति-काल पार कर के 'आधुनिक' युग में आ जाता है—वह डी० एच० लारेंस का है। लारेंस स्पष्टया बूर्जुआ-विरोधी था। अपने युग की वह एक अद्भुत और अनमिल उपज था उस का दृष्टिकोण रूमानी था परन्तु बूर्जुआ-विरोधी, क्यों कि उस में एक नास्तिक आभिजात्य था। उस की परमवादी प्रवृत्ति इस बनी-बनायी घटिया दुनिया को सह नहीं सकती थी उस का विद्रोह इस 'रेडी-मेड' बूर्जुआ जगत् की विरसता के विरुद्ध अभिजात का विद्रोह था, और समकालीन नैतिक मानदंडों के प्रति उस का अस्वीकार एक अनीश्वरवादी या सर्वदेवतावादी (पैगन) की स्वच्छन्दता की घोषणा थी। भौतिक जीवन के साथ चेतना का ऐसा नया सम्बन्ध स्थापित करने के लिए, जो बूर्जुआ जीवन के ओछेपन से बँधा हुआ न हो, उस की अभिजात मनोभावना संसार की सभी जानी हुई संस्कृतियों का तिरस्कार कर के उन के घेरे के बाहर जाने को तैयार थी ग्रीक, यहूदी, रोमी, मध्ययुगीन, पुनरुत्थान-कालीन सभी संस्कृतियों को अपर्याप्त पा कर लारेंस नयी खोज के लिए कहीं भी जाने को आतुर था—भूली हुई प्राक्-सभ्यताओं की ओर भी। "आई वाट टु टर्न माई बैक आन द होल ब्लास्टेड पास्ट"—मैं समूचे अभागे अतीत की ओर पीठ फेर लेना चाहता हूँ—यह लारेंस की उक्ति थी, और यूरोप को छोड़ कर वह मेक्सिको गया था तो संवेदना के किसी पुराने अर्द्ध-विस्मृत प्रकार की खोज में। मेक्सिको-विषयक अपने उपन्यास 'द प्लूमड सर्पेंट' में वह लिखता है: "मैं मूलभूत भौतिक यथार्थताओं के प्रति संवेदना का पुनःसंस्कार करना चाहता हूँ।"

विक्टोरियन काल की प्रवृत्तियाँ लारेंस के परवर्ती युग में भी लक्षित होती हैं, और लारेंस के पूर्वसूचक विक्टोरियन युग में थे, पर लारेंस से स्पष्ट युग-परिवर्तन माना जा सकता है।

इस ऐतिहासिक अवलोकन के बाद अब इस पर विचार किया जा सकता है

कि आधुनिक उपन्यास की कौन-सी प्रवृत्तियां उसे विक्टोरियन उपन्यास से पृथक करती हैं।

१ जो है उस के प्रति, समवर्ती नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक मूल्यों के प्रति, अस्वीकार और नये प्रतिमानों की प्रतिष्ठा की आतुरता—यही वह मौलिक भेद है जो विक्टोरियन और आधुनिक का काल-विभाजन करता है। नये प्रतिमानों और मूल्यों की यह खोज लारेंस और ट्रालप की तुलना करने से स्पष्ट उभर कर सामने आती है। लारेंस सर्वथा आधुनिक है, ट्रालप सम्पूर्णतया विक्टोरियन दोनों का न केवल मुहावरा भिन्न है वरन् अनुभूति क्षेत्र ही बिलकुल अलग-अलग है।

नये मूल्यों की खोज को लारेंस भावना के और काम सम्बन्धों के क्षेत्र में भी ले जाता है। उस के पात्र अभूतपूर्व हैं उन में हम उन की चेतना से पृथक् उन की सवेदनाओं का प्रवाह और आदान-प्रदान देखते हैं चेतन भावनाओं और अवचेतन सवेदनाओं के स्तर अलग-अलग हैं, दोनों में तीव्रता और प्रवाह है। लारेंस के पात्रों का भाव-जीवन उतना ही गतिमय है जितना हनरी जेम्स के पात्रों का बुद्धि-जीवन "जानना रक्त से होना है, केवल मन से नही"—डी० एच० लारेंस। दोनों में ऐन्द्रिय सवेदनाओं का वर्णन करने और उन्हें पाठक तक पहुँचाने की असाधारण क्षमता थी, और दोनों ने उपन्यास की पहुँच और गहराई को बढ़ाया।

जेम्स जायस अशत ही आधुनिक है। भाषा और मनोविज्ञान के क्षेत्र में उस के प्रतिमान आधुनिक हैं, किन्तु उस की नैतिक और सामाजिक मान्यताएं कँथलिक हैं। इसी प्रकार एल्डस हक्सले और वर्जिनिया वूल्फ भी सम्पूर्णतया आधुनिक नहीं है, क्यों कि वे केवल कुछ ही क्षेत्रों में नये प्रतिमान खोजते या चाहते हैं, और अन्य क्षेत्रों में पुराने प्रतिमानों को ही मानते चलते हैं। हक्सले ने प्राय ऐसे समाज या काल का चित्रण किया है जिस में कोई प्रतिमान ही नही है, कोई ऐसे आधार ही नहीं हैं जिन पर धर्म या आचार की कसौटी हो सके। 'पाएट काउंटरपाएंट' में लारेंस के पथ की ओर थोड़ा-सा झुकाव है, किन्तु अनन्तर हक्सले रहस्यवादी या आध्यात्मिक अन्वेषण की ओर मुड जाता है, जिस के प्रथम सकेत 'दोज बैरन लीव्स' में मिलते हैं और अधिक विकसित रूप 'आइलेस इन गाजा' में और 'टाइम मस्ट हैव ए स्टाप' में। इस दृष्टि से हक्सले वास्तव में अर्ध आधुनिक भी नहीं, छद्म आधुनिक ही है।

नये मूल्यों की खोज ने जो अनेक दिशाएँ ग्रहण की, उन में कुछ का सक्षेप में निरूपण कर देना अनुचित न होगा :

(क) धर्म और नीति के क्षेत्र में—मानववाद, करुणा के आदर्श की पुन प्रतिष्ठा।

(ख) सहज बोध बनाम बुद्धि—मन के विरुद्ध 'रक्त' का सहारा।

(ग) समाज-सगठन के क्षेत्र में—बूर्जुआ सामाजिक ढाँचे का तिरस्कार,

घरानों और परिवारों के जीवन का विघटन।

(घ) काम-सम्बन्धों के क्षेत्र में—सेक्स की नयी परिभाषा, जो उसे न निरा शरीर सम्बन्ध मानती है, न केवल सामाजिक बन्धन या व्रत, बल्कि एक 'गतिशील-सम्पृक्त भाव' (डाइनैमिक कम्यूनिकेशन)[1]।

२. आधुनिक विज्ञान के आविष्कारों ने जो नयी समस्याएँ खड़ी कर दी है, उन के कारण जो अवस्था उत्पन्न हुई है, वह आधुनिक उपन्यास की दूसरी विशेषता है।

वैज्ञानिक आविष्कारों ने मानव को नयी दृष्टि दी है, पर उस के कारण हमारी मान्यताओं में और उन के आधारों में जो परिवर्तन आते हैं उन्हें हम पूर्णतया स्वीकार नहीं कर सके हैं, जीवन और आचार में आत्मसात् करना तो दूर की बात है। ज्ञान और आचार की अवस्थाओं का यह विपर्यय अनेक समस्याएँ और संघर्ष उत्पन्न करता है जो आधुनिक जीवन का एक मूलभूत सत्य है और जिन का प्रभाव आधुनिक उपन्यासकार पर पड़ना अनिवार्य है।

मार्क्सवाद इन समस्याओं का निराकरण नहीं करता। वह जीवन का एक वैज्ञानिक जड़वादी आधार उपस्थित करना चाहता है, पर यह आधार अपर्याप्त है और इस लिए असह्य हो उठता है। यह नहीं कहा जा सकता कि आधुनिक उपन्यासकार ने विज्ञान को जीवन का आधार मान लिया है। निस्सन्देह कई नये उपन्यासकार दावा करते हैं कि हमारी संवेदनाएँ बिलकुल बदल गयी हैं और उन का आधार सम्पूर्णतया वैज्ञानिक है, पर वास्तव में यह दावा निराधार है। यह तो ठीक है कि वे डी॰ एच॰ लारेंस से भिन्न हैं; पर कलाकार के रूप में वे कुंठित हैं और अपनी मान्यताओं के ढाँचे के अन्दर असन्तोष और कुंठा का अनुभव भी करते रहते हैं। डी॰ एच॰ लारेंस का आमूल विद्रोह या नकारात्मक आग्रह उन का नहीं है, उसे वे भ्रान्त मानते हैं, पर स्वयं शान्ति या स्थिरता पाने में वे असमर्थ हैं। काव्य में मायाकोव्स्की, या उपन्यास में एरेनबुर्ग इस के अच्छे उदाहरण हैं: स्वयं अपनी मान्यता और अपने जीवन का अन्तर्विरोध उन्हें बेचैन कर देता है; यह बेचैनी और उद्भ्रान्ति उन की रचना में अभिव्यक्त होती है। भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न यह उद्भ्रान्ति क्या मार्क्सिस्ट लेखकों में और क्या अन्य लेखकों में—आधुनिक उपन्यास की विशेषता है।

आधुनिक उपन्यासकार वर्तमान परिस्थिति या परिवृत्ति को अस्वीकार करता है, किन्तु नये स्तर पर किसी परिवृत्ति का स्वीकार या उस के साथ समन्वय की स्थापना नहीं कर पाया। इस से जो शून्य उत्पन्न होता है वह आधुनिक उपन्यास का एक विशेष लक्षण है। आधुनिक उपन्यास नया उपन्यास है, लेकिन उस का

१. डी॰ एच॰ लारेंस ने कहा है "मैन मस्ट बी सुप्रीम, अदरवाइज रिलेशनशिप इज सिलियन, देट इज, इट इज इनसेस्ट।"

नयापन न तो विषयवस्तु का नयापन है, न विधान का, न कथानक का, न रूपाकार का वह मूलत जीवन के प्रति दृष्टिकोण का नयापन है। यद्यपि वस्तु, शैली, विधान, कथा आदि का नयापन उस मे हो सकता है और होता भी है, तथापि उन की आधुनिकता की कसौटी वह नही है, कसौटी उस का नया दृष्टिकोण ही है।

३ समय या काल के प्रश्न को ले कर आधुनिक उपन्यासकार की व्यस्तता कदाचित् उस के विज्ञान-सम्बन्धी ऊहापोह का ही एक पहलू है।

काव्य म टी० एस० एलियट और गद्य मे वर्जिनिया वुल्फ बार-बार 'अतीत की वर्तमानता' की बात करते हैं, वर्जिनिया वुल्फ के लिए व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन ही 'अतीत की खोज' है।[१] उस का एक चरित्र-नायक आर्लैंडो तीन सौ वर्ष तक जीता है, एलिजाबेथ के युग मे वह बच्चा है, तीस वर्ष की आयु मे वह पोप के युग मे प्रवेश करता है और सन् १९२८ मे अभी वृद्धावस्था को प्राप्त नही हुआ है। किसी ने इसे 'आइन्स्टाइन के सिद्धान्त का काव्यरूप' कहा है। एलडस हक्सले भी काल के प्रश्न को ले कर व्यस्त है इस के सकेत उस के प्रारम्भिक उपन्यासो म भी मिलते हैं और 'टाइम मस्ट हैव ए स्टाप' का शीर्षक (यद्यपि वह हैमलेट की एक उक्ति से लिया गया है) इस व्यस्तता को स्पष्ट प्रकट करता है।

किन्तु यह आधुनिक उपन्यास का एक अपेक्षया कम महत्वपूर्ण पहलू है। वास्तव मे उस की वास्तविक कसौटी उस का दृष्टिकोण ही है ' यही उसे पूर्ववर्ती उपन्यास से पृथक् करता है, और उसे समझने के लिए इस के ऐतिहासिक विकास और कारणो को समझना आवश्यक है। जैसा कि हम पहले कह आये, विक्टोरियन प्रवृत्तियाँ आधुनिक युग तक भी चली आती हैं, और आधुनिक प्रवृत्तियो के बीज पूर्ववर्ती युग मे पाये जाते हैं, तथापि दोनो युगो का अन्तर इतना स्पष्ट है कि उस के बारे मे भूल हो नही सकती, और यह भी समझ मे आ जाता है कि दृष्टिकोण के इस आमूल परिवर्तन के बाद फिर पीछे लौटना तो असम्भव है, भले ही पाठकों को विक्टोरियन उपन्यास अधिक रोचक लगते रहें—जैसा कि वे निस्सन्देह अनेकों को लगते हैं। यह परिवर्तन एक प्रौढता का द्योतक है जिस से पीछे नही लौटा जा सकता। और किसी को क्यो लौटना चाहिए, इस का कारण कम से कम कोई आधुनिक तो नही सोच सकता।

---

१ 'रशर्शे दु तां पेर्दू'—खोये हुए समय की खोज—मार्सेल प्रूस्त का एक उपन्यास काल का नायक है।

आधुनिक उपन्यास और दृष्टिकोण

१

समकालीन साहित्य-विधाओं में उपन्यास शायद सब से अधिक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण है। यह भी इस की विशेषता का अंग है कि इस की परिभाषा इतनी कठिन है। इतना ही नहीं, उस का उपयुक्त नाम भी नहीं है। 'उपन्यास' में केवल फैलाव की सूचना होती है, 'आख्यान' में बस-कही की ध्वनि मुख्य है। अंग्रेजी 'नावेल' (और उसी से उत्पन्न मराठी 'नवलिका') में नयेपन पर बल है और 'फिक्शन' से मनगढ़न्त की ध्वनि होती है। ये सभी नाम न केवल अनुपयुक्त हैं बल्कि आधुनिक उपन्यासकार की भावना और प्रवृत्ति के प्रतिकूल भी जाते हैं।

किसी ने कहा है कि 'उपन्यास की सब से अच्छी परिभाषा उपन्यास का इतिहास है'। इस उक्ति में गहरा सत्य है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो उपन्यास मानव के अपनी परिस्थितियों के साथ सम्बन्ध की अभिव्यक्ति के उत्तरोत्तर विकास का प्रतिनिधित्व करता है। मानव का मानसिक विकास जैसे-जैसे इस सम्बन्ध की परीक्षा की ओर उत्तरोत्तर अधिक आकृष्ट हुआ है, वैसे ही इस सम्बन्ध की अभिव्यक्ति भी उत्तरोत्तर उस के प्रति मानव के दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति होती गयी है। इस लिए कहा जा सकता है कि उपन्यास में दृष्टिकोण या जीवन-दर्शन का महत्त्व उपन्यास की परिभाषा में ही निहित है।

उपन्यास सब से पहले कहानी के रूप में आरम्भ हुआ—यह घटनाओं अथवा कर्मों का वृत्तान्त था, जिन घटनाओं में कोई परस्पर सम्बन्ध आवश्यक था। अर्थात् उपन्यास सब से पहले इतिवृत्त था। लेकिन इतिवृत्त में भी घटना-वस्तु का चुनाव और आकलन आवश्यक होता है; और घटनाओं का परस्पर सम्बन्ध विभिन्न दृष्टियों से देखा जाने पर विभिन्न महत्त्व रख सकता है, इस लिए यहाँ भी इतिवृत्त-लेखक की दृष्टि महत्त्व रखती है।

दृष्टि का महत्त्व प्रत्येक साहित्य-विधा में है, लेकिन काव्य में इस को अपेक्षया अधिक आसानी से स्वीकार कर लिया जाता है। क्यों कि काव्य स्पष्टतया एक 'सब्जेक्टिव' अभिव्यक्ति है। लेकिन उपन्यास-कला को अधिक वस्तुपरक ('आब्जेक्टिव') माना जाता है, इस लिए औपन्यासिक की दृष्टि की प्रासंगिकता इतनी आसानी से स्वीकार नहीं कर ली जाती। लेकिन वास्तव में उपन्यास में भी दृष्टि का महत्त्व कम नहीं है।

उपन्यास में समाज की प्रगति का हर पहलू प्रतिबिम्बित होता है। अभिजात या सामन्तिक समाज का विघटन और आधुनिक युग का आरम्भ, आधुनिक युग में आन्तरिक संघर्ष की बढ़ती हुई तीव्रता और पूंजीवाद के विकास से संयुक्त-परिवार प्रथा का ह्रास इत्यादि, सभी का प्रतिनिधित्व उपन्यास में मिलेगा। लेकिन उन के वर्णन में भी उपन्यासकार की दृष्टि क्रमशः व्यक्ति पर केन्द्रित होती गयी है। आरम्भ में वृत्तान्त में एक नायक होता था जिस पर या जिस के द्वारा घटनाएँ घटित होती थीं। लेकिन उपन्यासकार यहाँ से निरन्तर बढ़ता हुआ नायक के व्यक्तित्व और चरित्र को प्रधानता देता गया और अन्त में चरित-नायक एक-प्रकार ('टाइप') न हो कर विशिष्ट व्यक्ति होने लगे। पुरानी घटनाओं के नायकों की भाँति आधुनिक उपन्यास के नायक को 'धीर', 'धीरोदात्त' या 'शान्त' आदि वर्गों में रख देना पर्याप्त नहीं है, प्रत्येक व्यक्ति का एक विशेष और अद्वितीय चरित्र होता है।

व्यक्ति और परिस्थिति के संघर्ष के अध्ययन ने चरित्र (मानव-चरित्र) के उपन्यासों को जन्म दिया। टॉमस हार्डी के उपन्यास व्यक्ति और परिस्थिति (या नियति) के संघर्ष के उपन्यास हैं। उन का संघर्ष विश्व-संघर्ष है, जिस अर्थ में ग्रीक दुःखान्त नाटक का संघर्ष विश्व-संघर्ष था—मानवी उद्योग और मानवेतर परिस्थिति या नियति का चिरन्तन संघर्ष। इस मूल संघर्ष के अलावा और अनेक प्रकार के संघर्ष भी उभरकर हमारे सामने न आये होते तो उपन्यास का विकास यहीं तक आ कर रुक जाता। लेकिन समाज के भीतर वर्ग और वर्ग का संघर्ष, फिर वर्ग के भीतर कुल और कुल का, कुल में परिवार और परिवार का, और अन्ततो-गत्वा परिवार के भीतर व्यक्ति और व्यक्ति का संघर्ष—इन सब पर टिक कर उपन्यासकार की दृष्टि विकसित होती रही और उपन्यास में सामाजिक वस्तु का अनुपात बढ़ता गया। इस विकास की चरम परिणति व्यक्ति-चरित्र के उपन्यास में हुई। यहाँ 'व्यक्तित्व के या व्यक्ति-चरित्र के उपन्यास' और 'चरित्र के अथवा मानव-चरित्र के उपन्यास' का अन्तर समझ लेना उचित होगा। मानव-चरित्र और व्यक्ति चरित्र में यह अन्तर है कि मानव-चरित्र में मानव-मात्र की चारित्रिक विशेषता पर बल दिया जाता है जब कि व्यक्ति-चरित्र में केवल उस एक और अद्वितीय व्यक्ति पर ध्यान केन्द्रित होता है जिसे हम दूसरे मानवों से पृथक् कर के चुनते हैं। अर्थात् पहले में हम मानवेतर जीव से मानव प्राणी को पृथक् कर के उस की मानवता को परिस्थिति के परिपार्श्व में देखते हैं, दूसरे में हम एक व्यक्ति-मानव को इतर मानव-व्यक्तियों में पृथक् कर के उस के व्यक्तित्व को मानव-समाज के परिपार्श्व में देखते हैं।

उपन्यास का यह विकास डार्विन और मार्क्स के आविर्भाव और प्रचार के साथ-साथ हुआ। नये वैज्ञानिक अनुसन्धान और ज्ञान ने उपन्यासकार की दृष्टि

बदल दी। उस का लिखना ही बदल गया क्यों कि उस की दृष्टि बदल गयी। उस के बाद एक और बहुत बड़ा परिवर्तन फ्रायड के साथ आया। उस की मनोविश्लेषण पद्धति ने व्यक्ति-मानस और व्यक्ति-चेतना की गहनताओं पर नया और तीखा प्रकाश डाला। इस से उपन्यासकार को व्यक्ति-मानस को समझने में बड़ी सहायता मिली, बल्कि एक नयी दृष्टि और पैठ मिली जिस के सहारे वह विशेष व्यक्ति के मन के भीतर होने वाले संघर्ष को पहचान सका। चेतना-प्रवाह ('स्ट्रीम ऑफ़ कॉन्शसनेस') अथवा स्वगत-भाषण ('इंटर्नल मोनोलॉग') के उपन्यास इस दृष्टि के परिणाम हैं। और आधुनिक उपन्यास में मानसिक संघर्ष का विश्लेषण विशिष्ट महत्त्व रखता है।

मानव-चरित्र से व्यक्ति-चरित्र की ओर बढ़ कर भी उपन्यास रुक नहीं गया है, आधुनिक सामाजिक परिस्थिति में यह प्रश्न भी अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण होता गया है कि मानव-व्यक्ति का व्यष्टि रूप में क्या स्थान है—वह सामाजिक इकाई के रूप में बचा भी है और बचा रह भी सकता है या नहीं ? यह प्रश्न व्यक्ति के भीतर के संघर्ष के और नये आयाम हमारे सामने लाता है। संघर्ष की चरम परिणतियों के चित्रण में स्वाभाविक है कि विघटन के चित्र भी आयें, न केवल खंडित व्यक्तित्वों के बल्कि ऐसी इकाइयों के भी जिन का अपने इकाई होने में विश्वास भी डगमगा गया हो। व्यक्तित्व की, अस्तित्व की, अपनेपन की, 'आइडेंटिटी' की खोज की पुकार इसी का मुखर रूप है।

उपन्यासकार की दृष्टि की गहराई और विस्तार बढ़ने के साथ-साथ स्वाभाविक था कि 'संघर्ष' अथवा 'घटना' की उस की परिकल्पना भी बदल जाय। और संघर्ष क्या है, अथवा घटना किसे कहते हैं, इस की नयी परिभाषा के साथ संघर्ष के चित्रण और घटना के वर्णन का रूप भी बिलकुल बदल गया। बाह्य परिस्थिति से संघर्ष—मानव और नियति का संघर्ष—इतना महत्त्वपूर्ण न रहा, क्यों कि व्यक्ति-मानस स्वयं सदैव एक तनाव की स्थिति में रहता है और वह तनाव ही संघर्ष है। व्यक्ति-मानस बनाम परिस्थिति, इस विरोध का कोई अर्थ नहीं रहा क्यों कि मानस स्वयं ही एक परिस्थिति हो गया। इसी प्रकार बाह्य घटना का इतना महत्त्व नहीं रहा क्यों कि जिस प्रकार संघर्ष भीतर-ही-भीतर उभरता और निर्वापित होता रहता है, उसी प्रकार भीतर-ही-भीतर घटना भी घटित होती रहती और रह सकती है।

इस प्रकार कलाकार की दृष्टि का विकास क्रमशः जीवन के प्रति उस के दृष्टिकोण का महत्त्व बढ़ाता चलता है। और विकास के साथ-साथ उपन्यास भी उत्तरोत्तर अधिक स्पष्टता से दृष्टिकोण का उपन्यास होता जाता है। उपन्यास के रूपाकार के परिवर्तन भी इसी से सम्बद्ध हैं। आधुनिक उपन्यास स्पष्ट रूपाकार और वर्णन, घटना-वृत्तान्त की स्पष्टता और सहजता को खो रहा है; उस में

वक्रता और व्यंजना बढ़ती जाती है और उन का रूपाकार भी धुंधला और उलझा हुआ होता जा रहा है।

इस नयी दृष्टि अथवा दृष्टिकोण के महत्त्व का एक उदाहरण आधुनिक उपन्यास में काम जीवन अथवा सेक्स का वर्णन है। आधुनिक उपन्यास में सेक्स पहले से अधिक महत्त्व भी रखता है और कम भी। अधिक इस लिए कि अब हम पहले की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरह उस के प्रभाव की गहराई और विस्तार को समझते हैं और यह भी जानते हैं कि आधुनिक युग में काम-जीवन का असामञ्जस्य और विषमता आधुनिक समाज में बहुत दूर तक फैला हुआ एक रोग है। उन्नीसवीं शती में पहले न तो उपन्यासकार यह बात अच्छी तरह जानता था कि काम-प्रेरणाएं न केवल स्त्री-पुरुषों की दैहिक प्रवृत्तियों से सम्बन्ध रखती हैं बल्कि उन के सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं को प्रभावित करती हैं और उन की धार्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक और कला-सम्बन्धी मान्यताओं और विश्वासों का रूप निश्चित करती हैं न वह यही जानता या मानता था कि समकालीन सामाजिक परिस्थिति में काम-सम्बन्धों में कितनी विषमता आ गई है। प्राचीन काल में राजकुमार और राजकुमारी का मिलन और प्रेम होता था, फिर विवाह हो जाता था और वे शेष जीवन सुख से काट देते थे। आज ऐसा लगभग कभी नहीं होता और दाम्पत्य जीवन अगर सुखी होना है तो बड़ी साधना और परस्पर समझौते के आधार पर ही होता है। इन सब कारणों का ज्ञान होने से आधुनिक उपन्यासकार की दृष्टि में सेक्स का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया है। दूसरी ओर नयी परिस्थितियों में इस का महत्त्व कम भी हो गया है क्यों कि उसका अस्तित्व सहज भाव से स्वीकार किया जा सकता है, साथ ही काम-जीवन में 'पवित्रता' का वह अर्थ या महत्त्व नहीं रहा है जो पहले था। आज का उपन्यासकार (या साधारण समाज) यह नहीं मानता कि दाम्पत्य-जीवन के सुखी होने के लिए यह अनिवार्य शर्त है कि पुरुष और स्त्री को इस से पहले कोई कामज अनुभूति न हुई हो या वे वासना से अपरिचित रहे हों। बल्कि कोई पूर्वग्रह लेकर वह चलता है तो इस से उलटा ही। न आज विवाह पूर्व ऐसी अनुभूति या संसर्ग जीवन का अभिशाप बन जाता है, जैसा कि पश्चिम में उन्नीसवीं शती के उत्तरकाल तक होता था—टॉमस हार्डी की 'टैस' जिस का एक ज्वलन्त उदाहरण है—या कि भारतीय साहित्य में पहले महायुद्ध के समय तक होता था। आज यह माना जाता है कि स्त्री एक बार भूल कर के भी सम्हल सकती है, नागरिक जीवन में स्थान पा सकती है, *समाज की उपयोगी सदस्य* हो सकती है और जीवन के साथ कामचलाऊ समझौता कर के सुखी भी हो सकती है। आज पहले की अपेक्षा ऐसे व्यक्ति बहुत अधिक हैं जिन के सेक्स-जीवन में विषमता हो, लेकिन ऐसे अपेक्षया बहुत कम जिन का जीवन सेक्स के कारण नष्ट हो जाता है। इस का कारण सेक्स के सम्बन्ध में समाज का नया दृष्टिकोण है, और

आधुनिक उपन्यास में यह दृष्टिकोण सम्पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित होता है।

२

अभी तक हम दृष्टिकोण के महत्त्व की बात करते आए हैं। लेकिन दृष्टिकोण के महत्त्व के साथ-साथ दृष्टिकोण की एक समस्या भी खड़ी हो जाती है। जीवन के प्रति दृष्टिकोण आत्म-रक्षा की एक शर्त बन जा सकता है—हमारी अस्तित्व-रक्षा हो सकती है या नहीं, इस का उत्तर इसी पर निर्भर कर सकता है कि जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या है? पश्चिम की सभी सभ्यताओं का विकास अन्ततोगत्वा इसी प्रश्न पर आ कर अटका है, और आधुनिक (पाश्चात्य) सभ्यता के सामने भी आज यही प्रश्न है, जीवन को हम कैसे देखें कि उस का दबाव हम सह सकें, जीवन के प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या हो, जिस से हम उस की कठिनाइयों के बावजूद अपना अस्तित्व बनाये रह सकें? यह प्रश्न नया तो नहीं है और प्रत्येक सभ्यता एक प्रकार से इसी प्रश्न का संगठित और सामूहिक उत्तर होती है, लेकिन इस समस्या का पूरा दबाव, इस की पूरी तीव्रता आधुनिक युग का व्यक्ति ही समझ सकता है। इस का कारण केवल यही नहीं है कि इस की सब से नयी और आशावादी सभ्यता भी पूर्ववर्ती सभ्यताओं की तरह एक प्रश्नविराम के सामने आ खड़ी हुई है। एक कारण यह भी है कि वैज्ञानिक विश्वस्तता और स्पष्टता की ओर इधर जो बेलगाम प्रगति हो रही थी और जिस से उसे आशा हो चली थी कि यह जीवन के सत्य को हस्तगत कर लेगी, वह प्रगति भी मानो रुद्ध हो गयी है और अनुसन्धान एक सूनी दीवार से टकरा कर रह गया है। सापेक्ष्य-वाद की चोट ने यों तो हमारी बुद्धि को ही धक्का पहुँचाया और हमारी वैचारिक भूमि को कँपा दिया, लेकिन हमारे भौतिक सामाजिक जीवन की जड़ों को भी उसने बुरी तरह हिला दिया। मानव अभी नये वैज्ञानिक यथार्थ को सही ढंग से स्वीकार नहीं कर सका है—और न नये वैज्ञानिक अनिश्चय को सम्पूर्णतया अपना सका है। नये वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर अपने विश्वास और मान्यताओं का पुनःपरीक्षण और समन्वय वह अभी नहीं कर सका है। परिस्थिति इस लिए और भी शोचनीय है कि बहुत-से लोग अब मानने लगे हैं कि किसी भी वस्तु में विश्वास करना या किसी भी विश्वास में आशा केन्द्रित करना विपज्जनक है। दूध का जला छाछ फूँक कर पीता है; पुरानी निश्चयात्मकता खो कर मानव सभी चीज़ों के बारे में शंकित हो उठे तो क्या आश्चर्य? इस प्रकार एक ओर निश्चयात्मकता की माँग सब से अधिक प्रबल है, ("विश्वासों का होना ही पर्याप्त नहीं है, विश्वास भी होना चाहिए")[1] तो दूसरी ओर भूतपूर्व निश्चयात्मकता और विश्वास से निराशा भी चरम बिन्दु पर है ("मैं समूचे भूतसे अतीत से मुँह मोड़ लेना चाहता

१. 'इट इज़ नॉट इनफ टु हैव कनविक्शन्स, वन मस्ट आल्सो हैव कनविक्शन।'
—ए० एम० एस० हचिनसन, 'इफ विन्टर कम्स'

हूँ।"[1] 'काश कि समय की दिशा मे कोई नयी आंधी उठे और मुझे वहा ले जाय।'[2])

इस अनिश्चय, उलझन और अव्यवस्था म, जिसे एक व्यक्ति के भीतर अनेक या बहुमुखी व्यक्तित्व का उभार और भी जटिल बना देता है, अस्तित्व-रक्षा का एकमात्र साधन जीवन के प्रति दृष्टिकोण ही हो जाता है। वह दृष्टिकोण क्या हो, उस के बारे म अनेक मत हैं। एक मत यह भी है कि दृष्टिकोण क्या है, इस का महत्त्व उतना नहीं है जितना इस का कि दृष्टिकोण है, क्योंकि दृष्टिकोण होना ही सूचित करता है कि उपन्यासकार एक ऐसे सुविधापूर्ण स्थान पर है जहां से वह विश्व की व्यापक अव्यवस्था के परिदृश्य का अवलोकन कर सकता है।

इस नये युग की इस नयी अवस्थिति का वाहन, उसकी अभिव्यंजना का माध्यम उपन्यास ही क्यों है कविता, नाटक या निरे दार्शनिक प्रबन्ध क्या नहीं? क्योंकि परिस्थितियों के आधुनिक निरूपण का एक अंग यह भी है कि इन स्थिति का जीवित विस्तार मे ('इन द फोल्ड') ही दिखाना चाहिए। ये सब समस्याएँ और परिस्थितियां किस प्रकार जीवन-व्यापार को प्रभावित या निरूपित करती हैं, इसी का अध्ययन होना है और जीवन व्यापार तो उपन्यास का विषय है ही। उपन्यास साहित्याभिव्यंजना का सर्वश्रेष्ठ आधुनिक माध्यम है क्यों कि वह एक शिथिल या असंगठित माध्यम है—न तो काव्य की भांति 'शुद्ध' और न नाटक की भांति सीमित। कवि मूलत अपने लिए लिखता है, नाटककार मूलत सामाजिक या दर्शक के लिए। लेकिन उपन्यासकार एक साथ ही कलाभिव्यंजना के कई स्तरों पर विचरण कर सकता है। वह एक साथ ही सबके लिए लिख सकता है, जन साधारण के लिए ("अमुक घटित हुआ या हो रहा है"), दूसरे लेखकों के लिए ('अमुक विषय-वस्तु को मैंने तो ऐसे लिया है, आप क्या करते, या शेक्सपियर या तुर्गनेव क्या करता?') या स्वयं अपने लिए ("हां, यह तो दृष्टिकोण हुआ, समस्या का हल क्या है?") एक साथ कई स्तरों पर अभिव्यक्ति आधुनिक उपन्यास का एक लक्षण है। आन्द्रे जीद का 'जालसाज' (ले फ्रो मॉनियर्स) इस प्रकार के उपन्यास का बहुत रोचक उदाहरण है। रूप विधान की दृष्टि से यह इधर की महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृतियों मे स्थान रखता है। एक साहित्यिक माध्यम के रूप मे उपन्यास जो विशिष्ट और अद्वितीय अवसर देता है, उस का इस म भरपूर उपयोग किया गया है। एल्डस हक्सले, जॉनडोस पैसोस, चार्ल्स मॉर्गन—पश्चिमी साहित्य मे और अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। एक साथ एकाधिक स्तर पर अभिव्यंजना और दो-तीन अलग अलग कालों के निर्वाह के

१. 'आइ वर्ट टु रन आर बैक ऑन द होल क्वाइट पाट !' —डी० एच० लारेंस
२. 'आइ वान्ट ए विंड टु ब्लो इन द डाइरेक्शन ऑफ टाइम ऐंड कैरी मी अवे।' —डी० एच० लारेंस

हिन्दी से एक उदाहरण के रूप में शेखर का नाम लिया जा सकता है। उपन्यास की अच्छाई-बुराई का यहां प्रश्न नहीं है, केवल रूप-विधान के एक आधुनिक प्रयोग की बात हो रही है।

यहां कदाचित् 'दृष्टिकोण' और 'ढंग' में भेद करना उचित होगा। ऑस्कर वाइल्ड का एक ढंग ('पोज़') था जिसे जीवन के प्रति दृष्टिकोण नहीं कहा जा सकता। कहा जा सकता है कि ढंग एक 'बनावटी दृष्टिकोण' होता है। और उपन्यासकार उसे तभी ग्रहण करता है जब वह जीवन को सतही नज़र से देखकर उसे लुभावने रूप में प्रस्तुत कर के सन्तुष्ट हो जाने वाला हो। लेकिन आधुनिक उपन्यासकार वास्तविक जगत् से कहीं अधिक गहरा सम्पर्क रखता है। उस के लिए दृष्टिकोण मनोरंजन या रोचकता का साधन नहीं बल्कि जीने के लिए एक व्यावहारिक दार्शनिक आधार है। जीवन के लिए ऐसा आधार खोजने को वह एक समस्या और कर्तव्य के रूप में लेता है और गम्भीरतापूर्वक उस समस्या और कर्तव्य का सामना करता है। यही उस की आधुनिक कसौटी है।

प्रेमचन्द और परवर्ती उपन्यास

आज का विदेशी साहित्य पढ़ने वाला भारतीय पाठक आसानी से यह दे सकता है कि प्रेमचन्द महान् उपन्यासकार नहीं हैं और अपने कथन की पुष्टि के लिए प्रेमचन्द के समकालीन और परवर्ती विदेशी उपन्यासकारों के नाम गिना दे सकता है। कहानी के क्षेत्र में तो कुछ लोगों ने हिन्दी में ही ऐसे दस-दस लेखकों की सूचियाँ बनायी हैं जो "प्रेमचन्द से कम से कम दस वर्ष आगे हैं!" इस तरह की तुलना करने वाले अपने अहंकार अथवा पूर्वग्रह का ही प्रदर्शन करते हैं, जिन साहित्यकारों की तुलना की जाती है उनमें से किसी का भी हित-साधन नहीं करते—न तो प्रमाण पक्ष का, न प्रमेय का। किसी भी साहित्यिक कृति की समीक्षा करते समय सबसे पहले उसे अपने साहित्य और समाज की—अर्थात् उनके समाज की—परिधि में देखना चाहिए। जड़ों के बिना पत्ता नहीं होता, और पौधे की पत्तियाँ देखकर हम उस मिट्टी का गुण-दोष पहचान सकते हैं जिस में वह पौधा उत्पन्न हुआ। इस दृष्टि से देखें तो हम जान सकते हैं कि प्रेमचन्द का आविर्भाव हिन्दी साहित्य के लिए कितनी बड़ी घटना है। प्रेमचन्द के पहले का हिन्दी आख्यान-साहित्य आख्यान तो है पर आज जिसे अंग्रेज़ी में फिक्शन कहते हैं वह नहीं है। प्रेमचन्द हिन्दी के पहले आधुनिक आख्यान-लेखक हैं—आधुनिक इस अर्थ में कि उन्हें आधुनिकता का, समकालीनता का, अपने समवर्ती समाज-जीवन की अन्तःशक्तियों का जीवित बोध है। निस्सन्देह राष्ट्रीयता की चेतना हिन्दी में उनसे पहले भी थी, और बंगला में तो थी ही; लेकिन राष्ट्रीय भावना सामाजिक चेतना का केवल एक अंग है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में राष्ट्रीय चेतना है, लेकिन यहाँ जिस बात की चर्चा की जा रही है वह उनमें कहीं बड़ी चीज़ है। ऐय्यारी, तिलिस्मी और सालिनों-भटियारिनों के किस्सों से, या पुराने आख्यानों के पुनः संस्करणों से, 'सेवा सदन' तक कितनी बड़ी मंज़िल है, इस पर थोड़ी देर विचार करने से प्रेमचन्द की देन पर चकित रह जाना पड़ता है।

यह भी प्रेमचन्द की समकालीनता का केवल ऐतिहासिक पहलू है। कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से तो प्रेमचन्द का महत्त्व है, पर इतिहास 'जीवित सत्य' नहीं है, वह अतीत का सत्य है। औरप्रेमचन्द का साहित्य हमारी साहित्य-परम्परा में स्थान तो रखता है, लेकिन वह एक पिछड़ा हुआ स्थान है, क्योंकि

आज हम उनसे आगे निकल आए हैं। ऐसा होता तो बड़े सन्तोष की बात होती क्योंकि ऐसा होने से प्रेमचन्द का महत्त्व तो किसी तरह कम न होता, और साथ ही हम अपनी प्रगति पर गर्व भी कर सकते। कालिदास या श्रीहर्ष पुराने हैं, आज कोई उनके ढंग की चीज लिखे तो इसे काल विपर्यय ही मानना होगा, फिर भी यह कहने का साहस कौन करेगा कि कालिदास या श्रीहर्ष के साहित्य का आज महत्त्व नहीं रहा ! किन्तु प्रेमचन्द के उपन्यासों से परवर्ती उपन्यास-साहित्य की तुलना करने पर क्या यह दावा किया जा सकता है कि परवर्ती साहित्य सचमुच प्रेमचन्द से बहुत आगे है ? और अगर बहुत न सही, कुछ भी आगे होने का दावा किया जा सकता है, तो वह ठीक किस अर्थ में ? यह प्रश्न निश्चय ही अन्वेषणीय है, और अध्ययन के बाद कदाचित् इसी परिणाम पर पहुंचना होगा कि ऐसा दावा अगर किया भी जा सकता है तो उसे बहुत-सी शर्तों और मर्यादाओं से वेष्टित करके ही।

असल में परवर्ती युग में शिल्प का—तकनीक का—महत्त्व बहुत बढ़ गया है। शिल्प-शैली की चकाचौंध के कारण ही हम कई नयी कृतियों को वह महत्त्व देने लगे हैं जिनके वे वास्तव में पात्र नहीं हैं और जो भविष्य उन्हें नहीं देगा। दूसरी ओर यथार्थवाद के नाम पर प्रगतिवादी आन्दोलन ने जहां साहित्यकार की दृष्टि को एक नयी दिशा की ओर मोड़ा वहां एक दूसरे परिदृश्य से उसे हटा भी दिया। अंग्रेजी में कहावत है कि 'पेड़ों के कारण जंगल नहीं दीखता', इसी बात को यों कहना कि 'जंगल के कारण पेड़ नहीं दीखते' किसी नये सत्य का आविष्कार करना नहीं है, केवल बलाघात को स्थानान्तरित कर देना है। सामन्तकालीन साहित्य में अगर उच्च वर्ग के पात्रों का ही यथार्थ वर्णन होता था और इतर लोग केवल एक परिपाटी के सांचे में ढली हुई छायाएँ मात्र रह जाती थीं, तो आज की आग्रही साहित्य-दृष्टि भी कम संकुचित नहीं है अगर उसने भुलुआ धोबी और मनुआ चमार को व्यक्ति-चरित्र देकर भद्र और उच्चवर्गीय व्यक्तियों को पुतले बना दिया है। न ही वह उसका प्रतिकार है, जैसा कि कुछ बाद के लेखकों में देखा जाता है, कि पूरे समाज में एक वर्ग का वास्तविक रूप-चित्र और दूसरे के केवल सांचे-ढले पुतले न दिखाकर, समाज के एक बहुत छोटे-से दैशिक वृत्त को—एक 'अंचल' को लेकर उसको पूरा देखा जाए और उस वृत्त के बाहर के समाज को छोड़ दिया जाए। फिर वह दैशिक वृत्त चाहे एक देहाती अंचल का हो, चाहे एक कस्बे का, चाहे महानगर के एक जीर्ण होकर टूटते हुए मुहल्ले का।

यों तो एक हद तक प्रेमचन्द के साहित्य में भी यह दोष है। उनके देहाती, निम्नवर्गीय (या निचले मध्यवर्गीय भी) पात्रों का चित्रण तो खरा और सर्वांगीण सच्चा है, पर शिक्षित मध्यवर्गीय या उच्चवर्गीय पात्रों का चित्रण सतही और अविश्वास्य। किन्तु प्रेमचन्द में यह दोष अनुभव की सीमा का दोष है, संकुचित

सहानुभूति, उदारता की कमी, पूर्वग्रह या इच्छा से उत्पन्न होने वाला नहीं। जबकि इसके प्रतिकूल अधिकांश प्रगतिवादी साहित्य को संकल्पपूर्वक संकुचित रखी गयी दृष्टि से देखता है। उसका यथार्थ एक खंडित यथार्थ रहा है जिसे वह सदैव ही देखना चाहता रहा है क्योंकि वह कुछ खंडों को अनदेखी करना चाहता है जो उसके सैद्धान्तिक ढाँचे में नहीं नहीं बैठते। जीवन को अविचल दृष्टि और सम्पूर्ण देखना—टु सी लाइफ स्टेडिली एण्ड टु सी इट होल—न उससे बन पड़ा है, न उसने चाहा है। प्रेमचन्द का दृष्टिकोण मानववादी था। समाज के वर्ग-विभाजन को और उससे उत्पन्न होने वाले उत्पीड़न और शोषण को वह न देखता हो ऐसा नहीं था किन्तु इस बात को वह अनदेखी नहीं कर सकता था, न करना चाहता था, कि जन्म, कर्म या घटना-चक्र से किसी वर्ग के हितों से सम्बद्ध हो जाना सामाजिक जीवन की एक घटना अथवा वास्तविकता है, जब कि मानव होना उसके जीवन की ही बुनियादी वास्तविकता है और उस बुनियादी वास्तविकता के नाते मानव मात्र सहानुभूति का पात्र है।

कह सकते हैं कि प्रेमचन्द सामाजिक आदर्शवादी थे। आज के युग में किसी को आदर्शवादी कहना एक प्रकार से उसे गाली देना ही है। 'प्रेमाश्रम' के आदर्श समाज का और प्रेमाश्रम ही क्या, सेवा-सदन' के सेवा-सदन पर हँसी क्या आज के विदग्ध पाठक को प्रत्यय हो सकेगा? हवाला देकर प्रेमचन्द के आदर्शवाद को काल्पनिक और असार बताया जा ही सकता है। पर उपन्यासकार की समाज-परिकल्पना अपर्याप्त भी मान ली जाय तो उतने भर से यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि उसके आदर्श में प्राण-शक्ति नहीं है, या कि उसके आदर्शवाद में रचनात्मक सम्भावनाएँ बिलकुल नहीं हैं। साधारणतया हम यह नहीं मान लेंगे कि समाजोन्नति या सुधार ही साहित्यकार का लक्ष्य है या होना चाहिए, पर सर्वलक्षित लक्ष्य एक बात है और प्रभाव की दिशा दूसरी बात, और यह कहना असंगत न होगा कि प्रेमचन्द के उपन्यासों में रचनात्मक प्रभाव की सम्भावना अधिक है क्योंकि प्रेमचन्द का आदर्शवाद मानवता में आस्था रखता है और वह आस्था रचनात्मक प्रणालियों में बाँधी जा सकती है।

इन साधारण और व्यापक प्रतिपत्तियों के स्पष्टीकरण के लिए परवर्ती उपन्यास-साहित्य से कुछ उदाहरण देना उचित होगा। प्रेमचन्दोत्तर सब उपन्यासों की पड़ताल का असम्भव प्रयत्न न करके उन्हीं उपन्यासों को सामने रखा जाये जिनका उल्लेख सामान्यतः पहले भी हो चुका है (दे० साहित्य-प्रवृत्तियों की सामाजिक पृष्ठभूमि) भगवतीचरण वर्मा का 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', उपेन्द्रनाथ अश्क का 'गिरती दीवारें', इलाचन्द्र जोशी का 'निर्वासित', यशपाल का 'देशद्रोही', रांगेय राघव का 'घरौंदे', रामचन्द्र तिवारी का 'सागर, सरिता और अकाल' तथा अमृतलाल नागर का 'बूँद और समुद्र'। यह नहीं कि परवर्ती उपन्यासों में केवल

ये महत्त्व के समझे गये हैं, उल्लेखनीय उपन्यास और भी हैं। लेकिन ऐतिहासिक उपन्यास या अतीत के युगचित्र यहाँ प्रासंगिक नहीं है, समकालीन सामाजिक वस्तु वाले उपन्यास ही यहाँ सामने रखने हैं। इस दृष्टि से जैनेन्द्रकुमार के दो-एक उपन्यास भी लिये जा सकते, पर 'त्यागपत्र' भी अन्ततः व्यक्ति-चित्र है और 'सुनीता' के लिए तो स्वयं लेखक की ओर से ही वास्तविकता का दावा नहीं है—उसके पात्र सामाजिक व्यक्ति नहीं, रचना-सघटित मानव-यन्त्र हैं जिनके द्वारा लेखक एक उपकल्पित मानसिक संघर्ष को मूर्त रूप देना चाहता है। इनमें लेखक की सफलता सबसे पहले तकनीक की विजय है और उसी सन्दर्भ में इनका अध्ययन विशेष उपयोगी हो सकता है।

उल्लिखित सभी उपन्यास समकालीन सामाजिक घटना से सम्बन्ध रखते हैं और उसी के द्वारा मानव-जीवन का चित्रण और अध्ययन करते हैं। चार-पाँच वर्ष की अवधि में इतने और इस कोटि के सामाजिक उपन्यासों का प्रकाशन सन्तोष का विषय होगा[1], यद्यपि इनमें से किसी को सर्वथा परिपक्व निर्दोष कला-कृति नहीं माना जा सकता और सभी में न्यूनाधिक मात्रा में सिद्धान्तों और मतवादों का आरोप है—वह एकप्राणता नहीं है जो साहित्यिक कृति में होनी चाहिए।

'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' राजनैतिक आन्दोलन के तीन रास्तों के—गांधीवादी, कम्युनिस्ट और आतंकवादी सम्प्रदायों के—अध्ययन के नाम पर वास्तव में राजनैतिक संघर्ष के परिपार्श्व में व्यक्तियों का ही चित्रण है। उस राजनैतिक संघर्ष में लेखक का पूर्वग्रह भी बिलकुल स्पष्ट है। दृढ़-चरित्र और शासनप्रिय ताल्लुकेदार के तीन बेटे तीन पथ चुनते हैं। गांधीवादी पुत्र किसी हद तक लेखक की सहानुभूति पाता है। आतंकवादी का चित्र घटिया रोमानी उपन्यासों जैसा है और बिलकुल ही झूठ हो जाता अगर जहाँ-तहाँ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की पैठ उसमें प्राण नहीं डाल देती। कम्युनिस्ट को तो लेखक ने स्पष्टतया विद्रूप और तिरस्कार का पात्र बनाया है और उसके साथ लेखक के बर्ताव में उतनी ही 'सच्चाई' है जितनी की सरकस के विदूषक की पटापट बजने वाली चमड़े की लाठी की मार में होती है। तीन पथियों में कोई भी यथार्थ और सामाजिक मानव-चरित्र नहीं है, न उनके द्वारा तय किये गए टेढ़े-मेढ़े रास्ते ही वास्तविक, यथार्थ और विश्वास्य हैं। उपन्यास का सबसे अधिक विश्वास्य और खरा चित्र ताल्लुकेदार का ही है और उसके बाद गाँव के बूढ़े झगड़ू का। और इसका कारण यही है कि इन्हीं दो पात्रों को लेखक की मानवीय सहानुभूति मिली है, इन्हीं के मन को उसने संवेदना के सहारे समझा और ग्रहण किया है। निस्सन्देह उपन्यास रोचक है और लेखक

१. इस निबन्ध में स्वातन्त्र्य-युग के उपन्यासों की चर्चा नहीं की गई है, स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पहले प्रकाशित उपन्यासों पर ही विचार किया गया है।

की प्रतिज्ञा की सीमाओं को समझ लेने के बाद उपन्यास के बौड़मपन पर हँस सकना भी सम्भव है। लेकिन क्या यह उपन्यास यथार्थवादी है?—इस प्रश्न का उत्तर खोजने चलने पर और भी प्रश्न ही हाथ आते हैं: क्या उपन्यास का समाज हमारा समाज है? या कि कोई भी मानव समाज है? क्या उसके पात्र हमारे समाज के मानव-पात्र हैं? संक्षेप में—क्या उसकी वस्तु समकालीन और अर्थगर्भ है, सिग्निफिकेंट है?

इसकी तुलना में 'गिरती दीवारें' कहीं अधिक सच्ची और यथार्थ है। उसका सच बहुत सकुचित है यद्यपि उसकी दृष्टि भी सकुचित अणुवीक्षक दृष्टि है और जीवन के प्रसार और फैलाव को नहीं देखती। जिस तरह मूर्ति पर चलता हुआ चींटा उसकी रचना की एक-एक बारीकी और सतह के खुरदुरेपन को देखता है लेकिन मूर्ति को नहीं देख सकता और उसके रूप की तो कल्पना ही नहीं कर सकता, उसी तरह 'गिरती दीवारें' का लेखक उसके नायक के साथ आत्मसात् होकर उस परिपार्श्व को नहीं देखता जिसमें कि नायक एक स्वल्प इकाई-भर है। उपन्यास में कहीं-कहीं बहुत ही मार्मिक चित्रण है, और कभी-कभी दृष्टि के सूक्ष्म आविष्कार के कारण कोई स्थान अथवा पात्र अत्यन्त सजीव होकर उभर आता है। लेखक की ठोस सामाजिक बुद्धि के कारण जहाँ-तहाँ पैनी और चुभती हुई उक्तियाँ मिलती हैं जिनकी दाद देनी पड़ती है। किन्तु कुल मिलाकर उपन्यास पूरे समाज का एक सघटित चित्र नहीं देता। इतना ही नहीं, उपन्यास के नाम से जो अनुमान होता है, वस्तु के सहारे पाठक समाज की गिरती हुई दीवारों की जो कल्पना करता है, उसे स्वयं लेखक उपन्यास के अन्त में झुठला देता है। छः सौ पृष्ठ पढ़कर अन्त में यह निष्कर्ष निकलता देखकर बड़ी निराशा होती है कि उपन्यास की दीवारें मानव-समाज की दीवारें नहीं, पंजाबी निम्न भद्र-वर्ग की भी दीवारें नहीं, केवल यौन-कुंठा की दीवारें हैं। असल में उपन्यास में फैलायी गयी वस्तु के आन्तरिक महत्त्व और अर्थ को लेखक स्वयं पूरी तरह ग्रहण नहीं कर सका, पाठकों को ग्रहण कराने की बात तो दूर रही। 'गिरती दीवारें' में जितनी वस्तु है, वह पंजाब के हिन्दू निम्न भद्र-वर्गीय जीवन के ओछेपन का सर्वांगीण चित्र उपस्थित करने के लिए काफी है और लेखक में अगर पसारा फैलाने और समेटने का सामर्थ्य होता तो यह पुस्तक थियोडोर ड्राइजर की 'अमेरिकन ट्रैजेडी' का उत्तर भारतीय प्रतिरूप हो सकती। लेकिन लेखक एक तो बार-बार प्रसगान्तर में पड़ गया है, इस या उस पात्र पर दो चार छींटे कसने के हलके लोभ में पड़ गया है, या फिर निम्न भद्र वर्ग की बहुमुखी आकांक्षाओं में से केवल एक के—यौन-तृप्ति की आकांक्षा के—और उसके घुटन से उत्पन्न होने वाले विकारों के साथ उलझा रह गया है। *निस्सन्देह यह घुटन* जिन वर्जनाओं के कारण होता है उन वर्जनाओं का आधार समकालीन आचार की मर्यादाएँ ही होती हैं और ये मर्यादाएँ तत्का-

लीन सामाजिक जीवन की उपज होती हैं। इसलिए वर्जनाओं से हम तत्कालीन समाज-स्थिति को भी समझ सकते हैं। लेकिन इस द्रविड प्राणायाम के लिए पाठक क्यों तैयार हो ? उपन्यासकार का आधा काम वह स्वयं क्यों करे ?

इलाचन्द्र जोशी का 'निर्वासित' भी अन्ततोगत्वा व्यक्ति-चरित्र का उपन्यास है। एक ही व्यक्ति, और वह भी ऐसा व्यक्ति जिसका व्यक्तित्व अनेक मानसिक कामज वर्जनाओं से कुंठित और विघटित हो गया है, उपन्यास का केन्द्र है। उस व्यक्ति को लेखक की सहानुभूति तो मिली है लेकिन पाठक की सहानुभूति इसलिए नहीं मिलती कि उसकी अकारण अस्थिरता के साथ पाठक नहीं चल सकता। उपन्यास की एक यह विशेषता जरूर है कि हिन्दी में एकमात्र इस उपन्यास में एटम बम के आविष्कार की महत्ता और उसकी दूरव्यापी सम्भावनाओं पर जोर दिया गया है। इतना ही नहीं, उपन्यास के घटना-क्रम में यह आविष्कार एक धुरी का काम करता जान पड़ता है। लेकिन वास्तव में चरित-नायक पहले ही जिस सम्पूर्ण पराजय और कुंठितावस्था तक पहुँच चुका है, उसी को पाठक पर अभि-व्यक्त कर देने के लिए एटम बम निमित्त बना लिया गया है। अगर मानव की उन्नति पर चरित-नायक का विश्वास पहले ही टूटा हुआ न होता—(वास्तव में अहंकारी नायक का मानव में विश्वास कभी रहा ही नहीं और घटना-चक्र से जो कुंठित हुआ वह केवल उसका आत्मविश्वास है)—तो एटम बम की घटना उसे तोड़ देने के लिए काफी न होती। जिन्हें मानवता पर विश्वास रहा उन्हें आज भी है, और यह नहीं कहा जा सकता कि वे सब मूर्ख हैं और एटम बम की महत्ता से परिचित नहीं हैं।

यह न समझा जाए कि यहाँ मानवता नाम की किसी रहस्यपूर्ण सत्ता की दुहाई दी जा रही है। हम तो मानते हैं कि अगर कोई नया रहस्यपूर्ण सत्य आविर्भूत होता है तो वह पहले व्यक्ति-चेतना के माध्यम से ही प्रकाश में आता है। समाज, समष्टि, मानवता—वे भी जटिल और परिवर्तनशील तथ्य हैं और वैज्ञानिक अन्वेषण की उपयुक्त सामग्री है, हमारे विकास-पथ की दिशा इनके अध्ययन से सूचित और निर्दिष्ट भी होती है। लेकिन उस पथ पर बढ़ते हुए पूर्व-निर्दिष्ट अथवा विज्ञान के सहारे अनुमेय, उन्नति से अलग जो कुछ भी होता है वह व्यक्ति की देन है। अर्थात् समष्टि की तरह व्यक्ति भी बहुत दूर तक पूर्व-निर्देश्य और अनुमेय है, लेकिन उससे आगे, जब हम अननुमेय और रहस्यमय के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं, तब वहाँ व्यक्ति का ही महत्त्व होता है। इस दृष्टि से कम-से-कम इलाचन्द्र जोशी को इसलिए दोष नहीं दिया जा सकता कि वह व्यक्ति की रहस्य-मयता को इतना महत्त्व देते हैं, वह आलोच्य हैं इसलिए कि वह सामाजिक परि-पार्श्व को और उसमें क्रियाशील जानी हुई और पूर्वानुमेय शक्तियों को उचित महत्त्व नहीं देते। व्यक्ति महान् है तो इसलिए नहीं कि वह सर्वथा अननुमेय,

स्वच्छन्द और अनियमित है, वरन् इसलिए कि वह एक अनुमेय और नियमित सामाजिक परिपार्श्व में रहता हुआ भी उसे परिवर्तित करता है और नयी दिशाएँ तथा नयी गति दे सकता है। परिपार्श्व के साथ उसके अन्योन्याश्रय को न देखना व्यक्ति को ऐसी आकाश-बेल मानना है जो कि अपने आधार को मार ही सकती है, और कुछ नहीं कर सकती। ऐसी कल्पना का परिणाम सम्पूर्ण पराजय और निराशावाद ही हो सकता है। और वास्तव में इलाचन्द्र जी के उपन्यास में यही परिणति हुई भी है। 'सन्यासी' से 'निर्वासित' तक का विकास इसे सूचित करता है।

रचना की दृष्टि से यशपाल का 'देशद्रोही' इन उपन्यासों में सबसे अच्छा है, यद्यपि उसकी कथा भारत से अफगानिस्तान जाती है और फिर लौटती है और विदेश का वर्णन उतना सम्यक् और जीवन्त नहीं है जितना कि भारत का। यशपाल एक प्रौढ़ कुशल और अध्यवसायी शिल्पी हैं और इसी शिल्प के सहारे उन्होंने एक रोचक और पठनीय उपन्यास प्रस्तुत किया है। शिल्प और तकनीक पर अपने अधिकार को वह अधिकाधिक राजनैतिक अथवा सैद्धान्तिक प्रतिपत्तियों में लगा रहे हैं, इस पर कुछ पाठकों को खेद हो सकता है, पर अधिसंख्य पाठक जो उपन्यास में सबसे पहले एक सुघड़ रोचकता चाहते हैं, वे इस बात को अनदेखी भी कर सकते हैं।

रांगेय राघव के उपन्यास 'घरौंदे' में प्रतिभा के भी और अपरिपक्वता के भी स्पष्ट लक्षण हैं। लेखक ने अनुभव किया है कि मानवीय उद्योग एक महत्तर परिपार्श्व में होता है जिस पर उसका अधिकार नहीं है, और इस अनुभव का आभास पाठकों को देने की उसने पूरी चेष्टा की है। किन्तु जहाँ प्रतिभा ग्रहण-शक्ति और सूझ देती है, वहाँ परिपक्वता अनावश्यक के परित्याग का निर्ममत्व भी देती है, वह निर्ममत्व रांगेय राघव में नहीं है। कॉलेज के विद्यार्थी-विद्यार्थिनियों के अधकचरे ज्ञान और वय सन्धिकाल की अस्पष्ट लालसाओं पर आधारित वाद-विवाद बिलकुल अनावश्यक है और उपन्यास की शक्ति को क्षीण करता है। कुल मिलाकर कहना पड़ता है कि 'घरौंदे' का महत्त्व उसकी उपलब्धि में नहीं, अपितु भविष्यत् उपलब्धियों की सम्भावना में है।

'सागर, सरिता और अकाल' तथा 'महाकाल' दोनों की वस्तु बंगाल के अकाल से ली गयी है। दोनों खरे यथार्थ चित्र हैं। 'सागर' के चित्रण में अधिक बारीकी और शक्ति है। उपकरण और सामग्री का उपयोग करने का उनका ढंग भी अधिक आधुनिक है। तकनीक की दृष्टि से इन दो उपन्यासों की तुलना उपयोगी है। रामचन्द्र तिवारी का तकनीक प्रेमचन्द के निकटतर है; शायद अपने समय के उपन्यासकारों में इस दृष्टि से वही प्रेमचन्द के सबसे निकट माने जायँगे। 'महाकाल' के लेखक का चित्रण सर्वथा भिन्न प्रकार का है। तिवारी जी के सामने

और प्रेमचन्द के सामने—मानवता का, मानवीय उद्योगों का एक ढाँचा रहता है जिसमें व्यक्ति का उद्योग बाँध दिया जाता है। फलत अमुक एक और अमुक दूसरे व्यक्ति की विशेषता और रोचकता इसमें रह जाती है कि दोनों एक साधारण मानव से किस हद तक भिन्न हैं। किन्तु नागर जी के सामने वैसा कोई ढाँचा नहीं रहता। वह प्राकृतिक शक्तियों से ताडित और प्रतारित व्यक्तियों का एक के बाद एक चित्र उपस्थित करते चलते हैं और इन चित्रों से मानवता का सम्पूर्ण चित्र तैयार करने का काम पाठक पर छोड़ देते हैं। उनका प्रकृतवादी चित्रण तत्काल प्रभाव डालता है लेकिन चित्रों के समूह में मानवता का जो रूप हमारे सामने आता है वह मूलत एक नकारात्मक रूप है। फलत व्यक्तियों की बहुलता और रंगीनियाँ ही मानवता के सम्पूर्ण चित्रण में बाधक होती है और लेखक के उद्देश्य को असफल कर देती हैं। पाठक पूछता है, 'अगर यह सच है कि अकाल की दुर्घटना वास्तव में बहुत बड़ी दुर्घटना है किन्तु मानवीय इतिहास में केवल एक घटना है—वास्तव में मानव को इस तरह आमूल पतित कर दे सकती है तो फिर मानव का महत्व क्या है और मानवता की रक्षा की चिन्ता हमें क्यों हो? परिस्थिति मानव को तोड़ती है या बनाती है, यह ठीक है, लेकिन अगर सत्य केवल इतना ही होता तो हम मानवता के लिए अधिक व्यस्त न होते, क्योंकि परिस्थिति ही सब-कुछ हो जाती। क्योंकि ऐसे व्यक्ति हैं और होते हैं जो कि बनने और टूटने के नियमों के अधीन होकर भी पूर्णतया परिस्थिति-सचालित नहीं हो जाते, इसीलिए हम मानवता के भविष्य के बारे में आशावादी हो सकते है। व्यक्ति के महत्व के बारे में ऊपर जो कुछ कहा गया वह यहाँ प्रासंगिक है। इस दृष्टि से तिवारी जी का उपन्यास अधिक सन्तोषप्रद है। उसमें मानवों की वासना, लोलुपता और नीचता की पृष्ठभूमि पर मानव के ही साहस और उद्योग का—भले ही अकिंचन और असफल उद्योग का—चित्र पेश किया गया है।

अपने समय के कुछ-एक उपन्यासों की इस समीक्षा में अति सक्षेप के कारण अलग-अलग उपन्यासों के साथ न्याय नहीं हो सका है, और समीक्षा यों भी एकांगी और अधूरी है; कदाचित् अपेक्षा से अधिक बेमुरव्वत भी है। पर समकालीनों की आलोचना में यह स्वाभाविक होने के नाते क्षम्य है, और यों भी दो अतियों में से कम आपज्जनक अति है।

तो हम देखते है कि जहाँ तक मानवीय सहानुभूति का—लेखक-मानव की विश्व-मानव के साथ एकात्मता का—प्रश्न है, प्रेमचन्द इस बात में आगे थे। उनकी दृष्टि अधिक उदार थी, इतर मानवों के साथ उनकी सवेदना का सूत्र अधिक सजीव और स्पन्दनशील था। डी० एच० लारेंस ने अपने समय के एक नव-यथार्थवादी उपन्यास की भूमिका में उसके लेखक का अनुमोदन करते हुए कहा था . 'आधुनिक सफाई—सैनिटेशन—की जड़ में यह बात है कि मानव को मानव

की बू असह्य हो गयी है। बहुधा मानव जाति की उन्नति और सुधार की प्रचेष्टा में भी मानव से प्रेम नहीं, मानव के प्रति अवहेलना या घृणा की भावना काम करती है। बुद्धिवादी के लिए यह खतरा सदा बना रहता है कि उन की मानवीय संवेदना का स्रोत कहीं सूख न जाए, मानव के लिए उसका दर्द एक सस्ती अनुकम्पा का ही रूप न ले ले। प्रेमचन्द की और हमारी दृष्टि में ऐसा ही अन्तर आता गया है। प्रेमचन्द का मानवता से प्रेम था, हम अधिक-से-अधिक मानवता की प्रगति मात्र चाहते हैं।

आख्यान-साहित्य को हमने प्रेमचन्द से आगे बढ़ाया है, लेकिन मुख्यतया शिल्प की दिशा में। हम ज्यादा सफाई लाये हैं—क्योंकि 'मानव को मानव की बू नापसन्द है।' साहित्यकार की संवेदना को, मानवीय चेतना को, हमने अधिक विकसित या प्रसारित नहीं किया है। यह एक कारण है—और यह पर्याप्त कारण है—कि प्रेमचन्द का आख्यान-साहित्य अब भी एक आदर्श का काम दे सकता है—मार्गदर्शन कर सकता है। प्रेमचन्द को हम पीछे छोड़ आये, यह दावा सार्थक उसी दिन होगा जिस दिन उससे बड़ी मानवीय संवेदना हमारे बीच प्रकट हो। उसके बाद ही हम कह सकेंगे कि प्रेमचन्द का महत्त्व ऐतिहासिक महत्त्व है। तब तक वह हमारे बीच में हैं, पुराने पड़कर भी समर्थ हैं, साहित्य-सम्भार में गुरुस्थानीय हैं और उनसे हम शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

कहानी : पृष्ठभूमि

अपने शैशव-काल से ही हम कहानियाँ सुनना आरम्भ कर देते हैं—दादियों से, माँओं से, घर की बड़ी-बूढ़ियों से; कभी-कभी आयु में कुछ ही बड़े संगियों से। 'नानी की कहानी' मुहावरा ही हो गया है, क्यों कि कहानी के साथ हमारा पहला मानसिक सम्बन्ध ऐसे ही किसी निमित्त से होता है। इतना ही नहीं, शैशव-काल में सुनी हुई कहानियाँ हमारी कल्पना और हमारे कौतूहल को जैसे उकसाती हैं, उसका हमारे व्यक्तित्व के निर्माण और विकास पर स्थायी प्रभाव पड़ता है, यहाँ तक कि यह भी कहा जा सकता है कि हम बचपन में जैसी कहानियाँ सुनते हैं, बड़े होकर वैसे ही हो जाते हैं।

और कहानी किसी वर्ग या जाति या देश-काल की सीमाओं से बँधी नहीं है। सभी वर्गों और जातियों में कहानी कही और सुनी जाती है, हाँ, स्थान, शिक्षा, मानसिक परिपक्वता और सामाजिक वातावरण आदि से कहानी का ढंग प्रभावित होता है।

जिस वय में कल्पना का विकास होता है, उसमें बालक कहानियाँ सुनते ही नहीं, कहते भी हैं, और श्रोता न हो तो स्वयं अपने-आप से कहते हैं। बच्चों का डींगें हाँकना या बड़ी-बड़ी बातें बनाना भी कहानी कहने का एक रूप है और बच्चों के व्यक्तित्व के विकास का एक लक्षण। बहुधा कहानी का नायक या प्रमुख पात्र बच्चा स्वयं होता है, कभी यह स्थान किसी प्रियजन को, या किसी ऐसे व्यक्ति को जिसका प्रभाव उस समय गहरा हो, मिल जाता है। बच्चों की अपने से कही हुई हर कहानी उनकी किसी समस्या का हल करती है, या विरोधी अनुभवों या प्रभावों में सन्तुलन और सामंजस्य लाने का प्रयत्न करती है। बच्चों की गढ़ी हुई कहानियों से हम उनके चरित्र के विकास को समझ सकते हैं, और वस्तु-स्थिति—घटना, समाज, घरेलू जीवन, व्यक्तिगत अनुभव आदि—के प्रभावों को ग्रहण करने की उनकी योग्यता और प्रणालियों का अध्ययन कर सकते हैं। इसी प्रकार हम किसी जाति या वर्ग की कहानियों के अध्ययन से उसके मानसिक गठन को समझ सकते हैं—विशेषकर कम विकसित जातियों के, जिनकी मन-प्रवृत्तियाँ बहुत कुछ बच्चों के ही समान होती हैं। लोक-साहित्य के इस अंग का अध्ययन ऐसी जातियों या वर्गों की आशा-आकांक्षाओं, आदर्शों और प्रतिमानों को समझने

के लिए अत्यन्त मूल्यवान होता है—उनकी सवेदना से सम्पर्क स्थापित करने के लिए तो अनिवार्य ही होता है।

इससे यह तो स्पष्ट हो जाना चाहिए कि कहानी मानव-समाज के आदिकाल से ही चली आयी है, और समाज-जीवन मे उसका महत्वपूर्ण स्थान रहा है—केवल मनोरंजन या कौतूहल के लिए नहीं, वरन् समाज के मानसिक सगठन के सूत्र, आशा-आकाक्षाओ के माध्यम, और सवेदन-सम्प्रेषण के सवाहक के रूप मे।

कहानी की परम्परा

यहाँ कहानी शब्द का प्रयोग एक साधारण अर्थ मे किया जा रहा है, उस विशिष्ट अर्थ मे नहीं जिसके लिए अग्रेजी मे 'शॉर्ट स्टोरी' और भारतीय भाषाओ मे 'गल्प', 'कहानी', 'लघु-कथा' आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं। इस साधारण अर्थ में कहानी की परम्परा बडी लम्बी है, और भारत मे भी उसके आदि-सूत्र प्रागैतिहासिक काल के धुंधलके मे खो गए हैं। वैदिक साहित्य सुन्दर, छोटी और अत्यन्त प्रभावशाली कहानियो का अमूल्य भडार है, उपनिषदो, ब्राह्मण ग्रन्थो और आरण्यको मे भी कितनी ही अत्यन्त मार्मिक कहानियाँ बिखरी पडी हैं। कदाचित् समूचे सभ्य जगत् मे कहानी प्राचीन भारतीय स्रोतो से ही फैली, इसमे तो सन्देह नहीं कि ईसप की कहानियो जैसी कथाएँ जो ससार मे दूर-दूर तक पायी जाती हैं, अपने मूल-रूप मे सस्कृत के 'हितोपदेश' से ही ली गयी थीं। पुराण तो आद्यन्त कथा-गर्भित हैं। 'महाभारत' अकेला ही इतनी कथाओ का भडार है कि शताब्दियो से लेखको को प्रेरणा देता रहा है और अभी और शताब्दियो तक देता रहेगा।

बौद्ध साहित्य मे जातक-कथाएँ प्रसिद्ध ही हैं, बौद्ध और जैन परम्परा मे उदाहरण और दृष्टान्त का बहुत महत्व रहा और पद-पद पर कथा से काम लिया गया। परवर्ती जैन साहित्य की कथाएँ तो भारतीय कहानी-परम्परा मे बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं, और उनका अध्ययन सिद्ध करता है कि यद्यपि आधुनिक काल मे कहानी को यूरोपीय कहानी साहित्य से प्रेरणा मिली और उसका प्रभाव भी पडा, तथापि भारत मे कहानी की अपनी एक अटूट परम्परा रही।

सस्कृत साहित्य मे 'वृहत्कथा-सरित-सागर', 'द्वात्रिंशत् पुत्तलिका', 'वेताल-पचविंशति', 'पचतन्त्र', 'दशकुमार-चरित' आदि कथा-ग्रन्थ हैं ही; इनमे अधिकतर हिन्दी मे भी अनूदित हुए। हिन्दी के आरम्भ-काल की मौलिक कहानियाँ नहीं उपलब्ध होतीं, अधिकतर सस्कृत-साहित्य से अथवा पालि अथवा अपभ्रंश के बौद्ध-जैन साहित्य से अनुवाद ही होते रहे। किन्तु जिस भाषा को आज हम हिन्दी के नाम से जानते हैं, उस भाषा के आरम्भ हो जाने पर भी इस स्थिति मे विशेष परिवर्तन नहीं हुआ; उस काल का कहानी-साहित्य भी मुख्यतया अनुवाद है और कभी-कभी रूपान्तर या छाया। बहुत थोडी मात्रा मे चमत्कारानुप्राणित कहानियाँ-

भर लिखी गईं; इस प्रकार की कई कहानियाँ हस्तलिपियों में पायी जाती हैं। विभिन्न सम्पन्न कथा-प्रेमी लिपिक रखकर एक-दूसरे के संग्रहों से हस्तलिखित कथाओं की प्रतिलिपि बनवा लेते होंगे। कभी यह भी होता होगा कि लिपिक एक सुनी हुई कहानी को लिपिबद्ध करता हो। ऐसे भी प्रमाण हैं कि रुचि-सम्पन्न भद्र परिवारों में युवकों की शिक्षा के लिए हस्तलिपियों का संग्रह रखा जाता था। उन्नीसवीं शती तक की ऐसी हस्तलिपियाँ पायी जाती हैं, कुछ में ऐसा उल्लेख मिलता है कि वे अमुक द्वारा 'ग्वालियारी भाषा' में लिखायी गयीं—इन कहानियों को खड़ी बोली की कहानी का निकटतम पुरखा माना जा सकता है। हस्तलिखित कहानी-साहित्य के विषय में विशेष खोज होने पर इस काल के कृतित्व पर अधिक प्रकाश पड़ेगा, और हम आधुनिक कहानी का कहानी की प्राचीन परम्परा के साथ सम्बन्ध ठीक-ठीक निरूपित कर सकेंगे।

आधुनिक कहानी : पाश्चात्य परम्परा

हम कह आये कि कहानी तो आदि-काल से चली आयी है। पर उसका वह विशिष्ट प्रकार, जिसे आधुनिक काल में 'कहानी' की अभिधा दी जाती है, उतना पुराना नहीं है। एक जागरूक कलाकार द्वारा कौशलपूर्वक रचित कला-वस्तु के रूप में कहानी या गल्प का आविर्भाव लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले हुआ, भारत में यह परम्परा इससे प्रायः आधी होगी और हिन्दी में कुछ और कम। 'जागरूक कलाकार द्वारा कौशलपूर्वक रचित कला-वस्तु' का पूरा अभिप्राय यहीं समझ लेना चाहिए: कृतिकार के व्यक्ति-वैशिष्ट्य की छाप इसका अनिवार्य अंग था और यह वैशिष्ट्य भाषा का वैशिष्ट्य मात्र नहीं था। अर्थात् आधुनिक 'कहानी' ऐसी विशिष्ट रचना हो गयी थी कि एक कहानी को एक ही कृतिकार कह सकता था। दूसरे किसी के लिखने पर वह कहानी वह न रहती—बल्कि दूसरे किसी का उसे लिखने का प्रश्न ही नहीं हो सकता था। हम चाहें तो इसी को आधुनिक कहानी (शॉर्ट स्टोरी) की कसौटी मान ले सकते हैं। पुराने किस्से ऐसे थे कि एक ही किस्सा अनेक रूपों में सुनने को मिल सकता था। अभिप्राय या घटना वहाँ प्रधान थी और उसी अभिप्राय या घटना को दूसरे कथाकार भी ले सकते थे। निस्सन्देह अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा कही गयी कहानी का आस्वाद अलग-अलग होता था, फिर भी यह कहा जा सकता था कि यह कहानी भी मूलतः वह कहानी है। आधुनिक कहानी में यह नहीं हो सकता। अभिप्राय या घटना उसमें प्रधान नहीं होती; और एक का अभिप्राय लेकर लिखी गयी दूसरी कहानी फिर पहली कहानी बिलकुल नहीं रहती—रह नहीं सकती; और अगर रहती है तो फिर वह 'दूसरी' नहीं है, केवल नकल है।

विदेश में कहानी का यह आधुनिक उत्थान अमेरिका के लेखक एडगर ऐलन

पो (१८०९-४९) से आरम्भ होता है—बल्कि पो द्वारा नैथेनिएल हॉथॉर्न (१८०४-६४) की कहानियों की समीक्षा से। इस समीक्षा के दौरान कहानी की परिभाषा करते हुए पो ने पूर्व-निश्चित प्रभाव और एकोन्मुखता पर बल दिया; उसके ये सिद्धान्त आज तक कहानीकारों का पथ प्रदर्शन करते आ रहे हैं। पो ने ही पहले-पहल कहानी को 'कला के उच्चतम शिखर' के योग्य माना। वह कवि भी था और स्वयं तो अपनी कविता के सामने अपनी कहानियों को उपेक्षा के योग्य मानता था पर उसके कहानी-सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रभाव अमेरिका तक ही सीमित न रहा बल्कि यूरोप पर भी बहुत गहरा पड़ा। फ्रांस में बोदलेयर ने उसके काव्य, उसकी कहानियों और सौन्दर्य-शास्त्र सम्बन्धी उसके सिद्धान्तों पर लेख लिखे, ब्रिटेन में स्टीवन्सन और कोनन डॉएल ने उसका अनुकरण किया। पो की कहानियों में कुछ व्यंग्य और कुछ सीधी-सादी प्रेम-कहानियाँ भी हैं, पर जिन कहानियों के कारण वह प्रसिद्ध हुआ वे मादकता, आतंक, हत्या, रहस्य आदि के चित्र लेकर चलती थीं और उनका वातावरण डरावना और रोमांचकारी होता था। आधुनिक जासूसी कहानी और खोजिया जासूसी का पुरस्कर्ता भी पो ही माना जाता है।

आधुनिक कहानी ने अमेरिका में जन्म लिया, अमेरिका में ही वह पनपी और विकसित हुई। वहाँ के जीवन की रंगीनी, चपलता, आशामयता, क्रियाशीलता और द्रुत गति इस नये माध्यम के अधिक अनुकूल थीं। फ्रांसिस ब्रेट हार्ट (१८३६-१९०२) दूसरे सफल लेखक हुए और ओ० हेनरी (वास्तविक नाम विलियम सिडनी पोर्टर, १८६२-१९१०) तक आकर अमेरिकी कहानी अपने उत्कर्ष पर पहुँच गयी। ब्रेट हार्ट ने नयी ज़मीन तोड़ने वाले साहसिक मज़दूरों के जीवन का वर्णन किया, रूखे बहिरंग के भीतर छिपी हुई कोमलता या सरसता उसका प्रिय विषय था। ओ० हेनरी ने नागरिक जीवन के सुन्दर और गतिमय चित्र उपस्थित किये। घटना के अप्रत्याशित घुमाव, एक विशेष प्रकार की कटुता और व्यंग्य हेनरी की विशिष्टताएँ हैं। अमेरिका में कहानी अब भी एक सजीव और विकासशील माध्यम है, यद्यपि पत्र-पत्रिकाओं में ढर्रे पर चलने वाली कहानियों की भरमार होती है। अर्नेस्ट हेमिंग्वे (१८९९-१९६१), विलियम फॉकनर (१८९७-१९६२), स्कॉट फ़िट्ज़जेराल्ड (१८९६-१९४०), कैथरीन ऐन पोर्टर (ज० १८९०), जान स्टाइनबेक (ज० १९०२), विलियम सारोयान (ज० १९०८) प्रभृति लेखक आधुनिक अमेरिकी कहानी के उज्ज्वल नाम हैं।

अमेरिका से यह कला-रूप फ्रांस में फैला। वहाँ के बौद्धिक वातावरण में, जिसके पीछे कथाओं और आख्यायिकाओं की लम्बी परम्परा भी थी, वह बड़ी जल्दी पनपा, और शीघ्र ही उसने व्यंग्य-शैली के एक महान् कलाकार को जन्म दिया। गी द मोपासाँ (१८५०-९३) की कहानियाँ अपने कटाव, शब्द-संयम और

दमक के लिए अद्वितीय हैं। उसके पात्र साधारण होते हैं, एक निष्कम्प कठोरता के साथ वह उन्हें एक अनिवार्य निष्पत्ति की ओर ले जाता है जो प्रायः अप्रीतिकर होती है। उसका निर्मम और तीखा व्यंग्य, मानव की नैतिक दुर्बलता के प्रति उसका निर्मोह उल्लेख्य है।

फ्रांसीसी कहानी के विकास में और भी कई नाम अपना गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं; पर इनमें अधिकतर ऐसे लेखकों के नाम हैं जिन्होंने मुख्यतया उपन्यासकार के रूप में ही कीर्ति उपार्जित की, यद्यपि बहुत अच्छी कहानियाँ भी लिखीं। फ्लॉबेयर (१८२१-८०), एमील ज़ोला (१८४०-१९०२), अनातोल फ्रांस (वास्तविक नाम जाक अनातोल थीबो, १८४४-१९२४), फास्वा मॉरियाक (ज० १८८५), आन्द्रे जीद (१८६९-१९५१), आल्बेयर कामू (१९१३-६०) इसी वर्ग में आते हैं। जां जिरोदू (१८८२-१९४४) और ज्यां पाल सार्त्र (ज० १९०५) का नाम भी कहानीकारों में लिया जा सकता है यद्यपि दोनों की कीर्ति का आधार नाटक ही अधिक है।

उन्नीसवीं शती के अन्तिम दिनों में कहानी ब्रिटेन में भी बहुत लोकप्रिय हुई, और तब से कई प्रसिद्ध लेखकों ने इसे अपनाया, जिनमें रॉबर्ट लुई स्टीवेन्सन (१८५०-९४), ऑस्कर वाइल्ड (१८५४-१९००), आर्थर कोनन डॉएल (१८५९-१९३०), रडयार्ड किप्लिंग (१८६५-१९३६), हर्बर्ट जार्ज वेल्स (१८६६-१९४६), जॉन गाल्सवर्दी (१८६७-१९३३), डी० एच० लारेंस (१८८५-१९३०) और समरसेट मॉहम (१८७४-१९६५) उल्लेखनीय हैं।

रूसी साहित्य में कहानी ने विशेष उन्नति की। रूसी कहानी ने कई प्रकार अपनाये, और कम-से-कम एक ऐसा कहानीकार उत्पन्न किया जो दुनिया में अपना सानी नहीं रखता। एन्तोन चेख़व (१८६०-१९०४) की कहानियों की विशेषता है बहुत छोटी-छोटी, नगण्य घटनाओं के द्वारा चरित्र का सूक्ष्म उद्घाटन। 'प्रभाव के लिए प्रभाव' के बदले 'जीवन के लिए प्रभाव' ही उसका आग्रह था, छोटे-से-छोटे कलेवर में अधिक-से-अधिक जीवन भरना उसका आदर्श। वैसी गहराई और बारीकी, वैसा कसाव और शब्द-संयम बहुत कम लेखकों में पाया जाता है। चेख़व ने अपने देश के बाहर भी कई लेखकों को प्रभावित किया, जिनमें ब्रिटेन की कैथराइन मैंसफील्ड (कैथराइन मिडलटन मर्री, १८८८-१९२३) उल्लेखनीय है। निकोलाइ गोगल (१८०९-५२) की कहानियों का स्वाद कुछ-कुछ पो की कहानियों-जैसा है। इवान तुर्गनेव (१८१८-८३) का कसाव, सन्तुलित विषय-दृष्टि और कलात्मक निष्ठा उल्लेख्य है। व्यंग्य और विडम्बना में भी रूसी कहानी ने विशेष उन्नति की। लेव तॉल्स्तोय (१८२८-१९१०) की कहानियों में नैतिक

मूल्यों के बारे में बुनियादी जिज्ञासा अपनी गहरी छाप छोड़ जाती है, मैक्सिम गोर्की (वास्तविक नाम एलेक्सी पेश्कोव, १८६८-१९३६) की विशेषता उनका सामाजिक यथार्थवाद थी। रूसी लेखक भी प्रधानतः उपन्यासकार थे, पर उनकी कहानियों की गहरी छाप संसार के कहानी-साहित्य पर पड़ी।

आधुनिक कहानी के श्रेष्ठ लेखकों में सुगठित घटना-क्रम, प्रभावोत्पादक स्थिति अथवा सरल स्पष्ट चरित्र के लिए विशेष आग्रह नहीं है। जीवन की एक द्रुत झाँकी, स्वभाव, चरित्र या मन स्थिति को सहसा आलोकित कर देने वाला कोई क्षण—इन्हें ही आधुनिक कहानी-लेखक चुनता है। बहुत कुछ इसका कारण मनोविज्ञान की प्रगति है। मनोविश्लेषण ने जहाँ एक ओर हमें दिखाया है कि मानव-मन कितना जटिल है और उसके कर्म की अन्त प्रेरणाएँ कितनी उलझी हुई हो सकती हैं, उसके चेतन और अवचेतन का असामंजस्य उसके कार्यों को कितना दुर्बोध और रहस्यमय बना सकता है, वहाँ दूसरी ओर उसी विज्ञान ने हमें एक ऐसी पद्धति भी दी है जिसके सहारे हम छोटे-छोटे संकेतों के द्वारा उस छिपे हुए संघर्ष को समझ सकें और व्यक्तित्व के उलझे हुए सूत्रों को सुलझा सकें। अवचेतन मन और उसकी प्रक्रिया के हमारे ज्ञान के कारण भीतरी और बाहरी जगत् की विभाजन रेखा प्रायः मिट-सी गयी है, आज का लेखक रूप से गहरे जाकर सत्य की उस तह तक पहुँचना चाहता है जो पाठक के जीवन को सम्पन्नतर बनायेगी। निरी तर्क-संगति या विषयगत पूर्वापरता का स्थान एक आभ्यन्तर यथार्थता ने लिया है जो जीवन के गहनतम स्तर की सच्चाई को पकड़ पा सके। इस प्रकार मनोविज्ञान ने हमें नयी गहरी दृष्टि दी है जिससे आधुनिक कहानी-लेखक भरपूर लाभ उठाता है।

मनोविज्ञान से ही नहीं, अन्य विज्ञानों की प्रगति से भी आधुनिक कहानीकार ने लाभ उठाया है। कहानी की वस्तु पर भी इन विज्ञानों का प्रभाव पड़ा है और शैली पर भी। पदार्थ-विज्ञान के आविष्कारों को लेकर एच० जी० वेल्स ने जो कौतूहलोत्पादक और विचारोत्तेजक कहानियाँ लिखीं, वे इसका उदाहरण हैं।

आधुनिक कहानी : हिन्दी

हिन्दी में आधुनिक कहानी की सीधी परम्परा बीसवीं सदी से पूर्व नहीं जाती। प्राचीन कथा-साहित्य से वह सम्बद्ध है अवश्य, पर उसके इस रूप का विकास उस व्यापक पुनरुत्थान का ही पक्ष है जो उन्नीसवीं सदी के अन्तिम दिनों और बीसवीं के पहले दशक में भारतीय जीवन के हर अंग को प्रभावित करने लगा। और मानना होगा कि इसे पाश्चात्य साहित्य से बहुत प्रेरणा मिली—कुछ तो सीधे और कुछ बँगला से छनकर, क्योंकि अंग्रेजों और अंग्रेजी के साथ

कलकत्ता के प्राचीनतर परिचय के कारण विदेशी प्रभाव प्रायः सभी पहले बंगला में प्रकट होते रहे।

देवकीनन्दन खत्री (१८६१-१९१३) की 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' जैसी रचनाएँ बहुत लोकप्रिय हुई, किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५-१९३२) ने भी लगभग उसी समय कई उपन्यास लिखे। इन्ही दिनो गोपालराम गहमरी (१८६६-१९४६) ने 'जासूस' का प्रकाशन आरम्भ किया था, इस पत्र में बंगला से अनूदित छोटी-छोटी जासूसी कहानियाँ रहती थी। अनन्तर उन्होने मौलिक कहानियाँ भी लिखी। बंगला से और भी कुछ अनुवाद इसी समय के आस-पास हुए। पर इन सबका ऐतिहासिक महत्त्व ही है, उनसे साहित्य का कोई मार्ग नही बन पाया।

आधुनिक कहानी का उत्थान वास्तव में इसी शती के पहले दशक में हुआ। इलाहाबाद से 'सरस्वती' और काशी मे 'इन्दु' का प्रकाशन आरम्भ हुआ, इन दोनो पत्रिकाओ ने कहानी-साहित्य को बडी प्रेरणा दी। 'सरस्वती' मे पहले अनूदित कहानियाँ ही छपती रही, पर फिर मौलिक कृतियाँ भी आने लगी, और 'आधुनिक' कहलाने योग्य पहली सर्वांगपूर्ण कहानियाँ उसी मे प्रकाशित हुई—विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक (१८९१-१९४६) की 'रक्षा-बन्धन' (१९१३), चन्द्रधर शर्मा गुलेरी (१८८३-१९२२) की 'उसने कहा था' (१९१५) और प्रेमचन्द (१८८०-१९३६) की 'पंच-परमेश्वर' (१९१६), यद्यपि प्रेमचन्द उर्दू मे इससे पहले से लिख रहे थे और ख्याति भी पा चुके थे। उधर जयशंकर 'प्रसाद' (१८८९-१९३७) के निर्देशन मे 'इन्दु' नयी प्रतिभाओ का निर्माण कर रहा था, और स्वयं 'प्रसाद' कथा-साहित्य को एक नयी दिशा दे रहे थे। उनकी पहली कहानी 'ग्राम' सन् १९११ मे 'इन्दु' मे छपी; अगले वर्ष पाँच कहानियो का संग्रह 'छाया' नाम से प्रकाशित हो गया। इन कहानियो का वस्तु-विन्यास भी और भाषा भी दोनो बंगला से प्रभावित थे, फिर भी 'प्रसाद' की मौलिकता की छाप उन पर स्पष्ट थी। 'इन्दु' के द्वारा ही और भी मौलिक कहानीकार हिन्दी मे आये, जिनमे राजा राधिकारमण प्रसादसिंह (ज० १८९१), विश्वम्भरनाथ जिज्जा (ज० १९०५) और गंगाप्रसाद श्रीवास्तव (ज० १८९०) उल्लेखनीय है।

उपर्युक्त दोनो पत्रिकाओ के अतिरिक्त 'गृहलक्ष्मी' मे भी कहानियाँ छपती थी और उसके द्वारा भी लगभग इसी काल मे या इनके पीछे-पीछे कुछ और लेखक प्रकाश मे आये—चतुरसेन शास्त्री (१८९१-१९६०), रायकृष्णदास (ज० १८९२) चंडीप्रसाद 'हृदयेश' (१८९८-१९३६) और 'सुदर्शन' (वास्तविक नाम बदरीनाथ, ज० १८९६)। लेकिन कौशिक, गुलेरी, प्रेमचन्द और 'प्रसाद' ये चारो हिन्दी-कहानी के आरम्भ के मुख्य नाम है। गुलेरीजी ने कुल तीन ही

कहानियाँ लिखी, पर इन तीनों में से भी एक ऐसी सर्वांग-सुन्दर रचना हुई कि कोई भी कहानी-संग्रह उसे लिये बिना प्रतिनिधित्व का दावा नहीं कर सकता। अन्य तीनों लेखकों ने कहानियाँ यथेष्ट परिमाण में लिखीं और कहानी को एक सुस्पष्ट रूप दे दिया।

'प्रसाद' की कहानियों की शैली भाव-प्रधान होती थी और भाषा काव्यमयी। अधिकतर कहानियों की घटना या तो किसी प्राचीन काल में या अपरिचित देश में स्थित होती थी। निरा कौतूहल या मनोरंजन कभी उन्हें अभीष्ट नहीं था, पर भाव-सत्यों को ही प्राधान्य देते हुए वह उन्हें समकालीन सामाजिक स्थिति के आवेष्टन में नहीं दिखाते थे। कुछ कहानियों में अवश्य बहिरंग हमारे अपने समाज से लिया हुआ है, पर यहाँ भी समकालीन वस्तु केवल एक भाव-सत्य को उद्घाटित करने का सहारा मात्र है, उसका अपना महत्त्व नहीं है। कुछ कहानियों में घटना-बाहुल्य था तो कुछ में घटना का लगभग अभाव होता था और केवल वातावरण या भावावस्था ही प्रधान होती थी। विशद सुकुमार कल्पना, चरित्र-मय कथोपकथन, आदर्शोन्मुख दार्शनिक प्रवृत्ति—ये उनके कथा-साहित्य की विशेषताएँ हैं, और उनकी भाषा भी इनके अनुरूप गरिमामयी है। अमूर्त भावनाओं के आधार पर मूर्त की अभिव्यक्ति भी उनकी भाषा की एक विशेषता है।

प्रेमचन्द शैली, विधान, भाषा और वस्तु सभी दृष्टियों से 'प्रसाद' से भिन्न थे। उनकी दृष्टि और प्रवृत्ति भिन्न थी। जातीय गौरव की भावना जहाँ 'प्रसाद' को अतीत-गौरव-युगों की ओर ले जाती थी जिनमें उनकी कल्पना स्वच्छन्द विचरण कर सके, वहाँ प्रेमचन्द में वही भावना राष्ट्रीय जागृति और राजनैतिक सुधार का उत्साह जगाती थी। समकालीन समाज के वैषम्य और अत्याचारों का विरोध, दलित देहाती समाज के प्रति शहरी सहानुभूति, राष्ट्रीय भावना—ये उनकी कहानियों के विशिष्ट स्वर थे। उनकी भाषा भी इनके अनुरूप सरल और प्रवाहमयी थी; उत्तरप्रदेश के साधारण बोल-चाल की यह भाषा उर्दू का प्रभाव लिये थी, चुस्त, चुलबुली और मुहावरेदार। वातावरण या भाव-प्रधान कहानियाँ प्रेमचन्द ने बिलकुल नहीं लिखीं; उनकी कहानियों में सर्वदा वस्तु प्रधान होती थी और स्पष्ट घटना क्रम, नाटकीय कथोपकथन और सुधारमूलक उद्देश्य उनके आधार होते थे। इस प्रकार आधुनिक कहानी की सम्भावनाओं के विस्तृत क्षेत्र का एक अंग ही उन्होंने चुना था, उस सीमित क्षेत्र में कहानी के विधान (टकनीक) पर उन्हें पूरा अधिकार था। यों उनके मध्यवर्गीय पात्रों का चित्रण कभी-कभी अस्वाभाविक और अयथार्थ भी हो जाता है, कहानियों में उनके पात्रों के चरित्र भी गत्यात्मक और विकासशील न होकर स्थिर होते हैं—कहानी के अन्त में पात्र के जीवन की घटनाओं के विषय में तो हमारा ज्ञान बढ़ता है, पर हम यह नहीं अनुभव करते कि हमारे सामने उसके चरित्र का कुछ नया

उद्घाटन हुआ है और हम उसे अधिक अच्छी तरह जान गये हैं। यह तो और भी कम होता है कि हम उसके चरित्र को विकसित होता हुआ देखते रहे। आज कहानी-कला की दृष्टि से श्रेष्ठ उदाहरण प्रेमचन्द का न दिया जायेगा, यद्यपि अपने क्षेत्र मे उनकी कहानियाँ अद्वितीय हैं, और उनकी ज्वलन्त मानवीय सहानुभूति उन्हे उन लेखको से आगे ले जा रखती है जो कला की दृष्टि मे अधिक सफल है। प्रेमचन्द निस्सन्देह हिन्दी के महान् कहानी-लेखक रहे।

'प्रसाद' और प्रेमचन्द अपने समय तक की कहानी की दो मुख्य प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं। दोनो का अनुसरण भी हुआ, यद्यपि 'प्रसाद' की भावमूलक परम्परा को कम लोगो ने अपनाया, और यथार्थवादी परम्परा जोरो से आगे चली। जो विशेषताएँ प्रेमचन्द मे सुन्दरतर अथवा चरम रूप मे लक्षित हुई, वे ही उस काल की कहानियो की विशेषताएँ मान ली जा सकती हैं समकालीन सामाजिक कुरीतियों के सुधार का उत्कट आग्रह, दलित-निर्धन-देहाती के साथ सहानुभूति, राष्ट्रीय जागरण का जोश; और कथा-शिल्प की दृष्टि से घटना का प्राधान्य, इतिवृत्त का एक स्पष्ट आकार। कौशिक की कहानियाँ इसका अपवाद नही है, और 'सुदर्शन' तो सम्पूर्णतया प्रेमचन्द के अनुवर्ती रहे। लेकिन इसके बाद हिन्दी कहानी द्रुत गति मे नया विस्तार ग्रहण करने लगी, वस्तु और विधान दोनो की दृष्टि से उसने नयी दिशाओ मे फैलना आरम्भ किया।

यह नया विकास किन कारणो से हुआ, इसका कुछ सकेत तो हम पाश्चात्य परम्परा के निरूपण मे कर चुके है। मनोविज्ञान की उन्नति, और उससे पायी हुई विश्लेषण-पद्धति इसका एक प्रमुख कारण थी। यो तो मनोविज्ञान का प्रयोग मानव-जीवन के सभी अगो या स्तरो को समझने के लिए किया गया, पर स्त्री-पुरुष-सम्बन्धो पर उसने विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित कर दिया और परवर्ती कहानी मे काम अथवा प्रेम की वासना और उसकी विकृतियो का चित्रण बहुत हुआ। इसी प्रकार समाजशास्त्र के विकास से, और विशेषतया आर्थिक दर्शन के और उसके अन्तर्गत मार्क्सीय मत की प्रगति से सामाजिक सम्बन्धो पर जो नया प्रकाश पड़ा, और उनके अध्ययन की जो नयी पद्धतियाँ आविर्भूत हुई, वे भी कहानी मे प्रतिबिम्बित हुई। सापेक्षवाद के व्यापक अर्थों को समझकर साहित्यकार नैतिक मान्यताओ की नयी पड़ताल करने लगे, और इससे भी कहानी मे एक नयी चीज़ पैदा हुई। इससे पहले कहानीकार की सहानुभूति स्पष्ट होती थी, क्योंकि उसकी आधारभूत नैतिक मान्यताएँ भी निस्सशय होती थी, लेकिन अब उसके मन मे उन मान्यताओ के सम्बन्ध मे तरह-तरह की शकाएँ उठने लगी, और इसलिए व्यक्तिगत, सामाजिक, या अन्य मानवीय सम्बन्धो पर वह उतना स्पष्ट निर्णय देने में झिझकने लगा, उसमे की दृष्टि अधिक व्यापक हुई, सहानुभूति अधिक उलझी हुई: उहापोह बढ़ा और निर्णय एक अस्थायी स्थगित अवस्था मे छोड़

दिये जाने लगे। साधारणतया कहा जा सकता है कि इस प्रकार कहानी अधिक बौद्धिक हो गयी। इससे एक ओर अव्यवस्था फैलना स्वाभाविक था, और नैतिक मूल्यों को अन्धश्रद्धापूर्वक न स्वीकार करने का विकृत रूप एक प्रकार का अनाचारवाद हो ही सकता है, पर जो लेखक युग के नये विचारों के गम्भीरतर अभिप्राय समझते थे उन्होंने उत्तरदायित्वपूर्वक अपने काल की समस्याओं का सामना किया, और उनकी कहानियों में एक सर्वथा नये प्रकार की बौद्धिकता रहते हुए भी रस अथवा रोचकता की कमी नहीं हुई।

दूसरी ओर इस सदायात्मकता अथवा स्थगित-निर्णय की स्थिति की प्रतिक्रिया में उग्रतर मताग्रह का आना भी स्वाभाविक था, विज्ञान की प्रत्येक नयी खोज के मताग्रही भी प्रकट हुए और नयी बौद्धिक कहानी में मतवादों या पद्धतियों का आरोप इस सीमा तक भी पहुँचा कि वे फिर अबौद्धिक हो गयीं—कथाकार का मानसिक खुलापन नहीं रहा और उसकी सहानुभूति बड़ी लीकों में पड़ गयी। मनोविज्ञान और अर्थ-दर्शन, दोनों के क्षेत्र में यह अनुदारता लक्षित हुई। किन्तु विभिन्न प्रवृत्तियों के विकृत रूपों को न देखकर हम उन्नति की परम्परा की ओर ही ध्यान दें, तो कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द के बाद कहानी में आश्चर्यजनक प्रगति हुई।

कहानी के रूप-विधान पर भी बाहर के प्रभाव पड़े। विदेशी साहित्यों के अनुवाद का सीधा-सादा प्रभाव पड़ा फ्रांसीसी और रूसी कहानियों के अनुवादों से हिन्दी कहानीकार ने नयी वस्तु का समावेश करना तो सीखा ही, विधान की दृष्टि से भी बहुत शिक्षा ग्रहण की। साथ ही फ्रांसीसी साहित्य की स्वच्छन्दता से कई ऐसे बन्धन सहसा ही टूट गये जो साधारणतया धीरे-धीरे टूटते। लेखक ने एक नयी स्वाधीनता पा ली जिसके लिए वह स्वाभाविक रूप से तैयार नहीं हुआ था, फलतः कहानियों में नग्न वर्णन और भोंडेपन को भी प्रश्रय मिला।

विदेशी प्रभावों के अतिरिक्त बंगला का प्रभाव भी उल्लेखनीय है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कहानियों का अनुवाद शती के आरम्भ में ही शुरू हो गया था, पर उनका प्रभाव दूसरे-तीसरे दशक में ही जाकर हुआ। कवि ठाकुर ने जिस तरह उस काल के हिन्दी कवियों पर गहरा प्रभाव डाला, उसी प्रकार कहानीकार ठाकुर ने तत्कालीन कहानी-लेखकों पर। ठाकुर का समकक्ष दूसरा कहानीकार भारतवर्ष में नहीं हुआ, और उनकी कहानियों की वस्तु और विधान दोनों का वैविध्य प्रेरणा देने वाला था। शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय का प्रभाव भी उल्लेखनीय है, यद्यपि वह सर्वथा स्वस्थ नहीं हुआ, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

प्रेमचन्द के बाद की प्रगति को मोटे तौर पर चार धाराओं में बाँटा जा सकता है और प्रत्येक का एक-एक प्रतीक लेखक ले लिया जा सकता है।

जैनेन्द्रकुमार (ज० १९०६) ने कहानी के माध्यम के लचकीलेपन का पूरा उपयोग किया। घटना की कहानी से बढ़कर चरित्र की कहानियाँ, वातावरण की कहानियाँ, शुद्ध मानसिक ऊहापोह की कहानियाँ उन्होंने लिखी, साथ ही कहानी के पुराने रूपों का भी उन्होंने नये ढंग से उपयोग किया, वार्त्ता और दृष्टान्त लिखे, सांकेतिक और प्रतीकात्मक कहानियाँ लिखी, कहानी से उपदेश और प्रवचन का काम लिया। कहीं निर्मम वस्तु-निष्ठा से काम लिया तो कहीं वास्तव की उपेक्षा करके मुक्त कल्पना से काम लिया, गायों और चिड़ियों से बातें करवायीं। शैली की दृष्टि से भी उन्होंने अनेक प्रकार की कहानियाँ लिखी। पत्रों के रूप में, आत्म-कथा के रूप में, संवाद के रूप में, स्वागत-भाषण के रूप में, इत्यादि। जैनेन्द्रकुमार की कहानियाँ आश्चर्यजनक विधान-कौशल और हस्त-लाघव का परिचय देती हैं; और विधान की दृष्टि से उन्होंने हिन्दी-कहानी को जितना आगे बढ़ाया उतना किसी एक अन्य व्यक्ति ने नहीं। स्वयं वह शिल्प के बारे में बिलकुल अबोध होने का भाव दरशाते हैं, किन्तु यह वैसे मामलों में से एक है जिनके बारे में डी० एच० लारेंस ने कहा था : 'कहानी का विश्वास करो, कहानीकार का नहीं'! वस्तु की दृष्टि से उनकी रुचि मुख्यतया नैतिक प्रश्नों और नीति के बुनियादी मूल्यों में रही है, यद्यपि प्रेम और वासना के सन्दर्भ में नैतिक मानदण्डों की चर्चा करते समय कभी ऐसा भी हो गया है कि आवेगों का सूक्ष्म वर्णन ही प्रधान हो गया है और नैतिक चिन्तन कहीं झलकता भी है तो आरोपित-सा जान पड़ता है। कभी-कभी अपने कुछ परवर्तियों को केवल चौंकाने की प्रवृत्ति का भी उन पर असर हुआ है।

यशपाल (ज० १९०४) मुख्यतया समाजालोचन के कहानीकार हैं। उनकी कहानियों में मनोविश्लेषण बहुत रहता है, और व्यक्ति की कर्म-प्रेरणाओं का विवेचन वह बराबर एक पैने व्यंग्य के साथ करते हैं। अनेक स्थलों पर स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों का उनका वर्णन नग्न भी हो जाता है, फिर भी उनका लगाव व्यक्ति के कर्मों के पीछे लक्षित होने वाली निर्वैयक्तिक सामाजिक शक्तियों से ही है। बल्कि सामाजिक प्रतिज्ञाओं के चौखटे के भीतर रहने का संकल्प ही (जिसके मूल में बहुधा मतवाद की झलक भी मिल जाती है), उनके मनोविश्लेषण के अथवा यौन विषयों की चर्चा के विस्तार की सीमा बाँध देता है। यशपाल कहानी के कुशल शिल्पी हैं। जैनेन्द्रकुमार का-सा विधान-कौशल अथवा उर्वरता उनकी कहानियों में लक्षित नहीं होती; यह किसी कमी का नहीं बल्कि उनकी रचना के विशिष्ट आस्वाद का संकेत है। कल्पना की उर्वरता द्वारा नहीं, मार्मिक चुटीले व्यंग्य में ही उनकी सूझ अपना चमत्कार दिखाती है। भाषा को, या गद्य को वह कोई स्वतन्त्र महत्त्व नहीं देते।

कहानीकार के रूप में 'अज्ञेय' की दृष्टि मुख्यतया व्यक्ति-चरित्र की ओर रही है। व्यक्ति के स्वभाव और कर्म-प्रेरणाओं का सूक्ष्म विश्लेषण उनकी कहा-

नियों में मिलता है। अगर यशपाल अपने विश्लेषण को सामाजिक द्वन्द्व के चौखटे में रखकर देखते हैं, तो 'अज्ञेय' का झुकाव बुनियादी नैतिक मूल्यों की ओर रहता है—बल्कि आध्यात्मिक मूल्यों की ओर भी। सामाजिक वैषम्य और संघर्षों का चित्रण उनकी कहानियों में होता है, अन्याय के प्रति विद्रोह का स्वर भी कई कहानियों में प्रबल है, पर कहा जा सकता है कि 'अज्ञेय' की दृष्टि मूलतया कवि की दृष्टि है। सामाजिक संघर्षों के व्यक्तिगत पहलुओं को ही वह अपना विषय बनाते हैं। उनकी कहानियों की संख्या अपेक्षया कम होते हुए भी उनमें रूप-विधान की दृष्टि से असाधारण वैविध्य और शिल्पगत सफाई पायी जाती है। 'अज्ञेय' के गद्य का अपना अलग ढंग है, जैसे कि जैनेन्द्रकुमार का भी है। जैनेन्द्र-कुमार की भाषा में एक अटपटा भोलापन है जो अनुकूल स्थलों में बड़ा मोहक मालूम होता है, पर कहीं-कहीं बहुत बेमन हो जाता है और व्यक्ति-वैचित्र्य के कारण बनावटी जान पड़ता है—या सहज तो वह कदाचित् ही होता है। 'अज्ञेय' की भाषा सर्वत्र संयत रहती हुई विषय और वस्तु के साथ काफी बदलती रहती है। 'काव्यमयी' वह नहीं होती पर उसका एक अपना छन्द रहता है, उसमें गद्य की लयमयता के उदाहरण मिल सकते हैं।

नमूने के तौर पर इन तीन कहानीकारों के बाद एक और क्षेत्र का उल्लेख आवश्यक है साधारण घरेलू जीवन के चित्र। हिन्दी कहानी-लेखिकाओं में प्रायः सभी ने केवल यह क्षेत्र अपनाया है, यद्यपि कुछ ने कौतूहलोत्पादक या रोमानी वातावरण की सृष्टि को ही मुख्य स्थान दिया है—यथा उषादेवी मित्रा (१८९७-१९६६)। इस क्षेत्र में कोई एक लेखिका इतनी विशिष्ट नहीं है कि उसे अकेले उदाहरण के रूप में उपस्थित किया जा सके। तीव्रता की दृष्टि से चन्द्रकिरण सौनरिक्सा (ज० १९२०) और परिमाण की दृष्टि से होमवती देवी (१९०६-५०) सबसे अधिक उल्लेख्य हैं। सत्यवती मलिक (ज० १९०५) में कलात्मकता अधिक है, कमला चौधरी (ज० १९०८) में रंगीनी और विविधता, पर होमवती के घरेलू चित्रों में एक निश्छल अपनापन और समवेदना का सहज प्रवाह है जो पाठक को तुरत प्रभावित कर लेता है। मध्यवर्गीय जीवन के पाखंडों और स्वार्थपर आचरणों पर चन्द्रकिरण सौनरिक्सा गहरी चोट करती हैं जिससे पाठक तिलमिला भी उठे; पर कभी विद्रूप की अतिरंजना से यथार्थता का आभास खण्डित हो जाता है और विडम्बना ही हाथ आती है।

यहाँ तक कहानी के कुछ मुख्य प्रकारों का ही विचार किया गया है। पर कहानी का विकास उसे कथा अथवा इतिवृत्त के स्पष्ट आकार से बहुत दूर ले गया है, और अब कई प्रकार के रेखाचित्र, व्यंग्य-चित्र, संस्मरण आदि भी उसके अन्तर्गत माने जाएँगे। चित्रकला से तुलना करें तो कहा जा सकता है कि सर्वांगपूर्ण रंगीन चित्र का गौर ही नहीं, अब स्याहकलम, खाके, लकीरें, प्रकाश-छाया के संकेत,

प्रभाव और प्रतीक भी स्वीकृत कला-रूप हो गये हैं। संग्रहों और कहानियों के शीर्षक भी इस प्रवृत्ति के सूचक है : 'सीधे-सादे चित्र' (सुभद्राकुमारी चौहान), 'स्मृति की रेखाएँ' (महादेवी वर्मा) आदि।

कहानी की यह पृष्ठभूमि हमे समकालीन हिन्दी कहानी की देहरी तक ले आती है—अर्थात् लगभग १९५० तक, या चलन का अनुसरण करके कहें तो स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक। इसके बाद भी हिन्दी कहानी ने महत्त्वपूर्ण प्रगति की है,और उस नयी प्रगति मे उन कहानीकारो का योग बहुत अधिक नही है जिन का ऊपर उल्लेख किया गया है—वे वास्तव मे 'पृष्ठभूमि' मे ही खड़ हैं। पर कहानी-क्षेत्र मे जो आज हो रहा है, उसे समझने के लिए ऊपर वर्णित प्रवृत्तियो से ही आरम्भ करना होगा . बल्कि बहुत-सी नयी प्रवृत्तियों का स्रोत सीधे उनमें मिल जाएगा और कुछ मे उन्ही की चरमावस्थाएँ (और चरम होने के नाते अतिवादी और कभी-कभी विकृत अवस्थाएँ) पहचानी जा सकेंगी।

परवर्ती कहानी के मुख्य आग्रहो मे एक आंचलिकता का आग्रह था यह यथार्थोन्मुखता के आग्रह का एक पहलू था। जैसे-जसे यह पहचाना जाने लगा कि प्रेमचन्द के गांव 'आदर्शीकृत' होने के नाते उतो हद तक वास्तविकता से कटे हुए हैं—वैसे-वैसे सम्पूर्ण और गोचर वास्तविकता तक पहुँचने के लिए कहानीकार सामान्य भारतीय गांव का चित्रण न करके अलग-अलग अचल के गांवो पर ध्यान केन्द्रित करने लगे। *'नगर के वातावरण से भिन्न गाव-देहात के वातावरण'* का आस्वादन करा देना काफी न रहा, 'अन्य अचलों के गांव-देहात से विशिष्ट एक अचल के गांव-देहात' को मूर्त किया जाने लगा। जहां ये प्रयत्न सिद्ध हुए—यानी जहां सम्प्रेषण की योग्यता के साथ पर्याप्त अन्तरग जानकारी भी थी— वहां उन से कहानी-साहित्य को बहुत-कुछ नया मिला,और भाषा की क्षमता भी बढ़ी। जहां ये सिद्ध नही हुए, वहां उनसे एक चलन्तू सफलता का नया नुस्खा-भर मिल गया, और कुछ नही। सफल आंचलिक कहानीकारो मे एक का नाम लेना हो तो फणीश्वरनाथ 'रेणु' (१९२१) उत्तम उदाहरण है, नुस्खानवीसों का उदाहरण अनावश्यक है।

दूसरा मुख्य आग्रह तात्कालिक आभ्यन्तर यथार्थ को पकड़ कर उस के द्वारा गोचर यथार्थ से आगे बढने का— गहरे जाने का— था। हमारे यथार्थ-बोध का गहरा सम्बन्ध हमारी यानी गृहीता की तात्कालिक मनोदशा से है · एक ही यथार्थ को हम अलग-अलग मनोदशाओं और भावावस्थाओं मे अलग-अलग ढग से पकड़ते हैं। यह वैचित्र्य झूठ नही, बल्कि प्रखरतर सत्य है क्योंकि संवेद्य वस्तु के सप्रेषण के साथ-साथ संवेदना-सम्पन्न यन्त्र की तत्कालीन अवस्था को भी सूचित करता है। इस प्रतिज्ञा से आरम्भ कर के मन· स्थिति-प्रधान अथवा 'मूड' की कई

कहानियाँ लिखी गयीं। ऐसी कहानी का भी एकमेव उदाहरण देना हो तो निर्मल वर्मा (ज० १९२९) का नाम लेना पर्याप्त होगा।

आंचलिक कहानी के पीछे यथार्थ का ग्रामोन्मुख आग्रह था, उस की प्रतिक्रिया में नागर पक्ष पर जोर दिया जाना स्वाभाविक था। परवर्ती कहानी की एक प्रमुख प्रवृत्ति यह भी है। इस में सन्देह नहीं कि नगर और कस्बे का जीवन भी सम्यक् चित्रण का उतना ही पात्र है जितना कि देहात का जीवन। भारत का अधिकांश देहात में रहता है, यह सच होकर भी शहर के चित्रण के विरुद्ध कोई तर्क नहीं है, और वैसे प्रस्तुत किया जाए तो उसका जवाब यह ठीक ही होगा कि अभी तक हिन्दी कहानी (बल्कि समूचा आधुनिक हिन्दी साहित्य) मध्य और निम्न मध्य वर्ग में बँधा है और इसका प्रतिनिधि गाँव में नहीं, शहर-कस्बे में मिलता है। लेखक और पाठक दोनों ही जब उस वर्ग के हैं और दोनों की यथार्थ की पूरी पहचान उसी के वृत्त से मर्यादित है, तो क्या न उसी की ओर पूरा ध्यान दिया जाए?—वहाँ, और वहीं मात्र तो संवेद्य है और वहीं, उतना ही सम्प्रेष्य हो सकता है। प्रतिक्रिया में ही सही, नगर और कस्बे के जीवन की ओर ध्यान जाना भी आवश्यक था। इस में भी अच्छी कहानियाँ मिलीं—और इस का भी अत्याग्रह देखने में आया—जिसका एक रूप नगर से बढ़कर महानगर के जीवन को चित्रित करने का है। वास्तव में भारत में छोटे और बड़े नगर तो हैं, पर कलकत्ता-बम्बई को छोड़ कर उस अर्थ में कोई महानगर है नहीं जिस में आन्दोलन उसकी चर्चा करता है—पेरिस, लन्दन अथवा न्यूयॉर्क जैसे मेट्रोपोलिस के अर्थ में। यह नहीं कि अकेले कलकत्ता का विशिष्ट स्वाद भी वर्ण्य न होता, पर महानगर के जीवन के नाम पर उसकी विकृतियों का—और वह भी केवल काम-जीवन की विकृतियों का चित्रण बहुत हुआ है। ऐसा चित्रण मानो 'यथार्थ' के पक्षी को पकड़ न पा कर, उस की बीटों का संग्रह करता रह गया है। 'शहरी जीवन' के आग्रही गिने-चुने हैं प्रायः सभी ने सफल कहानियाँ भी लिखी हैं और उन में से एक ही नाम चुनना पक्षपात के अभियोग का जोखिम उठाना है। पर वर्तमान सन्दर्भ में एकाधिक नाम देना एक दूसरे प्रकार का पक्षपात हो जाएगा, इसलिए केवल मोहन राकेश (ज० १९२५) का नाम लेकर सन्तोष किया जाए।

आंचलिक आग्रह और प्रत्याग्रह दोनों में सामाजिक यथार्थ की ओर दृष्टि अधिक रही, यद्यपि शहरी पक्ष में व्यक्ति की टूटन, कुंठा और पराजय के चित्र प्रस्तुत करने में कई बार कहानीकार की दृष्टि से प्रभाव पैदा करने वाली सामाजिक शक्तियों से हटकर व्यक्ति-चरित्र पर ही इतने एकान्त भाव से केन्द्रित हुई कि वे व्यक्ति समाज से सर्वथा कटे-से दीखने लगे। 'मूड' अथवा मनोदशा-मर्यादित यथार्थ का चित्रण करने वाली कहानी तो व्यक्ति-चरित्रों पर केन्द्रित होती ही थी—बल्कि विशिष्ट व्यक्तियों की विशिष्ट अवस्थाएँ ही उसका सत्य होती थीं।

ऐसी व्यक्तिपरक कहानी का एक और भी उल्लेखनीय रूप सामने आया, जिसमे 'मूड' अथवा मनोभाव में बँधे यथार्थ को नही, क्षण से बँधे यथार्थ को देखने का प्रयत्न था। अर्थात् उसका आग्रह यथार्थ की इस या उस रंगत को तद्वत् पकड़ने का न होकर, उसकी परिवर्तनशीलता को तद्वत् पकड़ने का था—त्वरित परिवर्तन की त्वरा का आस्वाद भी वह जीवन्त यथार्थ का अंग मानता था। एतादृशत्व से अधिक वह एतत्कालीनता तक पहुँचना चाहता था—ऐसी एतत्कालीनता तक, जो कि समकालीनता की चरमसीमा हो। ऐसी कहानियाँ अधिक नही लिखी गयी, पर इस कारण जो लिखी गयी वे कुछ अधिक ही लक्ष्य हुई। रघुवीर सहाय (ज० १६२६) की कुछ कहानियाँ इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं।

कहानी का नया रुझान 'काव्यत्व' की छूत से बचना चाहता है; पर जितने भी आग्रह कहानी-क्षेत्र मे प्रकट हुए है, उनमें से कोई भी ऐसा नही है जो पारिभाषिक आधार पर ही काव्यत्व को निषिद्ध सिद्ध कर दे। रुचि-वैचित्र्य के कारण ही कुछ कहानीकारों ने 'कवियों द्वारा लिखी गयी कहानियों' को उनके क्षेत्र में अनधिकार-प्रवेश घोषित किया है। वास्तव में नयी प्रवृत्तियों में ऐसी कहानियों का अपना अलग स्थान है, बल्कि अच्छी काव्यमय कहानी कदाचित् नयी माँग को अधिक सघन रूप से पूरा कर सकती है। कहानी अगर यथार्थ की 'दुनिया को विस्तार देती और उसका आविष्कार करती है,' जैसा कि एक फ्रांसीसी आलोचक ने कहा है, तो कवि की दृष्टि निश्चय ही इस में योग दे सकती है। 'निरी तर्कसंगति या विषय-निरपेक्षता को पदच्युत करती हुई एक आभ्यन्तर यथार्थता' जीवन की सब से गहरी पर्त में छिपे सच्चे अर्थ को खोजती है— कहानी की खोज का यह आधुनिक निरूपण क्या वस्तु के प्रति कवि-दृष्टि की ही माँग नही करता ? आज के वाद-संकुल वातावरण मे कवित्वमय कहानी के वकीलों का स्वर भले ही न सुनायी पड़ता हो, वैसी कहानी के अच्छे उदाहरण अवश्य मिल जाएँगे, एक ही नाम लेने की शर्त निबाहते हुए यहाँ सर्वेश्वरदयाल सक्सेना (ज० १६२७) का नाम लिया जा सकता है।

यों समकालीनता के नाम पर आग्रह और भी हैं बल्कि आज नयी पत्रिकाओं में अधिक शोर उन्हीं का मिलेगा। पर मतवाद की पुष्टि के लिए रचे गए साहित्य को आधार न बना कर कृति पर आश्रित सिद्धान्त के साथ चलना ही समीक्षा की सही प्रवृत्ति है।

अन्त में कहा जा सकता है कि आधुनिक यथार्थ जो भी हो, यानी यथार्थ के प्रति दृष्टि जो भी हो, पो और मोपासाँ की कहानी की परिकल्पना अब भी मार्ग-दर्शन का काम कर रही है। लघु कलेवर अथवा शब्द-संयम, अर्थो की सम्यक् व्यंजना के लिए अंश का विवेकपूर्ण चयन, अर्थगर्भ संकेतों की अनुगूँज के द्वारा शात

के परिधि से असीम अज्ञात की गहराई की माप, और इस प्रकार क्रमशः 'अपने भीतर के अव्यक्त को जगा कर उसका सहसा बाहर के रहस्यमय से सहज अन्तरंग परिचय करा देना'—यही कहानी का अभीष्ट है और इसी में उस की सफलता। इन शर्तों का निर्वाह होता चले, तो और सब गौण है वह सब या तो इसी में निहित है, या फिर उसके बिना भी बढ़िया कहानी हो सकती है।

हिन्दी एकांकी : पृष्ठभूमि

भारतीय साहित्य-परम्परा में नाटक को भी काव्य के अन्तर्गत माना गया है। काव्य के दो मुख्य विभाग है श्रव्य और दृश्य, और नाटक को दृश्य काव्य माना गया है। संस्कृत में काव्य और नाटक में कोई मौलिक अन्तर नहीं रहा, दोनों का उद्देश्य रसोद्रेक था। संस्कृत-नाटक के स्वर्ण-युग में कुछ नाटक ऐसे भी हुए जिनमें आधुनिक परिकल्पना के अनुकूल संघर्ष, घटनाओं के घात-प्रतिघात और चरित्र-चित्रण के गुण पाये जाते हैं, तथापि साधारणतया उस युग में भी काव्य और नाटक एक-दूसरे के बहुत निकट रहे और दसवीं शती के ह्रास-काल में तो नाटक और काव्य का अन्तर मिट-सा गया। 'मृच्छकटिक' और 'मुद्राराक्षस' जैसे प्राचीन नाटक आज की परिकल्पना के अधिक निकट हैं और 'कर्पूरमंजरी' या 'रत्नावली' अधिक दूर।

संस्कृत नाटककार का आग्रह आदर्श के प्रति अधिक होता था, घटना या चरित्र-चित्रण की ओर उतना नहीं। इस प्रवृत्ति की तुलना भारतीय चित्रकला की प्रवृत्ति से भी की जा सकती है, वहाँ भी तादृशत्व पर इतना बल नहीं दिया जाता था जितना आदर्शीकृत रूपाकार पर। फलतः संस्कृत नाटक के पात्र विशिष्ट व्यक्ति न होकर प्रायः व्यक्ति-प्रकार होते रहे और शास्त्रों में भी उनका विभागीकरण प्रकार के आधार पर होता रहा। उपर्युक्त नाटकों में 'मृच्छकटिक' का चारुदत्त और 'मुद्राराक्षस' का शकार इसके अपवाद हैं, संस्कृत परम्परा में इस ढंग के पात्र अपवाद रूप से ही आए। नाटक की साधारण प्रवृत्ति ऐसे गुण-दोष-युक्त, व्यक्ति-वैचित्र्य-सम्पन्न चरित्रों की परिकल्पना की ओर नहीं थी।

आधुनिक नाटकों से संस्कृत नाटक की तुलना करने पर एक बात और विशेष रूप से लक्षित होती है। संस्कृत में दुःखान्त नाटक नहीं है। मृत्यु, हत्या आदि त्रासदायक घटनाओं का वर्णन और प्रदर्शन संस्कृत नाटक में वर्जित है। दो-एक ही अपवाद होंगे जहाँ पर नाटक में किसी पात्र की मृत्यु दिखायी गयी है। 'नागानन्द' में ऐसा हुआ भी है तो फिर मृत व्यक्ति को दैवी प्रसाद से पुनर्जीवित कर दिया जाता है। इसके प्रतिकूल ग्रीक नाटक में उद्भूत युरोपीय नाट्य-परम्परा में दुःखान्त नाटक का विशिष्ट स्थान रहा और संघर्ष तो पाश्चात्य नाटक का प्राण ही है। इस मौलिक भेद को समझने के लिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि

भारतीय विचारधारा मूलतः आशावादी रही है। उसका विश्वदर्शन यह मानता है कि सृष्टि मात्र की प्रगति एक चरम और सम्पूर्ण आनन्द की स्थिति की ओर है, भले ही मार्ग में नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव होता रहे। इसलिए भारतीय साहित्यकार की दृष्टि में दुःख को देखकर वहाँ विरम जाना, सम्पूर्ण को न देखकर एक अंश को देखना ही है। अर्थात् दुःखान्त नाटक जीवन का अधूरा, खंडित और विकृत चित्र ही सिद्ध होता है।

संस्कृत नाटक के घटना-विकास को जिन पाँच विभागों या सन्धियों में बाँटा गया है उनका सम्बन्ध इसी जीवन-दर्शन से है। नाटक का आरम्भ अथवा 'मुख' वह सन्धि है जहाँ उसके मुख्य कथासूत्र की सूचना होती है। उदाहरणतया 'रत्नावली' में उदयन और सागरिका का दृग-मिलन अनन्तर उनके मिलन का सूचक है। इन प्रथम सूचनाओं के उपरान्त घटनाओं की प्रगति दोनों पात्रों को अलग-अलग ले जाती हुई जान पड़ती है, लेकिन सखी सुसंगता के द्वारा दोनों की फिर भेंट होती है। यह दूसरी सन्धि 'प्रतिमुख' सन्धि है। तीसरी 'गर्भ' सन्धि में नाना बाधाएँ उत्पन्न होती हैं जिनसे पाठक या दर्शक को सन्देह होने लगता है कि आरम्भ में जगायी हुई मधुर आशा प्रतिफलित होगी या नहीं। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में दुर्वासा का शाप और राज-सभा में दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला का प्रत्याख्यान आदि 'गर्भ' सन्धि के उदाहरण हैं। चौथी सन्धि वह होती है जबकि बाधाओं और उलझनों के बाद आशा फिर अंकुरित होती है और अन्ततः विश्वास में परिणत हो जाती है। अंगूठी को देखकर दुष्यन्त को शकुन्तला का स्मरण हो आना इसका उदाहरण है। इसी को 'विमर्श' सन्धि कहते हैं। पाँचवीं और अन्तिम 'निर्वहण' सन्धि है जिसमें घटना सुखमय निष्पत्ति पर पहुँचती है और पाठक अथवा दर्शक की आशा फलित होकर तृप्ति देती है। ये पाँच सन्धियाँ एक सम्पूर्ण की रचना करती हैं और वह सम्पूर्ण मानव-जीवन का प्रतिबिम्ब है—मानव-जीवन में भी बाधाएँ और कठिनाइयाँ आती हैं लेकिन उसका ध्येय स्पष्ट, निश्चित और आनन्दमय है।

संस्कृत नाटक के घटना-विकास का यह विभागीकरण पाश्चात्य नाटक के विभागीकरण से बहुत भिन्न तो नहीं है। लेकिन पाश्चात्य नाटककार क्योंकि संघर्ष को ही नाटक का प्राण मानता है, इसलिए निर्वहण उसके संघर्ष की चरम परिणति हो कर आती है, चाहे दुःखान्त हो अथवा सुखान्त। पाश्चात्य नाटककार नाटक की घटना को विश्व-जीवन का ही एक अंश मानकर उसे सम्पूर्ण के परि-पार्श्व में देखता हुआ नहीं चलता बल्कि उसकी घटना को ही सम्पूर्ण मानकर उसे रूपाकार देता है। पाश्चात्य नाटक में घटनाओं का घात प्रतिघात अधिक महत्त्व रखता है और उन्हीं के बीच में व्यक्तियों के चरित्र उभरकर हमारे सामने आते हैं।

आधुनिक हिन्दी नाटक को हम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-८५) के

समय से आरम्भ हुआ मान सकते है। 'भारतेन्दु'-काल मे जो बहुमुखी जागृति हुई, जातीय आत्म-गौरव की जो भावना जागी, उसने साहित्य को एक ओर प्राचीन साहित्य के पुनरुद्धार की प्रेरणा दी तो दूसरी ओर समकालीन कथावस्तु को लेकर समाज का उद्बोधन करने की ओर भी प्रवृत्त किया। 'भारतेन्दु' और उनके समकालीनो तथा परिवर्तियो ने एक ओर सस्कृत के नाटकों को हिन्दी मे रूपान्तरित किया तो दूसरी ओर 'भारत-दुर्दशा', 'अन्धेर नगरी' आदि मौलिक नाटक भी लिखे। यद्यपि हिन्दी नाटक का सस्कृत नाटक से कोई अटूट परम्परागत सम्बन्ध नही प्रमाणित किया जा सकता, तथापि उसका नया उत्थान बना सस्कृत के ही ढग पर। जिसे सम्यक् अर्थ मे आधुनिक नाटक कहना चाहिए वह वास्तव मे उन्नीसवी शती के उत्तरकाल के यूरोपीय नाटककारो से हमारा परिचय हो जाने के बाद ही प्रकट हुआ। इनमे हेनरिक इब्सन (१८२८-१९०६) और बर्नार्ड शॉ (१८५६-१९५०) विशेष उल्लेखनीय है। यूरोप मे भी सन् १८७० मे इब्सन के नाटको के प्रचार के बाद एक गहरा परिवर्तन आया और यूरोप के आधुनिक नाटक का आरम्भ भी उसी समय से माना जा सकता है। इसी काल से नाटक अभिव्यजना के एक प्रकार के रूप मे उपन्यास का प्रतिद्वन्द्वी होकर जागा। हेनरिक इब्सन, अन्तोन चेखव (१८६०-१९०४) ऑगुस्त स्ट्रिडबर्ग (१८४९-१९१२), गेर्हार्ट हॉप्टमैन (१८६२-१९४६), मॉरिस मेटरलिंक (१८४२-१९४९), एदमों रोस्तां (१८६८-१९१८), बर्नार्ड शॉ, जेम्स बैरी (१८६०-१९३७), यूजीन ओनील (१८८८-१९५३) आदि नाटककार नाटक के क्षेत्र मे ही नही, आधुनिक साहित्य-क्षेत्र के आलोक-स्तम्भ है। साहित्यिक अवदान की दृष्टि से देखा जाए तो इस युग के नाटकों के समकक्ष इस युग का विरला ही उपन्यासकार खड़ा हो सकेगा।

उपन्यास की अपेक्षा नाटक कही अधिक सुसगठित, सघन और तीव्र साहित्य-प्रकार है। आधुनिक नाटक का अभिनय-काल कदाचित् ही तीन घटे का होता है, बहुधा तो वह डेढ या दो घटे का ही होता है; जब कि उपन्यास के पढने का समय ग्यारह-बारह घटे तो होता ही है। उपन्यासकार के पास चरित्रो के वर्णन और विश्लेषण के लिए यथेष्ट समय होता है और वह चरित्र-चित्रण के लिए देश-काल के अनेक विस्तारों मे आता-जाता रह सकता है। इसके प्रतिकूल नाटककार चरित्र को प्रतिष्ठित करने के लिए कुछ मिनटो का ही समय पाता है और उस अल्प समय मे भी चरित्र के उद्घाटन के साथ-साथ नाटक की क्रिया को आगे बढाते रहना अनिवार्य होता है—नाटककार कभी किसी स्थिति मे भी, थोडी देर के लिए भी रुक नही सकता, परदा उठने के बाद से लेकर परदा गिरने तक घटना की गति निरन्तर स्पष्ट और अनवरुद्ध रहनी चाहिए।

बहुत से लोग मानते है कि हमारे युग का विशिष्ट साहित्य-प्रकार उपन्यास

ही है और वही युग-जीवन को प्रतिबिम्बित करता अथवा कर सकता है। किन्तु उपन्यास के साथ-साथ नाटक भी अनिवार्यतः आधुनिक साहित्य का अंग और युग का प्रतिबिम्ब है। हमारे युग की शायद ही कोई महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति होगी जो आधुनिक नाटक में प्रतिबिम्बित न हुई हो। बल्कि इस युग का बौद्धिक, सामाजिक और संवेदनात्मक इतिहास उसके नाटक-साहित्य के आधार पर ही लिख दिया जा सकता है।

वह कौन सी विशेषता है जो आधुनिक नाटक को आधुनिक बनाती है—उसे पूर्ववर्ती नाटक से पृथक् करती है? स्ट्रिंडबर्ग ने इसका ठीक-ठीक उत्तर दिया था जब उसने आधुनिक नाटक में मानसिक प्रक्रिया के विश्लेषण की ओर संकेत किया था। आधुनिक नाटक का दर्शक केवल घटना देखकर सन्तुष्ट नहीं होता, वह घटना के कारण भी जानना चाहता है। मानसिक प्रक्रियाओं में उसे विशेष रुचि है। आधुनिक नाटककार उसकी इस जिज्ञासा को शान्त करके उसके कार्य-कारण-विवेक को सन्तुष्ट और परितृप्त करता है।

एकांकी नाटक को आधुनिक युग की विशेषता माना जा सकता है। यों तो संस्कृत में भी रूपक और उपरूपकों के जो अनेक भेद थे, उनमें से कुछ ऐसे प्रकार भी थे जो एकांकी होते थे या एकांकी भी हो सकते थे, जैसे नाटिका, भाण, प्रहसन, व्यायोग, वीथी इत्यादि—परन्तु न तो इन प्रकारों की कोई अविच्छिन्न परम्परा मिलती है और न 'भारतेन्दु'-काल के एकांकियों में आधुनिक एकांकी के तत्त्व पाये जाते हैं। वास्तव में नाटक और उपन्यास का जैसा सम्बन्ध है कुछ-कुछ वैसा ही कहानी और एकांकी का भी सम्बन्ध है। जिस प्रकार आधुनिक उपन्यास और कहानी को पाश्चात्य प्रभावों से प्रेरणा मिली, उसी प्रकार आधुनिक नाटक और एकांकी भी पश्चिम का ऋणी है—बल्कि कुछ अधिक ही, क्योंकि हमारे देश में साहित्यिक रंगमंच की कोई अविच्छिन्न जीवन्त परम्परा नहीं बची थी और हिन्दी में तो वह नाम-शेष ही हो गयी थी। पुनरुत्थान काल में जो नाटक लिखे गए वे मुख्यतया पढ़ने के लिए ही विदेशी ढाँचों पर लिखे गए। नाटक सबसे पहले मंच पर दृश्याभिनय के लिए ही लिखा जाना चाहिए और उसका प्रभाव केवल लिखे हुए शब्दों पर नहीं बल्कि अभिनेताओं के व्यक्तित्व, स्वर और अभिनय-कुशलता पर, रंग-पीठ की सजावट और प्रकाश पर, और अभिनेता तथा दर्शक के साक्षात् से उत्पन्न होने वाले विशेष वातावरण पर निर्भर होना चाहिए। नाटक का लिखित रूप बहुत महत्त्व रखता है, लेकिन दृश्याभिनय का सम्पूर्ण प्रभाव देने वाले अनेक उपकरणों में से वह केवल एक उपकरण है। किन्तु रंगमंच का कोई जीवित अनुभव न होने से नाटक पढ़ने के लिए ही लिखे जाते रहे, नाटक के दृश्य पहलुओं पर बल पिछले कुछ वर्षों में ही दिया जाने लगा। एकांकियों के

विकास में बहुत कुछ प्रेरणा रेडियो से मिली, लेकिन रेडियो भी क्योंकि दृश्य नहीं, श्रव्य माध्यम है, इसलिए रेडियो में भी बहुधा काव्य और नाटक के भेद की उपेक्षा करते हुए चलना सम्भव होता रहा। वास्तव में आधुनिक 'रेडियो-रूपक' रूपक होते हुए भी काव्य से पृथक् और विशिष्ट एक प्रकार है—जो श्रव्य होकर भी विधान की दृष्टि से नाटक के निकट रहता है। 'भारतेन्दु'-काल में 'भारतेन्दु,' राधाचरण गोस्वामी (१८५९-१९२५), बालकृष्ण भट्ट (१८४४-१९१४), प्रतापनारायण मिश्र (१८५६-९५), आदि ने जो एकांकी लिखे उनमें संवाद ही प्रमुख थे और अन्य नाटकीय तत्त्वों का अभाव था। इन एकांकियों की विषय-वस्तु समकालीन सामाजिक पृष्ठभूमि से ली गई थी, इस दृष्टि से तो कहा जा सकता है कि वे आधुनिक थे, लेकिन ऊपर आधुनिकता का जो विशेष लक्षण बताया गया वह उनमें नहीं था। 'प्रसाद' का 'एक घूंट' भी एकांकी है। इसके सम्भाषण पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रभाव लक्षित होता है लेकिन रूप-विधान की दृष्टि से वह आधुनिक एकांकी के बहुत निकट है और ऐसा माना जा सकता है कि आधुनिक एकांकी की परम्परा वहीं से आरम्भ होती है। 'प्रसाद' के बाद 'सुदर्शन', जैनेन्द्रकुमार, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार (ज० १९०६) आदि ने भी एकांकी लिखे जो पठनीय और रोचक तो थे लेकिन रंगमंच को सामने रखकर नहीं लिखे गये थे। सन् १९३५ में बर्नार्ड शॉ से प्रत्यक्ष प्रभावित भुवनेश्वर (ज० १९१०) के एकांकियों से आधुनिक हिन्दी एकांकी अपने विकसित रूप में सामने आया। रामकुमार वर्मा (ज० १९०५), जगदीशचन्द्र माथुर (ज० १९१७), उपेन्द्रनाथ 'अश्क' (ज० १९१०) तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र (ज० १९०३) ने सम्पूर्ण अभिनेय एकांकी लिखे और अब माना जा सकता है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य में एकांकी भी एक जीवित और उन्नतिशील साहित्य-प्रकार है। अनन्तर मुख्यतया रेडियो की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए रूपक और गीतिनाट्य भी लिखे गये, इनमें भारतभूषण अग्रवाल (ज० १९१७) और नरेश मेहता (ज० १९२४) के रूपक और सुमित्रानन्दन पन्त के गीतिनाट्य विशेष उल्लेखनीय हैं। ये भी एकांकी की परम्परा को पुष्ट ही करते हैं। हाल में फिर मंचीय दृष्टि से छोटे-छोटे नाटक लिखे जाने लगे हैं, पर सक्रिय प्रयोगशील मंच की अनुपस्थिति में वे पढ़े ही जाते हैं और मंचीय दृष्टि से उनकी समीक्षा की नौबत ही नहीं आ पाती। जब तक एक देशव्यापी रंगमंच आन्दोलन नाटक को फिर दृश्य-रूप में ही प्रतिष्ठित नहीं कर देता, तब तक यह असन्तोषजनक स्थिति बनी रहेगी। यों अब अनेक नगरों में इसकी भूमिका प्रस्तुत होती दीखती है, जिससे आशा बँधती है।

भारतीय साहित्य परम्परा : संघर्ष का उपयोग

अपनी साहित्यिक परम्परा को एक आधुनिक सन्दर्भ देने में—या साहित्य की अद्यतन प्रवृत्तियों को अपने साहित्यिक दाय के चौखटे में रखकर देखने में—हम प्रायः एक बात की उपेक्षा कर जाते हैं जो वास्तव में अत्यन्त महत्त्व की है। वह यह कि साहित्यिक कृति के मूल्यांकन के लिए यह जानना एकान्त आवश्यक है कि कृतिकार का अपने पाठक या गृहीता समाज के साथ कैसा सम्बन्ध रहा। क्योंकि जैसा यह सम्बन्ध होगा, या इस सम्बन्ध की जैसी अवधारणा कृतिकार करेगा, उसी के अनुकूल सम्प्रेषण की परिपाटी वह (कृतिकार) अपनायेगा—वैसी ही 'रचना' वह करेगा।

पारम्परिक भारतीय ग्राहक, श्रोता अथवा पाठक समाज—विशेषण छोड़कर जिसे समाज कहना वर्तमान सन्दर्भ में पर्याप्त होना चाहिए—साधारण अर्थ में 'लोकतन्त्र' अथवा 'प्रतिनिधि' समाज नहीं था। फिर वह समाज चाहे काव्य का गृहीता हो, चाहे चित्र अथवा मूर्तिरचना का, चाहे किसी अन्य कला-रूप का। वह समाज भी उतना ही और उसी अर्थ में विशिष्ट अथवा 'अभिजात' समाज था जितना और जिस अर्थ में कलाकार एक विशिष्ट वर्ग का प्राणी था। यह विशिष्टता अधिकारों की या सामाजिक सुविधाओं की विशिष्टता उतनी नहीं थी जितनी संस्कारों की या संस्कारी मन की विशिष्टता : एक अनुशासन की, संवेदनशीलता की विशिष्टता। ग्रहण के सामर्थ्य का अभिप्राय था बुद्धि और भावना के गुणों से निर्मित वह क्षमता जो गहराई में पहुँचकर आनन्द के स्रोत को पा सके—उस केवल तत्त्व को जो वहाँ है, जिसका वहाँ होना जाना हुआ और पहले से माना हुआ है, जिसकी पहचान और जिससे एकात्मता ही कला का लक्ष्य और उद्देश्य है। जिसमें यह क्षमता नहीं थी वह ग्राहक नहीं था, ऐसे लोगों का समुदाय 'समाज' नहीं था। उनके लिए अन्य प्रकार के मनोरंजन सम्मत थे, नाना प्रकार की उप-कलाएँ, उप-काव्य, उप-नाटक...

सहृदयता का यह गुण अथवा सामर्थ्य ग्राहक-समाज से अपेक्षित अथवा वांछित था तो कलाकार—कृतिकार—के लिए नितान्त अनिवार्य था। कवि अथवा कलाकार के लिए सहृदय होने का अर्थ था संस्कार और प्रतिभा से सम्पन्न होना, तन्मय हो सकना : आनन्द के उस केन्द्र तक पहुँचकर उसे पहचान और ग्रहण कर सकना

जो कि हर कलानुभूति मे होता है (—बल्कि जो ही कलानुभूति होता है, जो उसे यथार्थ अनुभूति से पृथक् करता है—), और उसका सम्प्रेषण कर सकना, उसे संवेद्य बना सकना। दूसरे शब्दों मे कलाकार—उस अनुभूति से ग्राहक समाज के एकात्म हो सकने की पूर्वपीठिका प्रस्तुत करता था।

यों कला सम्प्रेषण से कुछ अधिक थी सम्पृक्ति का वह स्तर योग का ही रूप था। इस अन्योन्याश्रय में केवल कुछ मूल सिद्धान्तों पर मतैक्य-भर नहीं, उसमें कहीं गहरी प्रतिश्रुति होती थी। कला दो अजनबियों का आलाप न होकर एक समान निधि के दो भावकों का संलाप होती थी, और यह संलाप एक की पहचान दूसरे से नहीं बल्कि दोनों की पहचान उनकी साझी सम्पत्ति से कराता था।

लेखक और पाठक के, कलाकार और कला ग्राहक के बीच ऐसी स्थिति, अथवा दोनों के सम्बन्ध के ऐसे निरूपण से कई महत्त्वपूर्ण परिणाम निकलते है।

पहला परिणाम तो स्पष्ट ही है कि काव्य की भावानुभूतियाँ यथार्थ जीवन की अनुभूतियों से सर्वथा भिन्न और विशिष्ट होती है। वे सर्वदा सुखद होती है: काव्य के क्रोध, शोक, पीड़ा और जुगुप्सा से भी आनन्द मिलता है जब कि यथार्थ जीवन में वैसा नहीं होता। परिभाषा से ही काव्यानुभूति आनन्दोन्मुख है, तो दूसरा कोई परिणाम हो ही कैसे सकता है?

दूसरे: काव्य वास्तविक जीवन की अनुभूतियों के रेचन का मार्ग-भर नहीं है। रेचन (कैथार्सिस) की बात अप्रासंगिक हो जाती है: कला आनन्द देती है तो अनुभूतियों से छुटकारा दिलाकर नहीं बल्कि उनके मूल स्रोत की पहचान करा कर।

तीसरे: हर किसी मे—अर्थात् हर सहृदय मे—यह सहज क्षमता अथवा योग्यता है कि वह काव्यानुभूति मे प्रवेश पा सके, भले ही उसने उस अनुभूति के यथार्थ जीवन के पर्याय का अनुभव या भोग किया हो या नहीं। इस सहजात योग्यता के द्वारा व्यक्ति सामूहिक अथवा संचित अनुभवों के उस भण्डार तक पहुँच जाता है, जिसमें होता हुआ वह उन काव्यानुभूतियों में प्रवेश पा सकता है जो अब तक उसके अनुभव की परिधि मे नहीं आयी थी। (इस सहजात क्षमता को समझने के लिए कई सिद्धान्तों को आधार बनाया जा सकता है, उनकी चर्चा यहाँ अनावश्यक है। युंग की 'सामूहिक अवचेतन' की परिकल्पना भी इसे समझने मे सहायक हो सकती है।)

चौथे: वास्तविक अनुभव, अर्थात् वास्तविक जीवनानुभव, केवल स्थूल जगत् से सम्बन्ध से, चीज़ो से, इद से सम्बन्ध जोड़ते हैं, भले ही वह इद चरम तात्कालिक महत्त्व रखता हो। दूसरी ओर काव्यानुभव—काव्य-यथार्थ से सम्बद्ध काव्य-भावों का अनुभव—हमारा सम्बन्ध बृहत्तर यद्यपि कम तात्कालिक जगत् से जोड़ता है:

वह जगत् 'इद' का नहीं, 'सर्व' का है।

पांचवें काव्य अथवा कला वस्तु में या कृति में नहीं होती, वह वस्तु अथवा कृति और ग्राहक के बीच, या कवि-कलाकार और समाज के बीच घटित होती है।

छठे और यह कदाचित् सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण परिणाम है : काव्य अथवा कला कवि-कलाकार या कृतिकार में तो और भी नहीं होती। जो कलाकार 'अपना आप' होना चाहता है, अपने को अभिव्यक्ति देना चाहता है, वह कला की बुनियादी शर्त को पूरा नहीं कर सकता : वह अनुभूति के भीतर छिपे आनन्द के स्रोत तक के सेतु नहीं बनाता। और चरम महत्त्व उस सेतु का ही है, उसके इधर या उधर के प्रदेश का नहीं, और सेतु की भी उसकी सार्थकता उस स्रोत से मिलती है जिस तक वह हमें पहुँचाता है—हर अनुभव के भीतर सतत प्रवहमान आनन्द के स्रोत से।

कलाकार के लक्ष्य, कला के उद्देश्य और कवि तथा समाज के सम्बन्ध के इस निरूपण की भारतीय परम्परा ईसवी सवत् से कुछ अधिक लम्बी है। निस्सन्देह इसके उपलब्ध सर्वप्रथम शास्त्रीय प्रमाणों का विषय नाट्य और नृत्य रहा, किन्तु उसमें जब काव्य की प्राथमिकता स्वीकार करते हुए नाटक को दृश्य काव्य माना गया, तब यह कहने में अतिव्याप्ति दोष न होगा कि वह कला सम्प्रेषण का एक सिद्धान्त था।

तब से सत्रहवीं शती तक—अर्थात् आधुनिक पूर्वकाल तक—इस सिद्धान्त का विकास, व्याख्या और अलकरण होता रहा, और कुछ व्याख्याताओं ने आश्चर्य-जनक प्रतिभा और सूक्ष्म-चिन्तन का परिचय दिया। उसके विस्तार में न जाकर इतना ही लक्ष्य करना काफी होगा कि इस सबमें कलाकार और समाज के परस्पर सम्बन्ध की परिकल्पना में कोई मौलिक अन्तर नहीं आया, न यह सिद्धान्त ही बदला कि कवि-कलाकार का काम है समाज अथवा गृहीता को उस सत् तक ले जाना जो सत्वों के मूल में है—आनन्द के अन्तरतम कोश तक। यह सब कुछ नहीं बदला, बदली तो यथार्थता की अवधारणा ही। आध्यात्मिक चिन्तन के समान्तर और उससे प्रभावित चलते हुए काव्यशास्त्र भी यथार्थ की कोटियों में बटकर स्थूल यथार्थ के सम्पूर्ण खण्डन तक पहुँच गया और वहाँ से फिर उसके सीमित स्वीकार तक लौटा। स्वभावतः इसके साथ-साथ कलाओं का—और विशेष रूप से काव्य का—पहले ह्रास हुआ और फिर नया उत्थान।

नाट्यशास्त्रकार के लिए यथार्थ काफी सत्य ही था। यह नहीं था कि घटित का जगत् असत्य था, केवल इतना था कि वह द्वैत का एक आयाम था। आनन्द भी सत्य था, बल्कि वही परम सत्य था, उसी की सत्यता अन्य सब कुछ को सदा-

र्थता प्रदान करली थी। काव्य की समस्या इतनी ही थी कि दोनों की आत्यन्तिक एकता प्रत्यक्ष करा दे : इस समस्या का हल पाना ही कवि की खोज थी।

नाट्य की इस परिकल्पना में 'संघर्ष' की उस अर्थ में कोई सम्भावना नहीं थी जिसमें पश्चिम उसे समझता है : बल्कि पश्चिम की दृष्टि से तो यह परिकल्पना नाटक की सम्भावना ही मिटा देती है। अद्वैत में आस्था—और वह भी आनन्द-रूप अद्वैत में—तनाव की उस धुरी को ही मिटा देती है जिसके आस-पास ही पश्चिमी नाटक घूम सकता है।

किन्तु जगत् की यथार्थता का खंडन आनन्द की यथार्थता का भी खंडन था। बौद्ध चिन्तन में तो ऐसा स्पष्ट ही कहा गया : दुःख के भ्रम से मोक्ष, आनन्द की प्राप्ति नहीं था, केवल मोक्ष था, निरनुभव था, उसमें आत्यन्तिक कुछ था तो आत्यन्तिक शून्य। यह दर्शन काव्य-सृष्टि को क्या प्रेरणा दे सकता जबकि इसमें सृष्टि मात्र असत्य हो जाती थी ? और यों भी, अगर संसार केवल दुःख ही हो, तो उसका असत्य होना ही अच्छा है क्योंकि तब दुःख असत्य हो जाता है'''हिन्दू चिन्तन में, आनन्द को असत्य नहीं माना गया और अन्तिम, आत्यन्तिक सत् आनन्द का निकेत ही रहा, पर जगत् को उस आत्यन्तिक की हेतु-रहित 'लीला' मान लेने पर उसमें धार्मिक तादात्म्य ही सम्भव रह जाता था, काव्यमूलक तादात्म्य अत्यन्त कठिन होता था। प्राचीन नाटककार यथार्थ के सजीव या नाट्य रूप के द्वार से एक वृहत्तर यथार्थ की ओर ले जाता था, इस नये दर्शन के अधीन उसे एक भ्रान्ति (और वह भी अहेतुक !) के नाट्यरूप के माध्यम से वृहत्तर सत्य तक पहुँचना और पहुँचाना होता था—जो कि बिलकुल दूसरी स्थिति थी। यह आश्चर्य का विषय नहीं रहता कि इस काल में धार्मिक साहित्य के अलावा कोई महान् साहित्य नहीं रचा गया। काव्य को तात्कालिकता से जूझने के लिए सत्य चाहिए जिसमें उसकी आस्था हो सके—और उस समय ऐसा सत्य केवल धार्मिक सत्य रह गया था—केवल परमेश्वर।

इस समाधि-स्वप्न से हम जब जागे तो हमने अपने को आधुनिक जगत् में पाया। इस साक्षात्कार के आघात का असर व्यापक और चिर-स्थायी हुआ। नये यथार्थ का सम्पर्क काल और मात्रा दोनों की दृष्टि से पश्चिम के सम्पर्क का पर्याय बन गया था, इस बात ने पश्चिम से हमारे सम्बन्धों पर भी गहरा प्रभाव डाला है, वह प्रभाव अच्छा हो या बुरा। इस नये यथार्थ में बड़ा लचकीलापन और जीवन्तता थी, वह गोला-बारूद से और निरन्तर अधिक प्रभावशाली होते हुए हथियारों से सम्पन्न था, और वह अनवरत नयी चीजें, जिन्से, नया माल पैदा करता जा रहा था'''चीज़ों की इस बाढ़ के सामने 'लीला' में विश्वास बनाए रखना कठिन था, और उसे अहेतुक मानना असम्भव। एक निर्धन, निस्साधन और

अनाम्वस्त जीवन-परिपाटी पर एकाएक चीजों और अधिक चीजों की बाढ़ छा गयी थी विश्व की 'वस्तुमयता' (बल्कि जिन्सियत) ने एकाएक उन्हें एक नयी और तीव्र वास्तविकता दे दी थी। निस्सन्देह भारत की सम्पत्ति की लूट से ही इंग्लैंड अपनी औद्योगिक क्रान्ति के साधन जुटा पाया था, पर उपनिवेशवाद का यह तथ्य भारतीय चेतना में धीरे धीरे ही बैठा—जब बैठा, तब उसकी तेजाबी कटुता ने वास्तविकता की गाँस और गहरी ही चुभा दी।

उसके बाद के, आधुनिक काल के, इतिहास में जाना आवश्यक नहीं है। यूरोप के तीन सौ वर्षों के अनुभव का दाय हम दो पीढ़ियों में ही भोग लेना पड़ा। कलाकार और गृहीता के सम्बन्ध पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा—प्राचीन शास्त्रीय सम्बन्ध का स्थान आधुनिक सम्बन्ध ने ले लिया। हम कलाकार-वाद में परिचित हुए उस नये रोमांटिक विद्रोही वीर से, जो अपने सिवाय किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं था। ऐसे कलाकार का स्पष्ट बिम्ब देश में अभी बना भी नहीं था कि मार्क्सीय चिन्तन के प्रभावों ने उसे फिर मिटा दिया। साथ ही हमने लोकतन्त्रवाद के विक्टोरियाई आदर्श भी अपना लिए। दूसरे क्षेत्रों में इस लोकतन्त्रवाद का चाहे जो असर हुआ हो, कवि और सहृदय के—कलाकार और गृहीता के सम्बन्धों के क्षेत्र में इसने सबको समानता दे दी—सिवाय कवि-कलाकार के। सभी इन्सान समान हैं—पर कवि कुछ कम समान था। सभी इन्सानों को पाठक, दर्शक, आलोचक बन जाने का जन्मसिद्ध अधिकार हो गया, सहृदयता की शर्त अनावश्यक हो गयी। कला का सम्प्रेषण न हो तो कलाकार ही अवश्यमेव दोषी था। पुस्तक से माथा टकराने पर खोखली आवाज हो तो वह जरूरी तौर पर पुस्तक में ही आती होगी, टकराने वाली खोपड़ी में कभी नहीं।

पर इस 'कम समानता' को दूर करना आवश्यक था—लोकतन्त्र सभी तरह के भेद-भाव को मिटाने को प्रतिज्ञाबद्ध जो है। परिणाम यह हुआ कि कवि-कलाकार का स्थान क्रमशः लोक-सम्पर्क विशेषज्ञ लेता गया। और लोक-सम्पर्क का कर्मी निहित भाव से यह मानता था जो स्पष्ट स्वीकार करना वह कभी न चाहता: कि समानता का मतलब है एकरूपता, इयत्ता का कदर्थता, स्वरूप अथवा व्यक्तित्व का स्पर्शरहित इकाई। उसके लिए प्रतिभा, रचना, उन्मेष—ये सब अस्वस्तिकर शब्द थे जिनका अर्थ भी अनिश्चित था; उसका प्रयोजन था केवल एक महत्तम समापवर्तक से जिसे वह 'सम्प्रेषित' करता था—और जिसके सम्प्रेषण के लिए वह चरम कुशलतापूर्वक सामूहिक सम्प्रेषण के सभी उपकरणों का उपयोग करता था।

यह था ऐतिहासिक अनुभव का और परम्परा का वह दाय, जिसकी पृष्ठिका पर आधुनिक भारतीय लेखक ने अपने विचारों को बाँधने, अपनी प्रतिक्रियाओं को सम-

कालीन अर्थवत्ता के साँचे मे ढालने का प्रयत्न आरम्भ किया। यह दुनिया यथार्थ है, असन्दिग्ध रूप मे वास्तविक है, इतना-भर कोई नया सिद्धान्त भी नही है। पर नया यह है कि आज ऐसा मानना संघर्ष की अनिवार्यता स्वीकार करना जान पड़ता है। और वह मानने का मतलब है निरन्तर पक्षधर होने को बाध्य होना। वरण की, नैतिक निर्णयों की, बाध्यता भी कोई नयी बात न होती, पर पक्षधर होकर चलने की लाचारी अखरती है। प्रयत्न, पुरुषार्थ, पहले भी था, पर शिव की वृद्धि और शिवेतर के क्षय की कामना सम्पूर्ण का ही वरण था; संघर्ष का सतही आभास तले की एकता को और पुष्ट ही करता था। पर अब—अब मानो सतह ही सतह रह गयी, नीचे मानो केवल अतल शून्य है···

परिस्थिति की यह ललकार मूल्यों का एक नया निरूपण और एक नयी व्याख्या माँगती है। संघर्ष की एक नयी परिभाषा चाहिए; इस प्रश्न का उत्तर चाहिए कि संघर्ष का निवारण करने, उसे फलप्रद या रचनात्मक बनाने के लिए उसके साथ कैसा सम्बन्ध स्थापित किया जाए—या अगर वह अनमुलक हो तो उसका दमन या निरसन करने के लिए क्या किया जाए।

क्योंकि नये यथार्थ का आघात पश्चिम के आघात के साथ-साथ ही आया था, इसलिए यह शायद स्वाभाविक था कि संघर्ष की परिभाषा करने के लिए पश्चिम से साक्षात्कार को ही स्पष्ट निरूपित किया जाए। उपन्यास मे यह प्रयत्न करने वालो मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर अग्रणी थे। उन्ही के प्रयत्नो से पश्चिम थोड़ा-बहुत परिचित भी है। लक्ष्य करने की बात है कि उस समय भी पश्चिम की अपेक्षा पूर्व की दृष्टि कही कम पूर्वग्रह दूषित और संकुचित थी। पूर्व यह मानने को तैयार था कि मूल मानव-प्रकृति पूर्व या पश्चिम दोनो मे एक ही है, कि दोनों का अन्तर 'बुनियादी वैषम्य के कारण नही था बल्कि इसलिए था कि प्रत्येक संस्कृति मे कुछ ऐसे गुण या प्रवृत्तियाँ उभरकर आ गयी थी जो कि दूसरी संस्कृति मे भी नितान्त अजनबी नही थीं'। पूर्व ने यह भी पहचाना कि किसी एक राष्ट्रीय या जातीय समाज की अनैच्छिक सदस्यता, व्यक्ति को कुछ मूल्यो मे आस्था रखने को बाध्य करती थी, भले ही इससे व्यक्ति के भीतर संघर्ष उत्पन्न हो जाए। पश्चिम मे ई० एम० फॉर्स्टर को छोड़कर शायद ही कोई लेखक मिलेगा जिसने पूर्व-पश्चिम-सम्बन्धो के कठिन और विस्फोटक निजी स्तर की पड़ताल करने की हिम्मत की हो—फॉर्स्टर भी वस्तुत सफल नही हुए लेकिन उनके प्रयत्न का खरापन असन्दिग्ध है।

किन्तु रवीन्द्रनाथ ठाकुर के लिए भी पूर्व-पश्चिम का साक्षात्कार—मुख्यत भारत की उदीयमान राष्ट्रीयता का ही एक पक्ष था। ठाकुर ने राष्ट्रीयता को विश्व-मानवता के एक विशालतर चौखटे मे जमाने का प्रयत्न (विशेषतया अपने निबन्धो मे) तो किया, पर एक कवि-कलाकार के नाते उनका ध्यान मुख्यतया व्यक्ति

के विवेक और समष्टि के साथ व्यक्ति के सम्बन्ध की ओर ही था। इस संघर्ष के निरूपण का एक पहलू उनके शुरू के उपन्यास 'गोरा' में मिलता है, जिसका विषय रहस्यवादी राष्ट्रीयता के साथ-साथ धर्म-विश्वास की समस्या है। इस प्रकार कह सकते हैं, पूर्व-पश्चिम का साक्षात्कार हुआ ही नहीं; पूर्व ने साक्षात् पश्चिम को नहीं, स्वयं अपने में प्रतिबिम्बित उसके रूप को ही देखा। समस्या फिर भी निजी और भीतरी ही रही—सम्पूर्ण की एक कुंजी की खोज, यह माना जाता रहा कि सम्पूर्ण न केवल है बल्कि पकड़ में भी आ सकता है।

हमारी धारणा है कि ठाकुर सही रास्ते पर थे। कम-से-कम इतना तो था ही कि वह जिस रास्ते पर थे उसी पर चलने के लिए भारत के संचित अनुभव ने पर्याप्त पाथेय जुटाया था, और उसी पर बढ़ते हुए कुछ मूल्यवान पा सकने की आशा हो सकती थी। किन्तु अन्य लेखक उस पथ पर नहीं चले, महायुद्धों के बीच के काल में शीघ्र ही सामाजिक-आर्थिक संघर्ष उपन्यास का मुख्य विषय हो गया और फिर बहुत जल्दी साधारण समाजवादी अथवा प्रारम्भिक मार्क्सीय चिन्तन ने लेखक के लिए उस संघर्ष के निरूपण और वर्णन की लीकें भी बाँध दीं। व्यक्ति आत्मा अथवा व्यक्ति का विवेक अप्रासंगिक मान लिया गया, बल्कि व्यक्ति ही लगभग लापता हो गया। आर्थिक संघर्ष के साँचे-ढले चरित्र सब ओर छा गये—साहूकार, किसान, मिल-मालिक, मजदूर (कौशल-रहित), उपनिवेशवादी-साम्राज्यवादी गोरे, उनके गुर्गे या हरावल के रूप में मिशनरी···ऐसे साँचे-ढले चरित्रों के लिए पहले एक प्रतिमान तो होना ही चाहिए जिस पर साँचा बन सके, अतः इन चरित्रों को न तो यथार्थ में बिलकुल झूठा कहा जा सकता था, न कलात्मक सत्य से बिलकुल रहित; फिर भी निरूपण का अतिसरलीकरण और बचकानापन उन्हें एक अयथार्थता दे देता था। और जब आर्थिक-सामाजिक संघर्ष का यह हाल था, जिसका कि अनुभव में सबसे अधिक तात्कालिक स्थान होता है, तो मानव की सम्पूर्ण अवस्थिति के बारे में कितनी चिन्ता थी (या नहीं थी!) इस का अनुमान सहज ही किया जा सकता है। केवल थोड़े से और मुख्य धारा से कुछ अलग पड़ गये व्यक्ति ही मानव की समग्र अवस्थिति के बोध से उत्पन्न होने वाले प्रश्नों को लेकर बेचैन थे, बाकी सब के लिए तो आर्थिक शोषण के साँचे की मूर्तियाँ ही इष्ट देवता के आसन पर प्रतिष्ठित थीं!

यह तो तीसी के अन्तिम वर्षों में—दूसरा महायुद्ध से तत्काल पहले—हुआ कि उपन्यासकार ने अपना चश्मा बदला, तब पूर्व और पश्चिम दोनों के आकार बिलकुल बदलकर अधिक सच्चे और यथार्थ हो गए और फलतः दोनों के सम्बन्ध का परिदृश्य भी बिलकुल दूसरा हो गया। तब कलाकार घर को आप भी बदली हुई नजर से देखने लगा। दूसरे शब्दों में कहें कि उसकी नजर एक ही चीज को

देखने से पड़ने वाले जोर से मुक्त होकर बड़े परिवेश को और अधिक सही परि-पार्श्व में देखने लगी। और उसे जो दीखा, उसका नया मूल्यांकन करने को भी वह तैयार हुआ—केवल पश्चिम से पायी हुई विश्लेषण-पद्धति की कसौटी पर ही नहीं बल्कि अपने पुराने अनुभव की कसौटी पर भी। उस समय से अब तक के तीन दशकों ने केवल पश्चिम मे ही नही, सारे ससार मे हमारे सम्बन्धों का, और उन सम्बन्धों को कला मे आत्मसात् करने की हमारी प्रक्रिया का ढाँचा तैयार किया है।

हमने दो युद्धों के बीच की अवधि के आर्थिक-सामाजिक सघर्ष के उपन्यास-साहित्य की और उसके सामान्य मार्क्सीय ढाँचे की बात की है। पश्चिम ने भारतीय लेखक के सामने सघर्ष के तीन मुख्य रूप रखे है, जिन्हें हम नाम की सुविधा के लिए क्रमशः डार्विनी, मार्क्सीय और फ्रायडीय कह सकते है। यह बहुत मोटा विभाजन है; इसमें सन्देह नही कि जैविक, आर्थिक-सामाजिक और मनोवैज्ञानिक सघर्ष की बात करना अपेक्षया अधिक सही होता। प्रत्येक रूप के उत्साही समर्थक या व्याख्याता प्रकट हुए, पर जल्दी ही यह लेखक की समझ मे आ गया कि इससे आगे भी कुछ कहने को है। भारत मे इस बोध मे यह ज्ञान भी शामिल है कि बहुत-से कहे को अनकहा करना होगा; अर्थात् ऐसे निरूपणों की कई प्रतिज्ञाएँ भारतीय अनुभव से और भारतीय जीवन-परिपाटी से मेल नही खाती।

अब यह सम्भव तो है कि इस सारी प्रतिक्रिया को अयथार्थवादी, निराधार या पूर्वग्रह-दूषित मानकर उसकी उपेक्षा कर दी जाए। पर उस उपेक्षा से कुछ परिणाम नही निकलेगा क्योंकि स्थिति का यह पक्ष यों भी अप्रासगिक है। क्योंकि सघर्ष स्वय यथार्थ का क्षेत्र नही, यथार्थ की प्रतिक्रिया का ही क्षेत्र है, वह प्रतिक्रिया जैसी भी हो। 'मनुष्य वही है जो वह करता है', यह मानकर चलने से भी हम उसके मूल या वास्तविक स्वभाव या सत्य को पाने मे उतने ही सफल या असफल हो सकते हैं जितने इसके प्रतिकूल सिद्धान्त को मानकर—कि 'मनुष्य वही कर सकता है जो वह है'। बल्कि पहला सिद्धान्त, जिसे हम सहज ही 'वैज्ञानिक' मान लेते हैं, उस परिस्थिति मे और भी कम विश्वास्य हो जाता है जब हम 'मनुष्य क्या करता है या करेगा' यह जानने के लिए अपने शोध का आधार इसे बनाते है कि विलायती चूहे या कुत्ते या बन्दर क्या करते हैं या करेंगे!

मानववाद की प्रधान व्यापक प्रतिज्ञा को लीजिए: मनुष्य विकास-क्रम का चरम-बिन्दु है—इतर प्राणी अपने को प्रकृति के अनुकूल बदलते है पर मनुष्य अपने परिवेश को अपने अनुकूल बनाता है। इसी बात को दूसरी तरह कहकर उसके प्रासगिक महत्त्व को तीव्र रूप मे सामने लाया जा सकता है. इतर प्राणियो मे सघर्ष नही होता, 'केवल मनुष्य मे सघर्ष होता है।'

यानी संघर्ष सम्भाव्य की पहचान में से उत्पन्न होता है। जहाँ संघर्ष मौजूद है, वहाँ महत्त्व यह पहचानने का नहीं है कि परिवेश में परिवर्तन लाया जा सकता है, महत्त्व की बात यह है कि अपने भीतर एक नयी क्षमता पहचानी जा सकती है, यह और यही मात्र संघर्ष का रचनात्मक उपयोग है जब संघर्ष एक उन्नततर आत्म-चेतना और ज्ञान की खिड़की का काम दे। संघर्ष को केवल विजिगीषा के, प्रभुत्व पाने या हावी हो जाने के प्राकृतिक संग्राम का लक्षण मानना केवल विध्वंसात्मक ही हो सकता है इस संघर्ष में हार एक गहरा घाव छोड़ जाती है और दूसरी ओर विजय अहं को फुलाकर नये विनाशकारी संघर्ष की स्थिति पैदा कर देती है।

संघर्ष व्यथा का तुल्यार्थी है। व्यथा रोग नहीं है, रोग का लक्षण है; और लक्षण केवल शरीर के स्वास्थ्य-प्रयास के प्रमाण होते हैं। (मृत्यु लक्षण नहीं है, वह प्रयास की पराजय में निष्पत्ति है।) संघर्ष भी व्यक्ति और परिवेश के बीच सामंजस्य के प्रयत्न का लक्षण है। अत एव तो लक्षण को दबा देने से ही इलाज नहीं हो जाता जब कि रोग की नींव दूसरी जगह है। दूसरे अगर सामंजस्य ही प्राप्त करना है तो उसके लिए सम्पूर्ण विजय की अपेक्षा समीचीन जीवनोपाय की खोज ही शायद अधिक उपयोगी हो सकता है। विशेषतया उस स्थिति में जब संघर्ष का और उसके हल की खोज का सम्बन्ध दूसरे व्यक्तियों से भी हो। यानी यहाँ फिर महत्त्व अपने से बाहर निकलने के प्रयत्न का हो जाता है, अहं-केन्द्रित व्यक्तित्व केवल अपने लिए नयी बाधाएँ ही खड़ी कर सकता है।

निस्सन्देह प्राकृतिक परिवेश और मानवी परिवेश में अन्तर है। लेकिन दोनों ही में अगर संग्राम में सम्पूर्ण विजय अथवा प्रभुत्व को शर्त बना लिया जाए तो संघर्ष का हल कठिनतर ही हो जाएगा।

साधारणतया पूर्वी संस्कृतियों में, और विशेष रूप से भारतीय संस्कृति में, नानसिक-आध्यात्मिक शक्तियों के अस्तित्व का और योग अथवा तपस् के मूल्य का आग्रह रहा है। पश्चिम की—जिस हद तक इस शिल्प का कोई अर्थ है—दृष्टि को एक सूत्र द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है: 'अधिक भोग; अधिक सुख!' जहाँ पूर्व की खोज शान्ति की अथवा आनन्द की खोज है, वहाँ पश्चिम का आग्रह सुख अथवा परितृप्ति का है। ऐसा नहीं है कि पूर्व या पश्चिम दोनों में से कोई भी पक्ष दूसरे की खोज से नितान्त अपरिचित है या कि एक का कोई भी सदस्य दूसरे की दृष्टि से नहीं देख सकता रहा। बल्कि ऐसा नहीं है इसीलिए समकालीन भारतीय लेखक के लिए भारतीय परिस्थितियों पर पश्चिमी मनोवृत्ति के प्रभाव के उदाहरण प्रस्तुत कर सकना सम्भव हुआ। अहं को आप्यायित करने की भूमिका में इन्द्रियों को आप्यायित करने के व्यापक आन्दोलन-रूपी पश्चिमी प्रयत्नों से हम सभी परिचित हैं। रसना को, हाथों को, त्वचा को, हर अवयव और इन्द्रिय को

पनपाना और उसकी वासना को तृप्ति देते हुए और बढ़ाते चलना उस वर्त्तुल का आरम्भ करना है जिसकी अन्तिम परिणति एक भयानक और अत्यन्त घातक संघर्ष में ही हो सकती है। 'प्रभुत्व के लिए संघर्ष' के दृष्टिकोण की यही बुनियादी भूल है : वह पहले तनाव का वातावरण पैदा करता है और फिर उस पर विजय का अभियान आरम्भ करता है।

कुछ लोग पूर्वी दृष्टि की समीचीनता स्वीकार करते हुए कि मध्यकालीन यूरोप से उसके तुल्य उदाहरण देंगे, और फिर यह तर्क प्रस्तुत करेंगे कि तकनीकी विकास की गति के कारण मानव की अवचेतन जीवन-शक्तियाँ अब इतनी क्षीण हो गयी हैं कि उन्हें रचनात्मक काम में नहीं लगाया जा सकता। पर गति का तर्क अधिक-से-अधिक सुविधा या सामयिकता का तर्क है, और यह आसानी से सिद्ध किया जा सकता है कि सुविधा के लिए अपनाये गए 'सामयिक' उपाय जितनी उलझनें सुलझाते हैं उतनी ही और पैदा भी कर देते हैं। यह तो तय है कि मानव-व्यक्तित्व की उलझनें तो ऐसे उपायों से कभी नहीं सुलझ सकतीं, और संघर्ष को दमित करके बहुत गहरे छिपा देने का परिणाम यही हो सकता है कि उसे परिश्रम-पूर्वक फिर सतह पर लाया जाए ताकि उसका उपचार किया जा सके।

यह भी सुझाया जाता है कि तकनीकी प्रगति मानव मात्र को एक एकरूपता की ओर ले जा रही है, और एक नयी संस्था का निर्माण कर रही है जिसकी तुलना पूर्वी सभ्यताओं की नींव, उनकी परिवार अथवा बिरादरी की संस्थाओं से की जा सकती है। यह तर्क भी सत्य नहीं है, इस नये संस्थागत जीवन में न तो परिवार अथवा बिरादरी की-सी घरेलू आत्मीयता होती है, न उसका अन्तरंग निजीपन और विशिष्टता। न ही यह संस्थागत जीवन उस अर्थ में 'प्राइवेट' जीवन होता है जिस अर्थ में परिवार के एक व्यक्ति का जीवन होता है। पूर्वी परिपाटी में व्यक्ति अकेला भी समूह का अंग बना रहता है; आधुनिक पश्चिमी तकनीकी मानव संस्थागत होकर और अकेला अजनबी, 'परिवार से कटा हुआ' हो जाता है।

सामाजिक नृतत्त्वविदों ने अपराध-भाव और अपमान-भाव वाली संस्कृतियों में भेद किया है ('गिल्ट कल्चर' और 'शेम कल्चर'), और यह एक हद तक उचित है। किन्तु भारतीय अनुभव का मूल्यांकन करने के लिए केवल अपमान-बोध के नियन्त्रक प्रभाव की बात काफी नहीं होगी। भारतीय संस्कृति में व्यक्ति और समूह के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। भारतीय समाज—भारत का धार्मिक समाज या सम्प्रदाय भी—व्यक्ति से कर्म के क्षेत्र में निर्धारित प्रकार के आचरण की अपेक्षा करता है पर विश्वासों के मामले में उसे पूरी छूट देता है, यह अत्यन्त महत्त्व की बात है। यही बात है जिससे संघर्ष कम-से-कम हो जाता है, और अप-राध-भाव को उदित होने का अवसर ही नहीं मिलता। विश्वास और आचरण में

सामंजस्य हो इसके लिए कोई दबाव नहीं रहता, क्योंकि विश्वास क्या हो इसके बारे में कोई नियम नहीं होता। न ही विश्वास की कमी या अश्रद्धा को छिपाने की कोई लाचारी होती है। एकान्तिक विश्वास के असहिष्णुता-भरे आग्रह से इन दोनों प्रकार के दबाव प्रकट होते हैं, और अपराध-भाव उनका अनिवार्य परिणाम होता है। निस्सन्देह भारतीय स्थिति में पाखंड की सम्भावना बनी रहती है, पर इस प्रकार का पाखंड कम खतरनाक होता है। विश्वास की कठिन लाचारी की स्थिति में एक दूसरे प्रकार का अवचेतन पाखंड उत्पन्न हो जाता है; दमित अन्त-विरोध में तीव्र हिंसाएँ, वैर-भाव और अन्य विनाशक प्रवृत्तियाँ उभरती हैं।

मानव की अवस्थिति की पश्चिमी अवधारणा में अपराध-भाव, अजनबियत और उखड़ेपन का भाव प्रकट होना अनिवार्य जान पड़ता है। कोई मानवी समी-करण उसमें नहीं मिलता, 'हम' और 'मैं' में सम्पूर्ण विरोध का ही सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, और इस विरोध का हल किसी एक पक्ष की सम्पूर्ण पराजय द्वारा ही हो सकता है। ऐसा विरोध-सम्बन्ध ही परस्पर बाधा और वैर-भाव का, अजनबियत का कारण बनता, और संघर्ष की लीक डाल देगा।

भारतीय दृष्टि मानव की अवस्थिति को यों नहीं देखती। वह एक व्यापक समीकरण प्रस्तुत करती है बल्कि उसमें दो सम्भाव्य समीकरणों में निरन्तर आदान-प्रदान होता रहता है। 'मैं' कभी 'हम' का प्रतिरोधी होकर नहीं आता; प्रश्न इतना ही रहता है कि दोनों के जोड़ से एक ही योगफल निकलता है या कि भिन्न,भिन्न योग फल हो सकते हैं। इस बात को गणित के समीकरणों का रूप दें तो कहें कि या तो

मैं + हम = क, जहाँ क एक स्थिरांक है,

अथवा

मैं + हम = ख, जहाँ ख एक जटिल चल-राशि है।

व्यक्ति और समूह के बीच ध्रुविता कभी नहीं होती, विरोध का भूगोल उनके बीच नहीं बनता।

समकालीन हिन्दी साहित्यकारों में कुछ ने इस विचारधारा को आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया है। इस प्रयत्न की अवहेलना कर देना भी सम्भव है, और उसे अमर्यादित महत्त्व देना भी उतना ही सम्भव है। उचित यही होगा कि इसे सही सन्दर्भ में रखकर देखा जाय, क्योंकि एक संस्कृति की उपलब्धि का दूसरों के लिए मूल्य पहचानने के लिए उस उपलब्धि को उस अनुभव की कसौटी पर परखना चाहिए जो उसका आधार रहा।

निस्सन्देह आधुनिक साहित्य में इन विचारों का पुनरुदय पश्चिम से सम्पर्क के कारण हुआ है। किन्तु इसीलिए उन्हें अनुकृति, उधार माल या प्रतिक्रिया मात्र

लेना भूल होगा। जिस परम्परा मे अनुभव द्वारा सत्य का साक्षी होने वाले का उतना ही मूल्य रहा जितना उसका जो अकस्मात् या मेधा या दैवकृपा से सत्य का आविष्कर्ता हो सका, उसमे अनुभव-साक्ष्य का मूल्य आज भी कम नही है। और इन आधुनिक लेखको ने यही साक्ष्य पाने या देने का प्रयत्न किया है। पश्चिम से सम्पर्क अत्यन्त मूल्यवान सिद्ध हुआ है; हमारा विश्वास है कि पश्चिम के लिए भी वह उतना ही उपयोगी सिद्ध हो सके यदि सस्कृतियो के साक्ष्य को उनके सही सन्दर्भ मे देखा जा सके। क्या कहा जा रहा है, किसके सम्बन्ध मे कहा जा रहा है, इसे ठीक-ठीक समझ सकने के लिए यह पहचानना आवश्यक है कि वह किस प्रसग मे कहा जा रहा है और किस अनुभव के आधार पर कहा जा रहा है।

कृति-साहित्य मे इन विचारो की स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई हो या उन्हे तर्क द्वारा सिद्ध किया गया हो ऐसा नही है। कृति-साहित्य मे ऐसे प्रबन्ध लेखन के लिए बहुत गुजाइश भी नही होती—थोडी-बहुत उपन्यास मे ही हो सकती है। कही-कही अवश्य ही एक विचार को लेकर ही कहानी 'रची' गयी है घटना भी और चरित्र भी सृष्टि न होकर उसी विचार-सूत्र मे टाँके गये है। उदाहरण के लिए जैनेन्द्र-कुमार का उपन्यास 'सुनीता' ही अविरोध द्वारा सघर्ष के शमन और निरसन पर एक प्रबन्ध है। अहिंसा की परम्परा मे अविरोध का सिद्धान्त नया नही है, किन्तु 'सुनीता' मे उसे एक समकालीन परिस्थिति पर घटित किया गया है। यह परि-स्थिति भी नयी नही है; ठीक ऐसे ही त्रिकोण को लेकर रवीन्द्रनाथ ठाकुर एक उपन्यास लिख चुके थे। किन्तु ठाकुर के 'घरे-बाहिरे' मे 'घर' पर 'बाहिर' का आक्रमण शमित अथवा निरस्त नही होता, आक्रान्ता की मृत्यु से वह समाप्त हो जाता है। इस प्रकार सिद्धान्त की दृष्टि से सघर्ष का कोई हल उस उपन्यास मे नही है। ऐसा ही हल प्रस्तुत करना जैनेन्द्रकुमार का लक्ष्य है। 'बाहिर' के मन मे अपराध-भाव किसी तरह उदित न होने दिया जाय; विरोध उसे अजनबी बनाकर उसे ध्वस की ओर प्रेरित कर देगा—सुनीता को उसके पति के आदेश का यही तत्त्वार्थ है। जो विकल्प उपन्यास मे प्रस्तुत किया गया है वह कारगर होता है, आत्म-साक्षात्कार द्वारा आक्रमण का निरसन करा दिया जाता है। सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना पूरी हो जाती है। यह प्रश्न बना रह जा सकता है कि कहानी कहाँ तक विश्वास्य बनती है। क्या ऐसे पति होते है—हो सकते है? कोई यह भी आपत्ति कर सकता है कि 'इसके लिए अनन्त धैर्य और असीम साहस की आवश्य-कता है।' लेखक का उत्तर यही होगा कि उसने यह कभी नही कहा कि यह आसान उपाय है; उसका कहना यह है कि यह स्थायी उपाय है। और यह भी कि यह रचनात्मक उपाय है जो सम्बद्ध सब व्यक्तित्वो को सम्पन्नतर बनाता है और हानि किसी को नही पहुँचाता।

व्यक्ति के वरण-स्वातन्त्र्य की—अहं की परितुष्टि खोजने के अधिकार की विशद चर्चा एक उपन्यास[1] में की गयी है। यहाँ भी सिद्धान्त यही है कि दुर्दम दावेदार अहं के लिए वरण का एक ही मार्ग खुला हो सकता है—मृत्यु के वरण का यही उसका अन्तिम दावा हो सकता है। अहं की परितुष्टि का अधिकार मान्य समझा गया है, पर यह भी स्पष्ट कहा गया है कि वह अनिवार्यतया स्वघातिनी ही हो सकती है। यह स्पष्ट कहा नहीं गया, पर लेखक के उद्देश्य में निहित अवश्य है, कि पश्चिम की दृष्टि ऐसी ही दृष्टि है। इसके बराबर एक दूसरी दृष्टि के संकेत भी दिये गये हैं, मान लिया जा सकता है कि वह दूसरी दृष्टि पूर्व की दृष्टि है—या कि उस रूप में प्रस्तुत की गयी है।

पिग्मैलियन की ग्रीक कथा को उलटकर कलाकार की स्वतन्त्रता के बारे में भी एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है। इसमें कलाकार पिगमालियन प्राणाविष्ट मूर्ति को स्वीकार नहीं करता, बल्कि उसके द्वारा विजित किये जाने पर उसे तोड़ डालता है—और इस प्रकार मुक्त हो जाता है। यह मुक्ति क्या है? अहं के विसर्जन के साथ-साथ देवता की कृपा के भी परिव्रजन का अन्तिम नंगापन: वह नंगापन जो मुक्ति की पूर्वप्रतिज्ञा है, वह विसर्जन जो कला को कालातीत बनाती है। कहानी के अनुसार पिगमालियन सच्चा मूर्तिकार इसके बाद ही बना, इससे पहले नहीं था, पहले जो कुछ हुआ वह केवल तैयारी थी।

दूसरे भी प्रबन्ध या सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं। कुछ में समर्पण के प्रति दृष्टिकोण केवल निहित है, और उसके निरसन के उपाय केवल व्यंजित किये गये हैं या संवेदनशील पाठक की पहचान पर ही छोड़ दिये गये हैं। केवल एक उदाहरण देकर सन्तोष किया जाये. रघुवीर सहाय की कहानी 'एक जीता-जागता व्यक्ति' में नायक, जो स्वयं वृत्त सुनानेवाला भी है, सड़क के किनारे तारकोल से अपने को छुड़ाने का प्रयत्न करती हुई चिड़िया को देखता है और साथ ही अपनी भाव-प्रतिक्रियाओं का भी अध्ययन करता चलता है। उसमें सहायता करना चाहने की करुणा है, पर अपने सामर्थ्य का दर्प उस करुणा को रंग रहा है, और एक आत्म-प्रशंसा का भाव भी उसकी ओट है : 'मैं कितना समर्थ हूँ, और चिड़िया को छुड़ाने का कैसा नेक काम मैं करने वाला हूँ!' सहायता करने की इच्छा गलत नहीं है; गलत है अहं-तुष्टि का भाव। निकट आते हुए मानव प्राणी से चिड़िया और घबरा जाती है; उसकी पहले ही जी-तोड़ कोशिशें एक तात्कालिक डर से और प्रबल हो जाती हैं और एकाएक वह अपने को छुड़ा लेती है। वह चिड़िया ही नायक, कर्ता, वह 'जीता-जागता व्यक्ति' है जिसने अपने-आप को छुड़ाया है; सहायता करने आया

१. 'अज्ञेय' : अपने-अपने अजनबी।
२. 'अज्ञेय' : कलाकार की मुक्ति।

वृत्तकार अपने को थोड़ा-सा कुंठित ही अनुभव करता है—पर इतना कुंठित नहीं कि पक्षी से मिली शिक्षा को ग्रहण न कर सके। अन्त में जब वृत्त सुनाने वाला कहता है कि उसे जो मिला था उसे चिड़िया लेकर उड़ गयी, तब हम जानते हैं कि वह उसका फूला हुआ अहं ही था जो चिड़िया ले गयी और जो उसे मिलकर उसके पास रह गया वह अहम्मुक्ति की शान्ति ही है।

निस्सन्देह ऐसी बहुत-सी स्थितियाँ हैं जिन पर ये विचार लागू नहीं हो सकते। उदाहरण के लिए आधुनिक राज्य-सत्ता के या यन्त्र के साथ मानव के सम्बन्ध। लेकिन वह एक-दूसरे ही प्रकार का संघर्ष है जो कि व्यक्ति और व्यक्तियों के बीच नहीं, व्यक्ति और निर्वैयक्तिक के बीच का संघर्ष है : जीव और जड़ का संघर्ष है। उसे यदि निर्वैयक्तिक स्तर पर ही ग्रहण किया जाय, तो उसकी तुलना प्राकृतिक शक्तियों से संग्राम के साथ की जा सकती है। और यदि उसे व्यक्ति-स्तर पर लाने का प्रयत्न किया जायेगा तो फिर उसको ऐसा रूप देना पड़ेगा जिसकी परिभाषा व्यक्ति-सम्बन्धों के स्तर पर की जा सके। यन्त्र-सभ्यता या सर्व-नियन्त्रक राज्य-सत्ता के मुकाबले मानव व्यक्ति का जो व्यर्थीकरण या अकिंचनीकरण आज देखने में आता है (प्रक्रिया का यह नाम उतना ही कृत्रिम है जितनी वह प्रक्रिया है!), जिस प्रक्रिया से उसे एक जिन्सी इकाई बनाकर न-कुछ के बराबर कर दिया जाता है, उसके प्रति विद्रोह से एक नया आत्म-साक्षात्कार हो सकना चाहिए। वैसा साक्षात्कार और इसके बाद ऐसी नयी आत्म-चेतन इकाइयों का नया सलाप और परस्पर-सम्पृक्ति—इसमें संघर्ष की नयी खाई न बनकर उसके पार एक नया सेतु बन सकेगा। भविष्य की आशा इसी में हो सकती है।

निर्वैयक्तिक के विरुद्ध संग्राम का एक पहलू ऐसा भी है जो अभी तक पूर्व और पश्चिम दोनों में निराशाजनक दीखता है : या अगर पूर्व में अभी कम निराशाजनक दीखता है तो केवल इसलिए कि समय की दौड़ में पूर्व उतना पीछे है। लेकिन जिस संग्राम का परिणाम पहले से जाना हुआ है, वह अवांछित भी हो तो भी उस स्थिति को संघर्ष की स्थिति शायद नहीं कहना चाहिए। हम पहले कह आये कि 'सम्भाव्य की पहचान' ही संघर्ष की शर्त है। और ऐसी स्थितियों में (बिना उन्हें अपनाये हुए) हम उन उपायों को स्मरण करते हैं जो अतीत अनुभव ने समय-समय पर सुझाये। वास्तव में ये सब उपाय एक ही औषध के रूप हैं—एक ऐसे 'राम-बाण' के जिसको केवल विज्ञापन के लिए अलग-अलग युगों में अलग-अलग नाम दिये जाते रहे हैं। वह सनातन और विश्वजनीन औषध है साहस अथवा धैर्य। प्राचीन निरूपण था दुःख अथवा ट्रैजेडी के समक्ष साहस, मध्यकाल में इसका रूप हुआ वाम अथवा प्रतिकूल के समक्ष साहस, आधुनिक निरूपण शायद होगा अमानुषों के समक्ष साहस। या यह भी कदाचित् आधुनिक-पूर्व निरूपण है, और अन्तिम प्रतिज्ञा होगी निरर्थक के समक्ष साहस···

रचना और प्रक्रिया

रचना-प्रक्रिया की बात उठने पर अगर यह कहा जाये कि आजकल तो रचना की ओर कम और प्रक्रिया की ओर ही अधिक ध्यान दिया जाता है तो वह बिलकुल अनुचित नहीं होगा। लेकिन जिस निकटपूर्ववर्ती युग की प्रवृत्तियों से आज की प्रवृत्ति का भेद हम करना चाहते हैं यह बात उस युग के बारे में भी कही जा सकती थी। 'मैं क्या लिखता हूँ?' 'मैं कैसे लिखता हूँ?' 'मैं और मेरी रचना', ऐसे अथवा ऐसे मिलते-जुलते शीर्षक हमारे अति-परिचित हो गये हैं। हमारे जमाने में ऐसे कम ही लेखक होंगे जिनसे किसी-न-किसी सम्पादक ने इस विषय पर कुछ न लिखवा लिया हो। उस से पहले भी लेखकों को अवश्य ही अपने बारे में बात करने का शौक रहता रहा होगा, लेकिन जो लिखा या छपा हुआ साहित्य हमें मिला है उस के आत्मचर्चा वाले अंश में भी—और काव्य-परम्परा में गर्वोक्ति का एक निश्चित स्थान रहता चला आता था।—इस पक्ष की चर्चा प्रायः नहीं है। इसी स्थिति को पाठक अथवा गृहीता की ओर से देखें तो यों भी कह सकते हैं कि वह कृति के साथ कृतिकार के बारे में भी बहुत कुछ जानना चाहता था लेकिन इस बात का उस के लिए विशेष महत्त्व नहीं था कि कोई क्यों या कैसे लिखता है।

पाठकों में जो स्वयं लेखक रहे, या कवियश-प्रार्थी रहे, उन्हें कदाचित् इस क्या और कैसे में अधिक रुचि रही हो, लेकिन शायद पुराने कवि ऐसे लोगों के लिए नहीं लिखते थे।

वास्तव में परिस्थिति में इधर जो परिवर्तन हुआ है और जिस के कारण ये शीर्षक अब बहुत कम दीख पड़ने लगे हैं, उसे उन उत्तरों में ही पहचाना जा सकता है जो पिछली पीढ़ी के लेखक देते रहे। अगर ऐसे उत्तरों को छोड़ भी दें जो स्पष्टतया प्रश्न को टालने के लिए या ऐसी पड़ताल का परिहास करने के लिए दिये गये थे, जैसे 'मैं चिकने सफ़ेद लेटर-पेपर पर नीली स्याही से लिखता हूँ', तो भी यह लक्ष्य किया जा सकता है कि कृतिकार रचना-प्रक्रिया के बहिरंग की ही चर्चा अधिक करता था। कैसे वह ज्ञान उपार्जन करता है, कैसे वह विचारों को स्फूर्ति देता है और यहाँ तक कि कैसे वह कल्पनाओं को उकसाता है या अपने को ऐसी परिस्थिति में डालता है कि वे सहज उठें—इन सब की ओर उसका ध्यान जाता था और इन्हीं की चर्चा वह पाठक के लिए उपयोगी मानता था। इससे आगे भी रचना-

प्रक्रिया के बारे में कुछ कहने को हो सकता है ऐसा वह सोचता ही नहीं था, यह मानना तो दूर की बात कि रचना-प्रक्रिया आरम्भ ही वहाँ से होती है जहाँ ये सब चीज़ें पीछे छूट जाती है। यह नहीं कि कृतिकार के जीवन में इन सबका महत्व नहीं है। निस्सन्देह, ये सभी उस की शिक्षा-दीक्षा के अनिवार्य अंग हैं और हम चाहें तो इतना और भी जोड़ दे सकते हैं कि यह उस की साधना का भी एक तत्व है कि वह अपने को ऐसी परिस्थिति में लाये कि उस की रचनात्मक प्रतिभा का उन्मेष हो। किन्तु रचना-प्रक्रिया उन्मेष की तैयारी या अनुकूलता नहीं है, वह स्वयं उन्मेष है।

ठीक इसी बिन्दु पर नयी प्रवृत्ति इस से पहले की प्रवृत्ति से अलग हो जाती है। जिस प्रश्न का उत्तर देने या पाने का प्रयत्न अब होता है, यों तो उसे भी 'क्यों' और 'कैसे' के द्वारा निरूपित किया जा सकता है, लेकिन वास्तव में प्रश्न बदल गया है, क्योंकि उस में कर्तृत्व को स्थानान्तरित कर दिया गया है। 'मैं क्यों लिखता हूँ ?', 'मैं कैसे लिखता हूँ ?' इन प्रश्नों का कर्ता 'मैं' वास्तव में लेखन-क्रिया का कर्ता न हो कर उस का कर्मक्षेत्र हो गया है, अर्थात् हमारी वास्तविक जिज्ञासा यह है कि मेरे द्वारा कैसे लिखा जाता है या क्यों लिखा जाता है।

हो सकता है कि किसी को यह भेद ज़रूरत से ज़्यादा बारीक जान पड़े। सूक्ष्म यह हो सकता है लेकिन केवल स्थूल के उलटे अर्थ में ही, गुरु के उलटे अर्थ में नहीं। मेरा ख़याल है कि समकालीन साहित्य की बहुत-सी प्रवृत्तियों को समझने के लिए इस भेद को सही-सही समझना और इस के कारणों को जानना ज़रूरी है।

कृतिकार के अन्तःकरण की इस चीर-फाड़ को हम हितकारी ही समझते हों ऐसा नहीं है। बल्कि यह बात हम ख़ास तौर से कहना चाहते हैं कि रचना प्रक्रिया के अन्तिम विश्लेषण का यह प्रयत्न जोखिम से भरा हुआ है और समकालीन साहित्य—साहित्य ही क्यों, सभी कलाओं—को काफ़ी क्षति पहुँचा चुका है। यह भी कह सकते हैं कि इस जोखिम की प्रक्रिया को समझने के लिए ही रचना-प्रक्रिया की ओर और ध्यान खींचना उपयोगी है, नहीं तो इस प्रक्रिया की चर्चा पहले ही अस्वस्थ स्तर तक पहुँच चुकी है।

प्रतिभा से प्रक्रिया तक हमारी प्रगति विज्ञान की प्रगति के साथ बँधी हुई है। जब तक प्रतिभा ईश्वर-प्रदत्त थी—और इसलिए जब नहीं थी तब नहीं थी और उससे आगे कुछ कहने को नहीं था—तब तक परिस्थिति इसी लिए हमारे बस की थी कि उस पर हमारा बिलकुल बस नहीं था। लेकिन वैज्ञानिक खोजों पर आधारित मानवतावाद ने जब मनुष्य के आत्म-विश्वास को इतना बढ़ा दिया कि वह प्रतिभा में भी पसीने का अनुपात नापने लगा, तब परिस्थिति जटिल हो गयी। प्रत्येक क्रिया का कोई कारण होता है, क्रिया और प्रतिक्रिया समान और प्रतिलोम होती हैं, यहाँ से आरम्भ कर के भौतिक विज्ञान के यान्त्रिक चिन्तन ने

मानव-जीवन को और मानस-प्रक्रिया को जो रूप दे दिया और उसी यान्त्रिक ढाँचे में मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण ने जो नये सिद्धान्त प्रतिष्ठित किये, उन के कारण कलाकार की रचनाशक्ति को भी एक यन्त्र के रूप में ही देखा जाने लगा—निस्सन्देह एक बहुत ही जटिल और बड़े सूक्ष्म सन्तुलन वाले यन्त्र के रूप में, लेकिन अन्ततोगत्वा एक यन्त्र ही के रूप में जिस के संचालन के नियम गणित अथवा भौतिकी विद्या पर ही आधारित होते हैं।

मानव-मन अगर एक यन्त्र है तो यह जानना न केवल सम्भव है बल्कि आवश्यक भी है कि वह यन्त्र कैसे चलता है और क्या कर सकता है। अर्थात् उसे कैसे चलाया जा सकता है और उससे क्या काम लिया जा सकता है। मनुष्य का यह यन्त्री-करण उस के सामाजिक और नागरिक जीवन के हर क्षेत्र में हो रहा था, क्यों कि यन्त्र को अच्छी तरह चलाना सभी को अभीष्ट था। राजसत्ता भी तो यही चाहती थी कि प्रजा-जनरूपी यन्त्र अच्छी तरह चले। प्रजातन्त्रवादी सत्ताओं और जनतन्त्रवादी सत्ताओं में इस मामले में कोई अन्तर नहीं था। और जहाँ ये दोनों तन्त्र नहीं थे वहाँ भी सुविधा इसी में देखी गयी कि अपनी शक्ति का स्रोत इस मानव जन' को ही माना जाये जिसे कि यन्त्रवत् चलाया जा सकता है।

रचना-प्रक्रिया पर ध्यान केन्द्रित होने का एक कारण हमारी समझ में यही था कि रचनाकार-रूपी विशेष प्रकार के यन्त्र को चलाने के नियम जानना आवश्यक हो गया था। 'साहित्य कैसे रचा जाता है' से ले कर 'कैसा साहित्य रचा जाये' (और कब और क्यों)—इन विषयों की सम्भार में जितनी चर्चा पिछली दो पीढ़ियों में सरकारी या अधिकारी स्तर पर हुई उतनी इतिहास में कभी न हुई होगी। एकाएक पहचान लिया गया था कि लेखक—साहित्यकार—किसी भी कला का कृतिकार—एक बड़े उपयोगी प्रकार का यन्त्र है, और उस का अधिक-से-अधिक उपयोग करने के लिए अधिकार-सम्पन्न सभी वर्ग आतुर थे। कलाकार का उपयोग पहले कभी न हुआ हो, ऐसी बात नहीं थी; पर इतना चेतन और सुयोजित उपयोग कदाचित् पहले नहीं होता था। गुड था तो खाया पहले भी जाता रहा होगा; लेकिन इस बुद्धि से नहीं कि इस से इतनी कैलोरी शक्ति मिल सकेगी! सो यन्त्र का अधिक-से-अधिक लाभ उठाने के लिए उस के आन्तरिक नियमों को जान-समझ लेना आवश्यक था—इस ज्ञान के किसी आत्यन्तिक मूल्य के लिए नहीं, बल्कि यन्त्र को और भी अधिक कारगर करने के लिए।

रचना प्रक्रिया के समकालीन गौरव का यह एक पक्ष है। दूसरा पक्ष यन्त्र की उपयोगिता का नहीं, स्वयं यन्त्र का है। यह भी एक मार्के की बात है कि इसी काल में यन्त्र स्वयं भी अपनी प्रक्रिया के विषय में इतना सजग हो उठा। यदि कलाओं के प्रति हमारे मन में विशेष आदर न हो तो हम कह सकते हैं कि अपनी ओर सब की इतनी अधिक रुचि देख कर कलाकार का दर्शनशील हो उठना स्वाभाविक ही

था और रचना-प्रक्रिया की आधुनिक सब चर्चा विस्फारित अहं के गुब्बारे में भरी हुई गैस भर है। इस बात में कुछ या कुछ सचाई भी हो सकती है। लेकिन सचाई इतनी ही नहीं है। कलाकार की समस्या विस्फारित अहं की समस्या से बड़ी है। कहा जा सकता है कि वह इस यन्त्रवादी तर्क का दूसरा पहलू है—अर्थात् हर क्रिया का यान्त्रिक आधार खोजने की प्रकृति के प्रति विद्रोह है। दूसरे शब्दों में वह मानवतावाद की दूसरी लहर है। पहली बार दैवी अथवा अतिमानवी सत्ता के स्थान पर मानव को प्रतिष्ठा की गयी थी, अब की बार मानवेतर भौतिक अथवा यान्त्रिक के विरुद्ध मानवीय को खड़ा किया जा रहा है। रचनाकार की ओर से रचना-प्रक्रिया की ओर ध्यान आकृष्ट कराया जाता है तो उस प्रक्रिया की सामान्यता दिखाने के लिए नहीं, बल्कि उसकी विशिष्टता पर बल देने के लिए—उसे नियमों के अधीन कर के उपयोज्य बनाने के लिए नहीं बल्कि उस के नियमातीत उन्मेषमूलक धर्म पर आग्रह करने के लिए।

स्पष्ट ही है कि यान्त्रिक चिन्तन की परिस्थिति में इस की आवश्यकता है। सम्भव है कि प्रतिभाशाली कृतिकार का स्थान भविष्य में इलेक्ट्रॉनिक यन्त्र ले लें और उन्हीं से सभी प्रकार की कला-कृतियाँ निसृत हुआ करें—या कि केवल ऐसी ही रचनाओं को प्रकाश में आने की सुविधा हो जो कि इस प्रकार नियोजित पद्धति से उपलब्ध की गयी हों। यों तो आज जो कलाएँ जन-सम्पृक्ति की साधन हैं—सिनेमा, रेडियो, टेलिविज़न—उनकी मानव-निर्मिति का भी नब्बे प्रतिशत ऐसे यन्त्र-सिद्ध रसायन से अधिक नहीं है। किन्तु जब तक यन्त्र की सौ प्रतिशत विजय नहीं हो जाती तब तक कलाकार को लाचार हो कर कृति-कर्म के इस पक्ष पर अधिक बल देना ही होगा। यह उस का दुर्भाग्य है कि उसे ऐसा करना होगा; क्योंकि ऐसे सब प्रयत्न उसे उस के वास्तविक कर्म से दूर ले जाते हैं, उस की प्रतिभा का दुरुपयोग करते हैं, निरन्तर ऐसा करते हुए उसे कुछ विकृत भी करते हैं। लेकिन जिस दुर्गति से बचने के लिए वह यह प्रयत्न करता है, वह इस दुर्भाग्य से कहीं अधिक बड़ी है।

यहाँ एक और समस्या की ओर संकेत कर देना होगा। रचना-प्रक्रिया के विषय में इतना अधिक आत्म-चेतन होना स्वास्थ्यकर नहीं है, फिर भी कृतिकार के लिए अपने कर्म के इस पक्ष पर बल देना आधुनिक परिस्थिति में आवश्यक हो गया है; यह एक विपर्यय है। इस से आगे दूसरी कठिनाई यह है कि वास्तव में कृतिकार अपने मानस के उस अंग को देख भी नहीं सकता जिस में रचना का कार्य सम्पन्न होता है। इस का यह अभिप्राय नहीं कि मानस का कोई एक विशिष्ट अवयव ही रचना कर सकता है। पर रचना की प्रेरणा जिन आभ्यन्तर तनावों, दबावों, दमन-उन्नयन की क्रियाओं से मिलती है, वे जिन गुत्थियों के साथ अभिन्न रूप से सम्ग्रथित होती हैं उन्हें कृतिकार नहीं देख सकता। देख सकता तो वे हल

हो जाती और उन में शक्ति-सचय ही न हो पाता, उन की शक्ति-प्रवणता का रहस्य और प्रतिज्ञा यही है कि वे कृतिकार की दृष्टि की ओट हैं। यह दूसरा विपर्यय है कि जहाँ कलाकार के लिए रचना-प्रक्रिया पर बल देना आवश्यक हो गया है वहाँ वास्तव में वह अपनी रचना प्रक्रिया के बारे में कोई प्रामाणिक बात नहीं कह सकता।

रचना-प्रक्रिया के बारे में कुछ कहने का उद्देश्य उसका रहस्योद्घाटन करना न हो कर यही हो सकता है कि उसके आस-पास जो झाड़ झंखाड़ उगते हैं या उगाये जाते हैं उन्हें काट कर साफ कर दिया जाय।

रचना प्रक्रिया का नये ज्ञान या विज्ञान की नयी खोजों से कोई सम्बन्ध नहीं है, न वह किसी मतवाद पर आधारित होती है। न मनोविज्ञान उसे अधिक प्रशस्त करता है, न इतिहास और परम्परा का ज्ञान अधिक पुष्ट। न शिल्प अथवा भाषा का ज्ञान उस में कोई गुणात्मक परिवर्तन लाता है। इन सब बातों का रचना-प्रक्रिया से सीधा कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु रचनाकार के लिए ये सब बहुत महत्त्व रखती हैं क्योंकि जिस मानस की प्रक्रिया होगी उस मानस के संस्कार अपना अनिवार्य महत्त्व रखेंगे। संस्कार का महत्त्व मानना न यान्त्रिक तर्क को स्वीकार करना है और न प्रतिभा से इन्कार करना।

प्रतिभा क्या है? वह एक आभ्यन्तर तनाव की स्थिति है। यह तनाव सब में नहीं होता, या एक सा नहीं होता। इसी लिए कुछ कलाप्रेमी होते हैं, कुछ कलाकार-स्वभाव के होते हैं पर कलाकार नहीं होते, और कुछ कलाकार होते हैं। जहाँ यह तनाव नहीं है वहाँ आगे सोचने की जरूरत नहीं है। जहाँ है, वहाँ फिर भी बहुत-से प्रश्न पूछने को रह जाते हैं, बल्कि वहीं उठते हैं। यह प्रतिभा वस्तु को ग्रहण कैसे करती है, अनुभव कैसे करती है, सम्प्रेषण क्या है, सम्प्रेषण की प्रवृत्ति कैसी है और उस का दबाव कितना है? यदि साधन प्रतीक हैं तो उन में कितनी शक्ति है, कितनी अर्थवत्ता है—कितनी व्यापकता है?

प्रतिभा विषय का सम्प्रेषण नहीं करती, उस का अर्थ सम्प्रेषित करती है—और वह अर्थ साधारण (यूनिवर्सल) होना चाहिए। प्रतिभा वस्तु को सम्प्रेष्य नहीं बनाती, अनुभव को सम्प्रेषित करती है और वह अनुभव अद्वितीय (यूनीक) होना चाहिए।

अनुभव की अद्वितीयता और अर्थ की साधारणता—प्रतिभा के ये दो इष्ट हैं। या कहा जाये कि इन दो ध्रुवों का योग ही उस का इष्ट है। जिस प्रक्रिया से यह योग सिद्ध होता है, वही रचना-प्रक्रिया है। और सब प्रक्रियाएँ यन्त्र की हैं और उन के प्रति अधिक सजगता भी उन की यान्त्रिकता को कम नहीं करती, हमारी यान्त्रिकता को भले ही बढ़ा दे।

नयी कविता

छायावादी मैं छायावादी हूँ। यों तो छायावादी के लिए अपने बारे मे ऐसा स्पष्ट दावा करना भूल है, लेकिन भौतिकता के उपासको के बीच मे पडकर किया क्या जाये ? 'नयी कविता' के बारे मे क्या बात की जा सकती है, मेरी कल्पना से बाहर है—मेरी कल्पना के ! —वह फिर कहाँ हो सकती है ? क्योंकि मैं तो कल्पना के सुकुमार पखो पर—(रुककर, मुग्ध भाव से) अयि कल्पने, सुकुमारि !

प्रोफेसर : मैं प्रोफेसर हूँ। हिन्दी का सही, पर प्रोफेसर हूँ। पढाता हूँ, रिसर्च का निर्देशन करता हूँ। पाठ्य-क्रम निर्धारित करता हूँ। मैं किसी विषय पर सहसा कोई राय नही देता—मुझे राय कायम करने मे तीन सौ वर्ष लगते है। निर्णायक का काम जल्दी का नही है। कोई नयी चीज मैं तीन सौ वर्षो तक नही पढता—क्योंकि वह साहित्य नही है—नही हो सकता। और जब तीन सौ वर्ष हो जाते है, तब मैं वह पढाने लग जाता हूँ—तब मुझे पढने की आवश्यकता नही रहती ! मेरे प्रत्येक निर्णय के लिए निर्धारित मानदड होता है।

अध्येता मैं आप दोनो महानुभावो को प्रणाम करता हूँ। आप गुरुजन है। मैं अकिंचन हूँ—केवल रुचि के कारण साहित्य पढने वाला एक साधारण व्यक्ति। मैं नयी कविता पढता हूँ।

छायावादी . पढते हैं ? तो कविता पढी जाती है ?

प्रोफेसर पढते हैं। यानी नयी कविता कुछ है भी—

अध्येता : जी। पढता हूँ। सुन भी लेता हूँ कभी, पर नयी कविता अधिकाधिक पढी ही जाती है—पढने के लिए ही लिखी जाती है। और नयी कविता कुछ है अवश्य।

प्रोफेसर . (सव्यंग्य) और वह पढने के लिए लिखी जाती है—यानी आँखो के लिए। यानी दृश्य काव्य हो गयी है—जो परिभाषा से ही श्रव्य थी ! इससे आगे और अब क्या कहना है ?

अध्येता : तो आप 'श्रव्य' कहकर क्या काव्य को मन से अलग कर देते थे—श्रव्य क्या केवल कान सुनता था और वही रसास्वादन की क्रिया

पूरी हो जाती थी ?

प्रोफेसर — नहीं । पर

अध्येता — तो फिर विशेष अन्तर नहीं है आज भी बुद्धि से ही कविता ग्राह्य होती है, पर पहले स्मृति जो काम देती थी, अब छपा पृष्ठ वह काम देता है इसलिए केवल कान नहीं, आँखें भी उपकरण हो गयी हैं । और कम-से कम छायावादी कवि को तो इस पर आपत्ति नहीं होनी चाहिए—वह तो सदैव दृश्य उपकरणों का व्यवहार करता रहा है ।

छायावादी — कैसे ?

अध्येता — जैसे स्वयं अपनी देह का—अपने लघु-लघु गात, सुन्दर सजीले वेश, अनेक प्रकार के हस्त और आंगिक अभिनय का, नयी कविता तो इन सबके बदले केवल छपे पृष्ठ का सहारा लेती है ..

छायावादी — ओऽ, आप व्यंग्य कर रहे हैं ! पर नयी कविता आप कहते किसे हैं ? प्रगतिवादी तो

अध्येता — आप लोगों के सामने क्या कहूँगा । पर प्रगतिवादी, प्रयोगवादी आदि बिल्ले नयी कविता के सामने ओछे पड़ते हैं—उसके साथ न्याय नहीं करते ।

प्रोफेसर — अयँ ? तो फिर ?

अध्येता — जी । तो फिर यही असल प्रश्न है । हम प्रयोगशील प्रगतिशील आदि नहीं कहना चाहते, इसीलिए कहते हैं 'नयी कविता' । क्योंकि वह है ही नयी कविता प्रगतिवाद तो एक राजनीतिक बिल्ला है, और प्रयोगवाद एक गाली !

छायावादी — वाह ! यह आप कैसे कहते हैं ? बहुत से आधुनिक कवि अपने प्रयोगों का दावा करते हैं ।

अध्येता — मैंने कहा न, मैं केवल अध्येता हूँ, कवि होता तो कुछ और बात होती । और अध्येता के नाते मैं तो मानता हूँ कि कवि चाहे जो कहे—यानी कविता के बाहर जो कहे—हमें अपना मत निर्धारित करना है तो कविता पर ही करना चाहिए—बाकी सब अप्रामाणिक है ।

प्रोफेसर — तो स्वयं कविता से आप क्या धारणा बनाते हैं ?

अध्येता — यही कि ये नाम—प्रगतिवादी-प्रयोगवादी, नयी कविता को समझने में बाधक होते हैं, ये नाम ग़लत हैं । उतने ही ग़लत जितना कभी 'छायावादी' नाम ग़लत था—ग़लत और निरर्थक ।

प्रोफेसर — मगर हम तो उसका अर्थ समझते हैं ·

अध्येता : (हँसकर) हालाँकि तीन सौ वर्ष अभी नहीं हुए है ! बधाई। पर मैं कहूँ कि आपके समझने से भी वह नाम उपयुक्त नहीं हो जाता, आप समझ लेते है ऐतिहासिक परिपार्श्व के कारण। भविष्य में, ऐतिहासिक दूरी पा लेने पर—शायद प्रगतिवाद, प्रयोगवाद भी समझे जाने लगेंगे। पर इस समय ये नाम केवल भ्रान्ति पैदा करने वाले हैं। क्योंकि दोनों नामों के पीछे राजनैतिक आग्रह या पूर्व-ग्रह या विरोध है, और राजनैतिक सम्प्रमान नयी कविता की प्रवृत्ति का एक पहलू है, नयी कविता का नयापन दोनो मे अधिक व्यापक है, और उसकी प्रवृत्तियाँ केवल राजनीति मे कही अधिक दिशाएँ रखती है।

प्रोफेसर तो यह भ्रान्ति फैली कैसे ? कौन फैलाता है—क्यों ?

अध्येता मेरी समझ मे तो पाठक के अलावा सभी इसे फैलाते हैं—चाहे जान-बूझकर, चाहे अनजाने। कवियों का ऐसा करना स्वाभाविक है—कृतिकार मे कोई-न-कोई आग्रह होना स्वाभाविक है और जब कृति पर राजनीति का आरोप भी हो तो वह अनिवार्य हो जाता है। इसीलिए मैंने कहा कि हमें कवियों के वक्तव्य पर उतना नहीं जाना चाहिए जितना उनकी कविता पर—वहीं से जो प्रकाश मिले।

छायावादी मगर वक्तव्य सभी कवियों ने दिये है—छायावादी काल के भी—बाद के भी। क्या सब भ्रामक ही हैं ?

अध्येता · एक सीमा तक। यह वक्तव्य देने का रोग छायावाद के काल से ही चला, उससे पहले तो कवि ऐसी बात की कल्पना भी नहीं कर सकता था। दूर क्यों जाये, अपने ही समय मे शायद राष्ट्रवादी मैथिलीशरण गुप्त ही एक हैं जिन्होंने अपनी कविता के बारे मे वक्तव्य नहीं दिये—पचास साल तक कविता लिखते रहने के बावजूद ! और जब ध्यान दिया जाय कि वही एक हैं जिन्हें आप छायावादी आदि कोई बिल्ला नहीं दे सकते, तो यह जिज्ञासा होती ही है कि इन दो बातों मे क्या कोई सम्बन्ध नहीं है ?

प्रोफेसर : और आलोचक ? हमारे साहित्य के विद्वान् अध्यापकगण ?

अध्येता . आलोचक भी भ्रान्ति फैलाने मे क्या सहायक नहीं हैं। और जब से आलोचना के राजनैतिक शास्त्र का प्रचलन हुआ है तब से तो—

प्रोफेसर . हाँ, आलोचना और राजनीति के मिश्रण के तो हम घोर विरोधी हैं। लेकिन हमारे विद्वान्—शुद्ध साहित्य के पंडित—

अध्येता · वे भी। एक तो वे नया साहित्य पढ़ते नहीं—उसका नया होना ही उनके मत मे उसके विरुद्ध जाता है। दूसरे उन के मानदण्ड भी

दूषित है ! साहित्य के मान आत्यन्तिक नहीं होते, वे साहित्यिक कृति से ही उद्भूत और सिद्ध होते हैं, इस तथ्य को वे भूल जाते हैं। या यों कह लीजिए कि एक सीमा तक तो वे परिवर्तनों को ग्रहण करते हैं, फिर उस से आगे नहीं—ठीक वैसे ही जैसे आचार-नीति के क्षेत्र में एक सीमा तक तो विकास और परिवर्तन मानते हैं पर उस से आगे रुक जाते हैं और परिवर्तन की कल्पना को भी नीति-द्रोह मानते हैं।

प्रोफेसर — मगर पुराने स्मृतिकार तो ऋषि थे—उनके वचन आर्ष वचन थे।

अध्येता — लेकिन यह बताइये, कोई पहले ऋषि हो जाता है, फिर कुछ वचन कहता है, या उस के वचनों से हम उस का ऋषित्व पहचान जाते हैं ? इसी प्रकार हम कविता में कवि पहचानते हैं, या किसी को कवि मान कर उस की कृति को कविता ? ऋषि बनते थे, यह तो आप मानेंगे ?

छायावादी — हाँ, यह तो मानेंगे। वसिष्ठ विश्वामित्र का संघर्ष इस का ज्वलन्त प्रमाण है।

प्रोफेसर — किन्तु उस में भी एक बात है विश्वामित्र का इतना आग्रह क्यों था कि वसिष्ठ उन्हें स्वीकार करें ? इस का अर्थ यही तो है कि आर्ष पद के लिए भी सनद चाहिए ? इतना ही तो हम आज भी कहते हैं—कि शास्त्र की सम्मति मिल जाय तो—

अध्येता — प्रोफेसर साहब, आपकी तर्क-पद्धति में जो दोष है वह आप स्वयं नहीं देख रहे इस पर मुझे आश्चर्य होता है। लेकिन यह भी सोचता हूँ कि वह ऐसा मौलिक दोष है कि स्वयं न दीखे तो शायद दिखाया भी नहीं जा सकता।

प्रोफेसर — : (रुष्ट) आप क्या कहना चाहते हैं ?

अध्येता — कुछ नहीं, जो मैं कह चुका उस में अधिक कुछ नहीं। पर ऋषियों की जो बात शास्त्र-सम्मत नहीं होती थी उसे क्या 'आर्ष प्रयोग' कह कर टीका में बचा नहीं जाता था ?

प्रोफेसर — हाँ, जिसे पहले ऋषि मान लिया, उस के नये प्रयोग—

अध्येता — (सव्यंग्य) ओह !

छायावादी — मालूम होता है, गाड़ी यहाँ अटक गयी—आपकी बातचीत बन्द कूचे में आ गयी।

अध्येता — (हँसकर) हाँ, उस कूचे में केवल छायावादी का प्रवेश हो, ऐसा तो नहीं है !

छायावादी — ओह ! (लम्बी साँस के साथ) 'बहुत बेआबरू हो कर तेरे कूचे से

हम निकले' !

अध्येता · जी—स्वयं अपने कूचे से !

प्रोफ़ेसर · (व्यंग्य) यह विश्रम्भालाप समाप्त हो गया हो तो आगे चलें ?

अध्येता · हाँ-हाँ, आप आगे चलने को उत्सुक हो तो और क्या चाहिए !

प्रोफ़ेसर : आप यह बताइए कि आप नयी कविता किसे कहते है ? परिभाषा कीजिए ।

अध्येता एकदम परिभाषा से न शुरु कर के जरा परिपार्श्व को देखते हुए बढ़ें तो कैसा रहे ? पहली स्थापना मैं यह करना चाहूँगा कि नयी कविता सब से पहले एक नयी मन स्थिति का प्रतिबिम्ब है—एक नये मूड का—एक नये राग-सम्बन्ध का। किस का किस से राग-सम्बन्ध ? इस का जवाब देने से पहले मैं कहूँगा, जरा आप छायावाद के आविर्भाव के कारणों का स्मरण कीजिए। वह एक गीतिमूलक विद्रोह या प्रतिवाद या वाद का दावा था—उस से पूर्ववर्ती वर्णनात्मक नैतिक प्रवृति के विरुद्ध गीतितत्त्व का आग्रह। वह एक मन स्थिति के विरुद्ध एक दूसरी मन स्थिति का विद्रोह था—एक बाह्याग्रही प्रवृत्ति के विरुद्ध एक अन्तराग्रही स्थितिकी अवधारणा, और इस मे पश्चिमी रोमाटिकवाद की प्रेरणा का बहुत महत्त्व था। आजकल पश्चिम की देन को अस्वीकार करने का चलन है, इसलिए लोग इस ऋण को स्वीकार करना नही चाहते, पर किसी भी सतर्क अध्येता के लिए इस की अनदेखी करना असम्भव है। यह दूसरी बात है कि हमारे सब कवियो ने वह प्रभाव सीधे पश्चिम से न लिया हो—बँगला की मार्फ़त लिया हो या बँगला के अनुवाद की मार्फ़त। जैसे कोई बायरन का ऋणी न हो, माईकेल मधुसूदन दत्त का हो, या मधुसूदन का भी न हो कर 'मेघनाद-वध' के हिन्दी अनुवाद का हो। इस काव्य पर रोमाटिक प्रभाव इतना स्पष्ट है कि कट्टर से कट्टर मताग्रही भी इस से इनकार नही कर सकता।

छायावादी : छायावाद के आविर्भाव पर पश्चिमी रोमाटिक काव्य का प्रभाव माना भी जा सकता है—पन्त जी ने 'पल्लव' की भूमिका मे जो विचार प्रकट किये है उन से इस के समर्थन मे कई दलीलें भी मिल सकती है शायद, पर इस सब से नयी कविता का क्या सम्बन्ध है ?

अध्येता · यों तो अधिक नही। पर जिस तरह छायावाद एक नये 'मूड' का प्रतिबिम्ब था उसी प्रकार नयी कविता भी नये 'मूड' का प्रतिबिम्ब है। और यह नया परिवर्तन उस पहले परिवर्तन से गहरा और

अधिक व्यापक है ।

प्रोफेसर छायावादी परिवर्तन का मूल सूत्र आपने बताया वर्णनात्मक-नैतिक प्रवृत्ति के विरुद्ध गीतिमूलक विद्रोह । क्या इस परिवर्तन का भी ऐसा मूल सूत्र बना सकते हैं ?

अध्येता प्रयत्न कर सकता हूं । वैसे वह भी एक अति सरलीकृत सूत्र है—यहां भी शायद वह दोष आ जाए । पर सूत्र में वह तो होगा ही है—अति संक्षेप में या तो गूढ़ता आ जाती है, या फिर कुछ अति सरलता । लेकिन उस के बाद मैं अपनी बात की कुछ व्याख्या भी कर दूंगा ।

छायावादी तो यह व्याख्या का रोग आप को भी लगा ! (हंसी)

अध्येता महाजनो यन गत —लेकिन मेरे महाजन राष्ट्रकवि ही हैं । मैं तो गद्य की गद्य व्याख्या करने जा रहा हूँ—वह भी कृति की नहीं, व्याख्या की व्याख्या !

प्रोफेसर खैर, कहिए तो ।

अध्येता मैं कहूंगा कि नयी कविता की मूल विशेषता है मानव और मानव-जाति का नया सम्बन्ध—और वह मानव जाति और सृष्टि मात्र के सम्बन्ध के परिपार्श्व में ।

छायावादी जरा फिर से कहिए ।

अध्येता (धीरे-धीरे) सृष्टि और मानव जाति के सम्बन्ध के परिपार्श्व में मानव-जाति और मानव का नया सम्बन्ध यही नयी कविता की मूल विशेषता है ।

प्रोफेसर (अनाश्वस्त स्वर से) यह तो हुआ सूत्र । अब पहले व्याख्या भी सुन लें तो—

अध्येता व्याख्या ही जब है, तब थोड़ा घुमाव फिराव अनिवार्य है । आपने छायावाद में एक बात लक्ष्य की थी—की है ?

छायावादी : क्या ?

अध्येता कि छायावादी सभी आस्तिक थे ।

छायावादी तो ?

प्रोफेसर और नया कवि नास्तिक है ?

अध्येता नहीं । 'तो' कुछ नहीं । इतना ही कि नयी कविता के बारे में यह नहीं कह सकते । वह नास्तिक ही है, ऐसा भी नहीं कह सकते । उसमें आस्तिक ध्वनि भी मिलेगी, नास्तिक ध्वनि भी । पर उसमें किसी भी ध्वनि का कोई महत्त्व नहीं है ।

प्रोफेसर : (सुर से) 'यह भी नहीं, वह भी नहीं' । न स्वीकार, न अस्वीकार ।

यह भी कोई स्थिति है ?

अध्येता क्यों ? आप के दोनों आक्षेपों में ही उन का उत्तर है—दोनों से क्या कोई प्रतिध्वनि नहीं होती—एक की कविता के क्षेत्र से, एक की राजनीति के क्षेत्र से ? (हँसता है) पर यह भी बात अप्रासंगिक है। नयी कविता में उल्लेख्य बात यह है कि आस्तिकता-नास्तिकता का प्रश्न उसमें कम-से-कम अप्रासंगिक तो हो ही गया है। मैं जब कहता हूँ कि उस में नये मानव-सम्बन्धों का दावा है, तो यह न समझा जाये कि यह अनिवार्यतः मानव और स्रष्टा के सम्बन्धों का खण्डन है, या कि मानव के मानवत्व का आग्रह ईश्वर के ईश्वरत्व का खण्डन या उस से इनकार है। इतना ही कि वह प्रश्न की बात नहीं रही, उस से कवि को काव्य के क्षेत्र में सरोकार नहीं है। बाहर दूसरी बात है। वहाँ इनकार भी है और आग्रह है, और स्वीकृति भी है ही, चाहे उतने आग्रह के साथ न हो।

छायावादी तो नतीजा क्या निकला ?

अध्येता मानव के मानवत्व के आग्रह के दो पहलू हैं। एक में मानव 'व्यक्ति' पर आग्रह है। मानव की जैविक परम्परा का अध्ययन कर, व्यक्तित्व के विकास के आधार पहचान कर, मानव के मन को समझना उसके राग-विकार आदि को जानना और इस पृष्ठभूमि पर मानवी सम्बन्धों का वाहक बनना—यह एक पहलू है। दूसरे में मानव 'समष्टि' पर आग्रह है। वह सामाजिक संगठन और विकास का अध्ययन कर के सामूहिक आचार के आधार ढूँढता है और आर्थिक सम्बन्धों का वाहक और व्याख्याता बनना चाहता है।

प्रोफेसर . तो ये दो विरोधी प्रवृत्तियाँ हैं। इन्हें आप नाम भी देंगे ?

अध्येता (हँस कर) लीजिए—आपने तुरन्त लेबिल लगाने का आग्रह कर दिया। लेकिन अभी तो पढ़ाने का प्रश्न है नहीं, तो वर्ग-विभाजन की जल्दी क्या है ? वैसे आलोचक वर्ग ने—और मैं कहूँ कि या तो कुण्ठित प्रोफेसर आलोचक बनता है या कुण्ठित आलोचक प्रोफेसर—आलोचक-वर्ग ने लेबिल लगाना शुरू कर ही रखा है।

प्रोफेसर अब तक तो सुनता था कि खण्डित कवि ही आलोचक बनता है···

अध्येता : (हँस कर) न। खण्डित कवि तो साधारण पाठक बनता है—जैसे मैं !

प्रोफेसर : (व्यंग्य से) असल में साधारणत्व का दावा करने में बड़ी सुविधा है—जो चाहो कह लो, और उत्तरदायित्व से बच

भी जाओ।

अध्येता (अनाहत) बिलकुल ठीक पहचाना आपने। उत्तरदायित्व सिर आ पड़े तभी लेना चाहिए—'आ बैल मुझे मार' वाली स्थिति मेरी नहीं है।

छायावादी (चोट का स्मरण दिलाता हुआ) अब इस विश्रम्भालाप के बाद—

अध्येता हाँ, हाँ। मैं कह रहा था कि दो पहलू हैं। मगर ये विरोधी प्रवृत्तियाँ नहीं हैं, पूरक प्रवृत्तियाँ हैं।

प्रोफेसर तो आप मानते हैं कि एक में विषयवस्तु पर आग्रह है, एक में रूप विधान पर?

अध्येता न। वह अति सरलीकरण है—बल्कि उस को भी अति मूर्तात्मकता के दोष को उस सीमा तक तो मैं भी नहीं ले जाता।

प्रोफेसर तो?

अध्येता पहली में भी विषय पर आग्रह है—सजीव विषय पर, विषय पर आग्रह के साथ वह सौन्दर्य के—एस्थेटिक के—प्रतिमानों को और रूप विधान को स्वीकार करती हुई चलती है। दूसरी का आग्रह विषय पर नहीं, विषय की स्थिति पर है—निर्जीव परिस्थिति पर, और वह सौन्दर्यशास्त्र की कोई परवाह नहीं करता। यहाँ तक कि कोई-कोई उसे एक उलझन या अड़ंगा मात्र समझते हैं। पर यह अतिवाद ही है, क्योंकि यह असम्भव नहीं है कि परिस्थिति पर आग्रह रूप-चेतना के साथ चले।

छायावादी : क्या यह अच्छा न हो कि आप कुछ उदाहरण भी दें—आप अध्येता हैं तो पढ़ा हुआ कुछ तो याद भी होगा?

अध्येता : हाँ, उदाहरण देना अच्छा तो होगा। इतना है कि उसमें खिल्लों को स्वीकृति दे कर चलना होगा। पर खैर—यहाँ तक बचे रह कर अब उनसे डर भी नहीं है—क्योंकि अब अधिक भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। जिन दो पहलुओं—पूरक प्रवृत्तियों की बात मैं ने की, उन में एक को प्राय 'प्रयोगवादी' या 'प्रयोगशील' कहा जाता है, दूसरी को 'प्रगतिवादी'। मेरी धारणा है कि दोनों प्रकार की उत्तम रचनाओं में रूप विधान का आग्रह समान होता है—या कह लीजिए कि निर्वाह समान होता है। यों अतिवादी ऐसे भी हैं जो या तो प्रयोग के नाम पर, या सिद्धान्त के नाम पर, कविता का कचूमर निकालते हैं। और प्रयोगवादी तो कचूमर निकाल कर

ही रह जाता है, प्रगतिवादी फिर उसे रौंदता भी है; क्योंकि अतिवादी प्रगतिवादी बंधे घोड़े की तरह मिट्टी खूंदते रहने को भी प्रगति मानता है—उस में अभ्यास बना रहता है !

प्रोफेसर आप फतवे ही देते जा रहे हैं। उदाहरण दीजिए।

अध्येता : ओह, क्षमा कीजिए। हाँ, उदाहरण। प्रयोग की अति का उदाहरण नहीं दूंगा। नयी कविता में कोई भी असफल कविता ले लीजिए, आप पायेंगे कि उस की असफलता का मूल यही है कि कवि ने प्रयोग को इष्ट मान लिया, जब कि काव्य केवल सफल प्रयोग का नाम है। कोई जितनी से जितनी गहरी डुबकी लगाता है, या डुबकी लगा कर मर भी जाता है, इस का मोती के पारखी के लिए कोई मूल्य नहीं है, मूल्य मोती का है। जो मोती लाये, उसी के मुंह से हम यह सुनने को तैयार हो सकते हैं कि वह बड़े परिश्रम से लाया है।

प्रोफेसर मगर इतना तो है कि डुबकियों के जोखिम के कारण मोती का मूल्य बढ़ता है।

अध्येता हाँ, और प्रयोग के जोखिम के कारण सफल कविता का भी; पर कविता का ही मूल्य बढ़ता है, प्रयोग का नहीं। तो प्रगतिवादी की अति का एक उदाहरण दूं श्री नागार्जुन की एक कविता है—'और मांजो', इसमें—

छायावादी . पहले कविता सुन लें।

अध्येता लीजिए

नहीं-नहीं, अभी नहीं
अभी तो सिरिफ़ श्रीगणेश है
अपने पदों को
बार-बार मांजो
मांजो और मांजो, मंजते जाओ
लय करो ठीक, फिर-फिर गुनगुनाओ
मत करो परवाह—क्या है कहना
कैसे कहोगे, इसी पर ध्यान रहे
चुस्त हो सेंटेंस, दुरुस्त हों कड़ियां
पर्के इतमीनान से गीत की लड़ियां
ऐसी जल्दी भी क्या है ?
तल कर, घोल कर, बघार कर कहो
वस्तु है भूसी, रूप है चमत्कार

ध्वनि और व्यंग्य पर मरता है संसार
वाच्य या आशय पर कौन देता ध्यान
तर्ज़ और तरन्नुम है शायरी की शान···

प्रोफेसर तो इस के बारे में आप क्या कहना चाहते थे ?

अध्येता नागार्जुन में प्रतिभा है। जिन कविताओं में उन्हों ने रूप-विधान को स्वीकार किया है, वे सुन्दर भी हैं, प्रभावशाली भी। इस से भी इनकार नहीं कि वे प्रगतिवादी हैं। पर यहां उन्होंने क्या किया है ? रूप-विधान को अस्वीकार तो किया ही है, उसे लताड़ना भी चाहा है। परिणाम ? स्वयं चारों खाने चित गिरे हैं।

छायावादी यह तथाकथित कविता तो मैंने पढ़ी थी। पर मुझे तो याद आता है कि जिस पत्रिका में पढ़ी थी, उसी में सम्पादक ने लेखकों को यह परामर्श दिया था कि उन्हें अपनी रचनाओं को बराबर मांजते रहना चाहिए जब तक कि

अध्येता (हँस कर) अच्छा—तब तो आप भी अच्छे पाठक हैं। असल में लोगों को यह ध्यान में रखना चाहिए कि अगर काव्य को या साहित्य को हथियार की तरह ही बरतना है, तो भी आखिर उस की शक्ति को ही बरतना है न ? और रोचकता, सुन्दरता उस की एक बड़ी शक्ति है। अगर सिद्धान्त के नाम पर उसे नितान्त अपठ्य और असुन्दर बना दिया गया, तो उस का उपयोग क्या हुआ, खाक ? तलवार को इतना भारी बना दो कि कोई उसे उठा ही न सके, तो वह किस काम की ? ऐसी कविता केवल काव्य-माध्यम को नष्ट करती है और पाठक की भावक-प्रणाली को नुकसान पहुंचाती है।

प्रोफेसर : लेकिन प्रयोगवादी कविता पर यह आरोप होता है कि उस में विचार-वस्तु नहीं होती।

अध्येता प्रयोगशील कविता में विचार-वस्तु हमेशा महत्त्वपूर्ण होती है, ऐसा नहीं कहा जा सकता—कभी वह बहुत हल्की भी होती है। पर उस का कलागत उद्देश्य कभी सन्दिग्ध या अस्पष्ट नहीं होता, घटिया कविता में भी नहीं। घटिया प्रगतिवादी कविता में तो कलागत उद्देश्य होता ही नहीं। निकृष्ट स्तर पर तुलना करें, तो यह अन्तर है। उच्च स्तर पर तो मैं कह चुका कि ऐसा विरोध नहीं है।

प्रोफेसर तो यह नयी कविता का आन्दोलन शुरू कब से हुआ ?

अध्येता आन्दोलन उसे न कहिए। यों नयी कविता का आरम्भ तो छाया-

वाद के युग मे ही हो गया था। उसके बीज तो 'प्रसाद' की भी मुक्त वृत्तात्मक कविता मे मिल जाएँगे। पन्त और 'निराला' मे जो चीज़ शुरू से थी, वही बाद की कविताओ मे उभर आयी। 'कुकरमुत्ता' या 'खजोहरा' या 'राजे ने दिवाली को' जैसी कविताएँ सहसा नही आरम्भ हो गयी—वे कुकरमुत्ते जैसी उपज नहीं थी बल्कि उन के मूल 'निराला' की कविता मे पहले से थे। मैं केवल मुक्त वृत्त की बात नहीं कहता—नयी कविता सब मुक्त वृत्त नहीं है। 'निराला' की परवर्ती भजन के ढंग की चीजो मे भी वह नयापन है। यों तो नयेपन के कई लक्षण होंगे जो कविताओं की पड़ताल से उभर आयेंगे, पर साधारण बोलचाल की भाषा, मुहावरे और पदविन्यास की ओर आना उसकी एक मुख्य प्रवृत्ति थी। साथ ही कविता के प्रति एक अवज्ञा-भाव भी : मानो कवि चाहता हो कि यह 'कविर्मनीषी स्वयम्भू' वाली बात ढकोसला है. वाक् कोई दैवी शक्ति नही है, कविता यानी छन्द निरा माध्यम ही तो है। 'निराला' की 'गर्म पकौड़ी' आपने पढ़ी है ?

गर्म पकौड़ी
ऐ गर्म पकौड़ी
तेल की भुनी
नमक-मिर्च मिली
ऐ गर्म पकौड़ी
मेरी जीभ जल गयी
सिसकियाँ निकल रहीं
लार की बूँदें कितनी टपकीं
पर दाढ़ तले तुझे दबा ही रक्खा मैंने
कंजूस ने ज्यों कौड़ी।
पहले तूने मुझको खींचा
दिल ले कर फिर कपड़े-सा फींचा
अरी, तेरे लिए छोड़ी
बम्हन की पकायी
मैंने घी की कचौड़ी।

इस कविता मे वस्तु ही मे नयापन हो, ऐसा नही है। वस्तु को जो रूप दिया गया है उस मे, और उस के प्रति स्वयं कवि के रवैये मे, एक नयापन है। 'निराला' जी का अपना व्यक्तित्व चाहे आतंककारी रहा हो, उन्होंने कविता का आतंक मिटा दिया।

"कविता होआ थोड़े ही है ? यह देखो !" कह कर 'राम की शक्ति-पूजा' के लेखक ने 'गर्म पकौड़ी' सामने फैला दी। भाषा को साधारण बोलचाल की गद्य के निकट लाने का जो कार्य उन्होंने आरम्भ किया, उसी को भवानीप्रसाद मिश्र ने दुहराया—"जिस तरह हम बोलते हैं उस तरह तू लिख !" और उस की पराकाष्ठा रघुवीर सहाय में देखिए—उन की कुछ कविताओं में तो पद-विन्यास में रत्ती-भर भी अन्तर नहीं है, जहाँ भाव-संकुल हो वहाँ भी नहीं।

शक्ति दो, बल दो, हे पिता
जब दुख के भार से मन थकने आय
पैरों में कुली की-सी लुपकती चाल छटपटाय
इतना सौजन्य दो, कि दूसरों के बक्स-बिस्तर
　　　　घर तक पहुँचा आएँ
कोट की पीठ मैली न हो, ऐसी दो व्यथा
　　　　शक्ति दो।
और यह नहीं दो, तो यही कहो, यही कहो
अपने पुत्रों मेरे छोटे भाइयों के लिए यही कहो
कैसे तुमने अपनी पीड़ा में किया होगा क्या उपाय
कैसे सहा होगा, पिता, कैसे तुम बचे होगे ?
तुम से मिला है जो विक्षत जीवन का दाय
　　　　उसे क्या करें ?
तुम ने जो दी है अनाहत जिजीविषा
उसे क्या करें ? कहो—अपने पुत्रों मेरे छोटे
　　　　भाइयों के लिए यही कहो।

प्रोफेसर . लेकिन भाई साहब, किसी ऐतिहासिक क्रम से तो चलिए ? 'निराला' से रघुवीर सहाय—कोई बात हुई भला ? और बीच में नरेन्द्र शर्मा से ले कर—अ—जहाँ तक भी हो वहाँ तक—बाकी सब कवि क्या हुए ? हाँ, केदार और गिरिजाकुमार माथुर और भवानी-प्रसाद मिश्र और वह—क्या नाम है उनका ?

अध्येता : धर्मवीर भारती ?

प्रोफेसर : न-न, ज़रा रहस्यमय-सा नाम है।

छायावादी : कौन—'अश्व' जी ?

प्रोफेसर : उहुँक्—हाँ, 'अज्ञेय' !

अध्येता : ओह, 'अज्ञेय'। उन्हें तो मैं कवि नहीं मानता यद्यपि कुछ कविताएँ

उन्होंने लिखी है और उन्हें पढ़ना भी बुरा नही मालूम होता।

छायावादी : यह क्या बात ?

अध्येता : वह असल मे तरह-तरह की कविता कर देते है—इतनी कि सन्देह होने लगता है, क्या वह सचमुच उस सब को सीरियसली लेते है, या कि लोगो को बना या चिढ़ा रहे हैं।

प्रोफेसर : कोई अचम्भा नही। वह जब-तब नया शगूफा खिलाते रहते है और प्रोफसरो को खास तौर से चिढ़ाते हैं।

अध्येता . मैं नेपथ्य से कहता हूँ—इस मे तो मुझे उन से हमदर्दी है !

प्रोफेसर : लेकिन हम बहक रहे हैं।

अध्येता ' हाँ, हवा ही बहकी है। आपने 'अज्ञेय' की एक हाल की रचना पढ़ी है, 'बहकी हवाओं' पर ?

"यह चुकी बहकी हवाएँ चैत की
कट गयी पूलें हमारे खेत की
कोठरी में लो जला कर दीप की
गिन रहा होगा महाजन सेंत की !"

यह अब रामविलास शर्मा ने लिखी होती तो प्रगतिशील गिनी जाती पर 'अज्ञेय' की है इस लिए प्रयोगशील कहलायेगी। यों इस मे विशेषताएँ दोनों की हैं, यानी यह नयी कविता का नमूना हो सकता है। अति-सक्षेप उस का एक गुण है, इस की दो-दो लाइनों मे दो चित्र है, दोनो मे प्रत्यक्ष कोई सम्बन्ध नही है, पर इसी से गहरा सम्बन्ध और नाटकीय प्रभाव के साथ सामने आता है और इस मे महाजनी शोषण का विरोध भी बिना तद्वत् शब्दाभिव्यक्ति के आ गया है—यही 'प्रगति' और 'प्रयोग' नामधारी प्रवाहो मे अन्तर होता है। जैसे शमशेर बहादुरसिंह कहते है, "बात बोलेगी, हम नही," पर यही कहने के लिए बोलते है, जनता को बुलवाते है .

बात बोलेगी
हम नही
भेद खोलेगी
बात ही।

सत्य का मुख
झूठ की आँखें
क्या - देखें !

सत्य का रथ
        समय का रथ है :
अभय जनता को
        सत्य ही सुख है,
सत्य का सुख।

सत्य का
        क्या रंग ?
पूछो
        एक संग।
एक—जनता का
        दुःख : एक।
हवा में उड़ती पताकाएँ
        अनेक···

पर शमशेर भी दोनों प्रवृत्तियों के मेल और सन्तुलन के अच्छे उदाहरण हैं। कवियों में सब से अधिक 'कवि' शायद वही हैं—यद्यपि सब से सफल वह हैं, यह बहुत सन्दिग्ध है।

छायावादी — इस का अर्थ नहीं समझा। अधिक कवि के अर्थ क्या हैं ?

अध्येता — उन में मौलिकता है। तीव्र और गहरी संवेदना है। भाव-संवेदना के साथ स्वर संवेदना भी है। और व्यापक और साहसपूर्ण प्रयोग-शीलता है—यानी माध्यम की सब शक्तियों से वह प्रयोग करते हैं, इस या उस एक से नहीं। जैसे गिरिजाकुमार माथुर ने छन्द ही के प्रयोग किये हैं—बड़े सफल प्रयोग।

प्रोफेसर — उदाहरण ?

अध्येता — जैसे सवैये की गति में लिखी गयी कविता—'केसर रंग रँगे वन'।

आज हैं केसर रंग रँगे वन
रंजित शाम भी फागुन की खिली पीली कली सी
केसर के वसनों में छिपा तन
सोने की छाँह-सा
बोलती आँखों में
पहले वसंत के फूल का रंग है।
गोरे कपोलों पे हौले से आ जाती
पहले ही पहले के
रंगीन चुम्बन की सी ललाई।

आज हैं केसर रंग रँगे—
गृह, द्वार, नगर, वन
जिन के विभिन्न रंगों में है रँग गयी—
पूनों की चन्दन चांदनी।

अध्येता : नयी कविता के बहुत से प्रयोग छन्द के ही हैं, इसी से कई लोग नयी कविता का मतलब केवल छन्द की अनर्गलता ही समझ लेते हैं। पर यह नयी कविता के और उस के अनूठे रस के साथ अन्याय है।

प्रोफेसर : रस ? आप रस की बात कहते हैं ? नयी कविता और रस !

अध्येता जी हां, रस। और ऐसा मिश्र-रस कि आप विश्लेषण करते और तालिकाएँ बनाते रह जायें। भवानीप्रसाद मिश्र की कविता 'गीत-फरोश' आपने पढ़ी या सुनी है ?

छायावादी : प्रोफेसर साहब तो पढ़ते-सुनते''

अध्येता : अरे, मैं भूल गया ! आप ने न पढ़ी होगी। सुनिए—

जी हां, हुजूर, मैं गीत बेचता हूँ।
मैं तरह-तरह के
गीत बेचता हूँ,
सभी किसिम के गीत
बेचता हूँ।
जी माल देखिए, दाम बताऊँगा,
बेकाम नहीं है, काम बताऊँगा,
कुछ गीत लिखे हैं मस्ती में मैंने
कुछ गीत लिखे हैं पस्ती मे मैंने,
यह गीत, सख्त सरदर्द भुलायेगा,
यह गीत पिया को पास बुलायेगा।
जी, पहले कुछ दिन शर्म लगी मुझ को
पर पीछे-पीछे अक्ल जगी मुझ को,
जी, लोगों ने तो बेच दिये ईमान।
जी, आप न हों सुन कर ज्यादा हैरान।
मैं सोच-समझ कर आखिर
अपने गीत बेचता हूँ,
जी हां, हुजूर, मैं गीत बेचता हूँ।
जी, बहुत देर लग गया, हटाता हूँ,
गाहक की मर्जी, अच्छा जाता हूँ।
मैं बिलकुल अन्तिम और दिखाता हूँ···

या भीतर जा कर पूछ आइये आप—
है गीत बेचना बिलकुल पाप,
क्या करूँ मगर लाचार हार कर
गीत बेचता हूँ।
जी हाँ, हुजूर, मैं गीत बेचता हूँ।

प्रोफेसर — मिश्रजी का मिश्र रस ! खूब ! खूब !

अध्येता — अच्छा, यह बताइये, इस की सब से बड़ी विशेषता आप को क्या लगी ?

प्रोफेसर — (रुकते हुए) विशेषता ? इस का विषय—नहीं, विषय को प्रस्तुत करने की अदा।

अध्येता — मैं इसी बात को कुछ दूसरे ढंग से कहूँ ? नाटकीयता तो खैर इस में है, पर असल विशेषता यह है कि इस की गम्भीर बातों को हल्के ढंग से कहा गया है। नयी कविता में यह भी है, और इस से ठीक उल्टा भी है, बहुत हल्की बात को गम्भीरता से कहना—या कम-से-कम चमत्कारपूर्वक कहना—या कह लीजिए कि छोटी-छोटी बात में से चमत्कार खोज लेना। बल्कि उस का एक सिद्धान्त यह हो सकता है कि छोटी बात कोई है ही नहीं, उसे देखने में ही सारा चमत्कार निहित है। इस के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं—जैसे नरेन्द्र शर्मा की 'ट्वीड का कोट'। और भी कई उदाहरण हो सकते हैं—प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, रघुवीर सहाय आदि से।

छायावादी — और क्या विशेषता आप बतायेंगे ?

अध्येता — यों तो कई हैं। पर एक दो और बता दूँ। एक विशिष्टता है लोक-गीतों या लोक-प्रचलित धुनों की ओर झुकाव—यह उस की बड़ी महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है। कारण चाहे राजनीति का जनवाद हो, चाहे अधिक आसान या गहरी प्रतिक्रिया उत्पन्न करने वाले रूपाकारों की खोज। जहाँ ये प्रयोग सफल हुए हैं, वहाँ बड़ी ही प्यारी चीजें लिखी गयी हैं—और ऐसे प्रयोग किये हैं बहुत से कवियों ने। केदार और नागार्जुन जैसे शुद्ध जनवादियों ने, गिरिजाकुमार-जैसे नवीन खोजियों ने, नरेशकुमार सरीखे छन्द-पन्थियों ने और 'अज्ञेय' जैसे सन्धारियों ने। इन के साथ ही समवेत गायन की सम्भावनाओं की भी पड़ताल हुई है, खासकर जनवादी कवियों ने ऐसी चीजें लिखी हैं जो गायी जा सकती हैं—कभी समवेत, कभी ग्रीक कोरस के स्ट्रोफी और एंटीस्ट्रोफी के ढंग पर—कविता

वह हो या न हो। केदार की 'जनयुग' में इस का उपयोगी उदाहरण है।

ये जो दीवारें घेरे हैं
दह जायेंगी
ये जो सीमाएँ रोके हैं
मिट जायेंगी
ये जो आत्माएँ बन्दी हैं
खुल जायेंगी
धरती की उन्मुक्त दिशाएँ
मुसकायेंगी...

प्रोफेसर : तो इस सब से परिणाम यह निकला कि नयी कविता मे पुरानी का कुछ है ही नही, सब नया ही नया है। फिर भी नये कवि कहते यही आते हैं कि परम्परा मे ··

अध्येता वाह, यह परिणाम आपने कैसे निकाला ? नये के पुरानेपन का एक उदाहरण आप को दूँ ? चाहे आप की तसल्ली के लिए ? नरेशकुमार मेहता ने उपस् को ले कर कई कविताएँ लिखी है। जैसे—

उदयाचल से किरन-धेनुएँ,
हाँक ला रहा वह प्रभात का ग्वाला !
पूँछ उठाये, चली आ रही
क्षितिज जंगलों से टोली,
दिखा रहे पथ, इस भूमी का
सारस सुना-सुना बोली

गिरता जाता फेन मुखों से
नभ में बादल बन तिरता,
किरन-धेनुओं का समूह
यह आधा अन्धकार चरता,
नभ की आम्र छाँह में बैठा, बजा रहा वंशी रखवाला !

उपस् वैदिक देवता है। इन कविताओ का मुहावरा वैदिक ढाँचे में ढला है, और उपमाएं भी वही से ली गयी हैं। इस प्रकार इस मे नया कुछ नही है; फिर भी उसमे ताजगी है—जैसी कमरे का फर्नीचर नयी तरतीब मे लगा देने पर आती है। इस तरह के कई प्रयोग नयी कविता मे हुए हैं, और उन की ताज़गी प्रशंसनीय है।

प्रोफेसर — आप की पर्यवेक्षण शक्ति तेज है। या कि इसे आप की सूझ कहूँ ?

अध्येता — (सविनोद) सब आप की शिक्षा है, वरना मैं अकिंचन ··

छायावादी — लेकिन यह बताइये, नरेशकुमार तो प्रगतिवादी हैं न ?

अध्येता — आप का बिल्लों का मोह नहीं छूटा ? वह क्या हैं, यह मैं निश्चय-पूर्वक नहीं जानता। वह सगृहीत हैं प्रयोगशील कविता के सग्रह में—पर दावा शायद उन का उन से भिन्न, या अधिक हो।

छायावादी — मगर इस में प्रगतिवाद कहाँ आया ?

अध्येता — मैं तो यही कह कर सन्तोष कर लूंगा कि नहीं आया—या कि इस क्षेत्र में उस के आने का प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि अगर उठता तो मानना पड़ता कि पुराने मुहावरे या रूपक को पुनः सजीवित करना या करना चाहना केवल पुनरुत्थानवाद है, जो प्रगतिवादी तर्कना से प्रतिक्रिया का रूप है। मुहावरे के क्षेत्र में प्रगतिशील या नया मुहावरा यन्त्र-युग का मुहावरा होगा, धेनु-सभ्यता का मुहावरा नहीं। किसी बिगड़ैल के सहसा भभक पड़ने पर जिस व्यक्ति ने कहा था, 'अरे, यह करंट मारता है !' उसने आधुनिक और प्रगतिशील मुहावरे का प्रयोग किया था।

प्रोफेसर — पहले की 'बालू में से तेल निकालने' की बात स्पष्टतया कोल्हू-युग का मुहावरा है, अगर मैं कहूँ कि आप मिट्टी में से तेल निकाल रहे हैं तो यह प्रगतिशील प्रशंसा होगी न ? (हँसता है)

अध्येता — आप हँसे तो ! क्या मैं कहूँ कि यह इस बात का प्रमाण है कि नयी कविता में अभी दम है ?

छायावादी — नयी और कम नयी तो सापेक्ष हैं। प्रश्न यह है कि क्या कविता मात्र में अभी दम है ? या कि कविता मर गयी ?

अध्येता — अरे, यह तो धर्मवीर भारती की एक कविता की पंक्ति है। उसी कविता में आप के प्रश्न का उत्तर भी है !

> लाद कर ये आज किस का शव चले
> और उस छतनार बरगद के तले
> किस अभागिन का जनाजा है रुका
> बैठ इस के पाँयते गरदन झुका
>
> कौन कहता है कि कविता मर गयी ?
>
> भूख ने उस की जवानी तोड़ दी।
> थी बड़ी ही नेक यों कविता
> मगर धनहीन थी, कमजोर थी;

श्रौर बेचारी गरीबन मर गयी ।
मर गयी कविता ?
जवानी मर गयी
मर गया सूरज, सितारे मर गये
मर गये सौन्दर्य सारे मर गये
सृष्टि के ग्रारम्भ से चलती हुई
प्यार की हर साँस पर पलती हुई
आदमीयत की कहानी मर गयी ।
झूठ है यह
आदमी इतना नहीं कमजोर है
पलक के जल और माथे के पसीने से
सींचता आया सदा जो स्वर्ग की भी नींव
ये परिस्थितियाँ बना देंगी उसे निर्जीव
झूठ है ये
फिर उठेगा आदमी
और सूरज को मिलेगी रोशनी
सितारों को जगमगाहट मिलेगी
कफन में लिपटे हुए सौन्दर्य को
फिर किरन की नरम आहट मिलेगी
फिर उठेगा वह
और बिखरे हुए सारे स्वर समेट,
पोंछ उन से खून
फिर बुनेगा नयी कविता का वितान
नये मनु के नये युग का जगमगाता गान ।
भूख, लाचारी, गरीबी हो, मगर
आदमी के सृजन की ताकत
इन सबों की शक्ति के ऊपर;
और कविता सृजन की आवाज है
फिर उभर कर कहेगी कविता
"क्या हुआ दुनिया मरघट बनी
अभी मेरी आखिरी आवाज बाकी है
हो चुकी हैवानियत की इन्तेहा
आदमियत का अभी आगाज बाकी है
लो, तुम्हें मैं फिर नया विश्वास देती हूँ,

नया इतिहास देती हूं,
कौन कहता है कि कविता मर गयी ?"

अध्येता मैं तो नहीं कहता। आगे आप गुरुजन हैं। मैं आपको प्रणाम करता हूं।

प्रकृति-काव्य : काव्य-प्रकृति

प्रकृति की चर्चा करते समय सब से पहले परिभाषा का प्रश्न उठ खड़ा होता है। प्रकृति हम कहते किसे हैं ? वैज्ञानिक इस प्रश्न का उत्तर एक प्रकार से देते हैं, दार्शनिक दूसरे प्रकार से, धर्म-तत्त्व के चिन्तक एक तीसरे ही प्रकार से। और हम चाहें तो इतना और जोड़ दे सकते है कि साधारण व्यक्ति का उत्तर इन सभी से भिन्न प्रकार का होता है।

और जब हम 'एक प्रकार का उत्तर' कहते हैं, तब उसका अभिप्राय एक उत्तर नहीं है, क्योंकि एक ही प्रकार के अनेक उत्तर हो सकते हैं। इसी लिए वैज्ञानिक उत्तर भी अनेक होते हैं, दार्शनिक उत्तर तो अनेक होंगे ही, और धर्म पर आधारित उत्तरों की संख्या धर्मों की संख्या से कम क्यों होने लगी ?

प्रश्न को हम केवल साहित्य के प्रसंग में देखें तो कदाचित् इन अलग-अलग प्रकार के उत्तरों को एक सन्दर्भ दिया जा सकता है। साहित्यकार की दृष्टि ही इन विभिन्न दृष्टियों के परस्पर विरोधों से ऊपर उठ सकती है—उन सब को स्वीकार करती हुई भी सामंजस्य पा सकती है। किन्तु साहित्यिक दृष्टि की अपनी समस्याएँ है, क्योंकि एक तो साहित्य दर्शन, विज्ञान और धर्म के विश्वासों से परे नहीं होता, दूसरे सांस्कृतिक परिस्थितियों के विकास के साथ-साथ साहित्यिक संवेदना के रूप भी बदलते रहते हैं।

साधारण बोल-चाल में 'प्रकृति' 'मानव' का प्रतिपक्ष है, अर्थात् मानवेतर ही प्रकृति है—वह सम्पूर्ण परिवेश जिस में मानव रहता है, जीता है, भोगता है और संस्कार ग्रहण करता है। और भी स्थूल दृष्टि से देखने पर प्रकृति मानवेतर का वह अंश हो जाती है जोकि इन्द्रियगोचर है—जिसे हम देख, सुन और छू सकते हैं, जिस की गन्ध पा सकते हैं और जिस का आस्वादन कर सकते हैं। साहित्य की दृष्टि कहीं भी इस स्थूल परिभाषा का खण्डन नहीं करती, किन्तु साथ ही कभी अपने को इसी तक सीमित भी नहीं रखती। अथवा यों कहें कि अपनी स्वस्थ अवस्था में साहित्य का प्रकृति-बोध मानवेतर, इन्द्रियगोचर, बाह्य परिवेश तक जा कर ही नहीं रुक जाता, क्योंकि साहित्यिक आन्दोलनों की अधोगति में विकृति की ऐसी अवस्थाएँ आती रही हैं जब उस ने बाह्य सौन्दर्य के तत्त्वों के परिगणन को ही दृष्टि की इति मान लिया है। यह साहित्य की अन्त:शक्ति का ही प्रमाण

है कि ऐसी रुग्ण अवस्था से वह फिर अपने को मुक्त कर ले सका है, और न केवल आभ्यन्तर की ओर उन्मुख हुआ है बल्कि नयी और व्यापकतर संवेदना पा कर उस आभ्यन्तर के साथ नया राग-सम्बन्ध भी जोड़ सका है।

राग-सम्बन्ध अनिवार्यतया साहित्य का क्षेत्र है। किन्तु राग-सम्बन्ध उतने ही अनिवार्य रूप से साहित्यकार की दार्शनिक पीठिका पर निर्भर करते हैं। यदि हम मानते हैं—जैसा कि बुद्ध दर्शन मानते रहे—कि प्रकृति सद् है, मूलतः कल्याणमय है, तब उस के साथ हमारा राग-सम्बन्ध एक प्रकार का होगा—अथवा हम चाहेंगे कि एक प्रकार का हो। यदि हम मानते हैं कि प्रकृति मूलतः असद् है, तो स्पष्ट ही हमारी राग-वृत्ति की दिशा दूसरी होगी। यदि हम मानते हैं कि प्रकृति त्रिगुण-मय है किन्तु अविवेकी है, तो हमारी प्रवृत्ति और होगी और यदि हमारी धारणा है कि प्रकृति सदसद् से पर है तो हम उसके साथ दूसरे ही प्रकार का राग-सम्बन्ध चाहेंगे—अथवा कदाचित् यही चाहेंगे कि जहाँ तक प्रकृति का सम्बन्ध है हम वीतराग हो जायें। विभिन्न युगों के साहित्यकारों के प्रकृति के प्रतिभाव की पड़ताल करने से हम उन भावों में और साहित्यकार के प्रकृति-दर्शन में स्पष्ट सम्बन्ध देख सकेंगे।

कवियों के प्रकृति-वर्णन अथवा निरूपण की चर्चा में उन के आधारभूत दार्शनिक विचारों अथवा धर्म-विश्वासों तक जाना यहाँ कदाचित् अनपेक्षित होगा। उतने विस्तार के लिए यहाँ स्थान भी नहीं है। किन्तु कवि के संवेदन पर उन की दार्शनिक अथवा धार्मिक आस्था के प्रभाव की अनिवार्यता को स्वीकार कर के हम प्रकृति-वर्णन की परम्परा का अध्ययन कर सकते हैं। वैदिक कवि—मन्त्रद्रष्टा को कवि कहना उस की अवहेलना नहीं है—प्रकृति की सत्ता का सम्मान करता था और मानता था कि उसकी अनुकूलता ही सुख और समृद्धि का आधार है। सुखी और सम्पूर्ण जीवन का जो चित्र उस के सम्मुख था उस में मनुष्य की और प्रकृति की शक्तियों की परस्पर अनुकूलता आवश्यक थी। प्राकृतिक शक्तियों को वह देवता मानता था, किन्तु देवता होने से ही वे अनुकूल हो जायेंगी ऐसा उसका विश्वास नहीं था—उन की अनुकूलता के लिए वह प्रार्थी था। कहा जा सकता है कि उस की दृष्टि में शक्तियाँ सद्-असद् से परे हो थीं किन्तु उन्हें अनुकूल बनाया जा सकता था।

> यथा द्यौश्च पृथ्वी च न बिभीतो न रिष्यत
> एवा मे प्राण मा बिभेः।
> यथाऽहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यत
> एवा मे प्राण मा बिभेः॥

यह प्रार्थना करने वाला व्यक्ति जहाँ यह कामना करता था कि प्रकृति की शक्तियों के प्रति उस के प्राण भय-रहित हों, वहाँ वह यह भी मानता था कि वे

शक्तियाँ भी राग-द्वेष से परे है। इतना ही नही, मध्य युग की पाप-पुण्य की भावना भी उस मे नही थी—हो भी नही सकती थी जब तक कि वह प्रकृति को पापमूलक न मान लेता—और उस के निकट दिन और रात, प्रकाश और अन्धकार, सत्य और असत्य, सभी एक-से निर्भय थे। वह अपनी प्रार्थना मे यह भी कहता था कि—

यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यत ।
एवा मे प्राण मा बिभे ॥

यह कहने का साहस मध्यकाल के कवि को नही हो सकता था—पाप की परिकल्पना कर लेने के बाद यह सम्भावना ही सामने नही आती कि अनृत भी सत्य के समान ही निर्भय हो सकता है।

वैदिक कवि क्योकि प्रकृति को न सद् मानता है न असद्, इस लिए प्रकृति के प्रति उसका भाव न प्रेम का है, न विरोध का। वह मूलत एक विस्मय का भाव है।

हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे

यह उसके भव्य विस्मय की ही उक्ति है। और यदि वह आगे पूछता है—

कस्मै देवाय हविषा विधेम ?

तो यह किंकर्तव्यता भी आतक का नही, शुद्ध विस्मय का ही प्रतिबिम्ब है। उषा-सूक्त मे उषा के रूप का वर्णन, पृथ्वी-सूक्त मे पृथ्वी से पृथ्वी-पुत्र मनुष्य के सम्बन्ध का निरूपण, इन्द्र और मरुत् के प्रति उक्तियाँ—काव्य की दृष्टि से ये सभी वैदिक मानव के विस्मय-भाव को ही प्रतिबिम्बित करती है—उस शिशुवत् विस्मय को जिस मे भय का लेश भी नही है। ऋग्वेद का मण्डूक-सूक्त इस विस्मयाह्लाद का उत्तम उदाहरण है।

वाल्मीकि की रामायण मे प्रकृति का काव्य-रूप बहुत कुछ बदल गया है। वाल्मीकि के राम यद्यपि तुलसीदास के मर्यादा पुरुषोत्तम से भिन्न कोटि के नायक हैं, तथापि मर्यादा का भाव वाल्मीकि मे अत्यन्त पुष्ट है। बल्कि यह भी कहना अनुचित न होगा कि जिस घटना से आदि-काव्य का उद्‌भव माना जाता है वह घटना ही एक मर्यादा अंकित करती है। वास्तव मे क्रौंच-वध वाली घटना मे जो लोग शुद्ध कारुण्य देखते है वे थोडी-सी भूल करते है। आदि-कवि ने क्षुब्ध होकर निषाद को जो शाप दिया था, उसके मूल मे शुद्ध जीव-दया की अपेक्षा मर्यादा-भग के विरोध का ही भाव अधिक था। पक्षी-मात्र को मारने का विरोध वाल्मीकि ने नही किया। परिस्थिति विशेष मे पक्षी के वध को अधर्म मानकर ही उन्हो ने व्याध की शाश्वत अप्रतिष्ठा की कामना की। उस परिस्थिति मे कोई भी प्राणी अवध्य है, यही विश्वास महाभारत मे भी पाया जाता है जो मृगया के वृत्तान्तो से भरा हुआ है। पाण्डु की मृत्यु जिस दारुण परिस्थिति मे हुई उस का कारण भी मृगया नही थी—मृगया तो राज-धर्म का अग था—किन्तु परिस्थिति-विशेष मे मृग पर

बाण छोड़ने का अधर्म अथवा मर्यादा-भंग ही राजा के प्राणान्त का कारण हुआ। यह भी उल्लेख्य है कि क्रौंच की कथा में क्रौंच-युगल को शापग्रस्त मुनि-युगल सिद्ध करना आवश्यक नहीं समझा गया : वाल्मीकि की करुणा पक्षी को पक्षी मान कर ही दी गयी। किन्तु महाभारत में राजा के प्राण मृग के प्राण से कदाचित् अधिक मूल्यवान समझे गये, इसलिए अपराध और दण्ड में सामंजस्य लाने के लिए मृग-युगल को मुनि-युगल सिद्ध करना पड़ा। जो हो, यहाँ भी जीव-दया का आत्यन्तिक आदर्श नहीं है, बल्कि जीव वध की मर्यादा का ही निर्देश है।

किन्तु जीव-दया के आदर्श के विकास का अध्ययन हमारा विषय नहीं है। हम प्रकृति के प्रति वाल्मीकि के राग-भाव को, और वैदिक कवि के भाव से उसके अन्तर की चर्चा कर रहे थे। काव्य-युग में यह अन्तर और भी स्पष्ट हो जाता है—दूसरे शब्दों में मानवीय दृष्टि के विकास की एक और सीढ़ी परिलक्षित होने लगती है। शास्त्रीय शब्दावली में यदि कहा जाये कि प्रकृति काव्य का आलम्बन न रह कर क्रमशः उद्दीपन होती जाती है, तो यह कथन असंगत तो न होगा, किन्तु बात इतनी ही नहीं है। एक तो प्रकृति-वर्णन का उद्दीपन के लिए उपयोग वाल्मीकि ने भी किया—किष्किन्धा-काण्ड का शरद्-वर्णन यद्यपि प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से सच्चा और खरा है तथापि उसके वहाँ होने का मुख्य काव्यगत कारण राम के पत्नी-विरह को उद्दीपित रूप में हमारे सम्मुख लाना है। यही कारण है कि वह वर्णन जो बिम्ब हमारे सामने प्रस्तुत करता है वे सभी शृंगार-भाव से अनुप्राणित हैं। दूसरे, काव्य-युग के महारथियों ने प्रकृति को केवल उद्दीपन रूप में देखा हो, ऐसा भी नहीं है। बल्कि कालिदास का प्रकृति-पर्यवेक्षण और अध्ययन तथा उन का प्रकृति-प्रेम भारतीय काव्य परम्परा में अद्वितीय है।

वास्तव में अन्तर को ठीक-ठीक समझने के लिए जो प्रश्न पूछना होगा वह यह नहीं है कि प्रकृति के उपयोग में क्या अन्तर आ गया। प्रश्न यह पूछना चाहिए कि जिस प्रकृति की ओर कवि आकृष्ट था वह प्रकृति कैसी थी ?

कालिदास का प्रकृति-प्रेम वाल्मीकि से कम हार्दिक नहीं है। न उन का काव्य आलम्बन के रूप में प्रकृति को आदि-कवि की रचनाओं से कम महत्त्व देता है। फिर भी उस में वाल्मीकि की-सी सहजता नहीं है। न वैदिक कवि का विस्मय-भाव ही है। कालिदास की प्रकृति अपेक्षया अकृत्रिम है। कवि जितना प्रकृति से परिचित है उतना ही प्रकृति-सम्बन्धी अनेक कवि-समयों से भी—अर्थात् वह अपने काव्य की परम्परा से भी परिचित है और उस परिचय की अवज्ञा नहीं करता है। कवि-समय को सत्य वह नहीं मानता, क्योंकि उस का अनुभव उन्हें मिथ्या सिद्ध करता है, किन्तु फिर भी उन समयों का वह व्यवहार करता है क्योंकि काव्य-सौन्दर्य के लिए परम्परा से काम लेने का यह भी एक साधन है। 'ऋतुसंहार' के ऋतु-वर्णन अथवा 'कुमारसम्भव' के हिमालय-वर्णन में परम्परागत कवि-समयों का कवि के

निजी अनुभव के साथ ऐसा अभिन्न योग हुआ है कि इन तत्त्वों का विश्लेषण सौन्दर्य को नष्ट किये बिना हो ही नहीं सकता।

आवश्यक परिवर्तन के साथ यही बात भवभूति के प्रकृति-वर्णन के विषय में भी कही जा सकती है।

वास्तव में काव्य-युग का कवि जो प्रकृति को केवल आलम्बन के रूप में अपने सम्मुख नहीं रख सका, और न ही उसे निरे उद्दीपन के रूप में एक उपकरण का स्थान दे सका, उस का कारण यही था कि प्रकृति से उस का सम्बन्ध भिन्न प्रकार का हो गया था। व्यवस्थित और निरापद जीवन में उस के लिए यह आवश्यक नहीं रहा था कि प्रकृति की शक्तियों को वैसे आत्यन्तिक और मानवीकृत अथवा देवतावत् रूपों में देखे जैसे रूप वैदिक कवि के उद्दिष्ट रहे। दूसरी ओर प्रकृति से उस का सम्बन्ध वैसा उच्छिन्न भी नहीं हो गया था जैसा रीतिकालीन कवियों का, जिन के निकट प्रकृति केवल एक अभिप्राय रह गयी थी, और प्रकृति का चित्रण केवल प्रकृति-सम्बन्धी कवि-समयों की एक न्यूनाधिक चमत्कारी सूची। काव्य-युग के संस्कृत कवि के लिए प्रकृति शोभन, रम्य और स्फूर्तिप्रद थी। प्राकृतिक शक्ति के रूप में उसे मानव का प्रतिपक्ष माना जा सकता था, किन्तु अपने इस नये रूप में वह मानव की सहचरी हो गयी थी।

निःसन्देह संस्कृत काव्य-परम्परा की समवर्तिनी एक दूसरी काव्य-परम्परा भी रही, जिस की खोज में हमें प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य की ओर देखना होगा। संस्कृत और प्राकृत काव्य बराबर एक-दूसरे को प्रभावित करते रहे, और कवि-समयों अथवा अभिप्रायों का आदान-प्रदान उनमें होता रहा। किन्तु विस्तार में बचने के लिए उन की चर्चा यहाँ छोड़ दी जा सकती है। ऐसा इसलिए भी अनुचित न होगा कि इसी प्रकार का सम्बन्ध हम अनन्तर खड़ी बोली हिन्दी की कविता में तथा उस की पृष्ठभूमि और उस के परिपार्श्व में फैले हुए लोक-काव्य में भी देख सकते हैं। इनमें भी आदान-प्रदान निरन्तर होता रहा, किन्तु इस क्रिया की बढ़ी हुई गति आधुनिक युग की एक विशेषता मानी जा सकती है। क्यों यह आदान-प्रदान इस काल में अतिरिक्त तीव्रता के साथ होने लगा, इस प्रश्न का उत्तर भी हमें आधुनिक संवेदना के रूप-परिवर्तन में मिलेगा। मानव और प्रकृति दोनों की नयी अवधारणा ने स्वभावतया उन के परस्पर सम्बन्ध को बदल दिया और इस लिए प्रकृति के वर्णन अथवा चित्रण को अनुप्राणित करने वाले राग-तत्त्व भी बदल गये।

किन्तु बीच की सीढ़ी की उपेक्षा कर जाना भ्रान्ति का कारण हो सकता है।

प्रकृति-काव्य के विवेचन में वास्तव में समूचे रीति-युग को छोड़ ही देना चाहिए, क्योंकि रीतिकालीन कवियों में से कुछ ने यद्यपि प्रकृति के सूक्ष्म पर्यवेक्षण का प्रमाण दिया है, तथापि उन के निकट प्रकृति काव्य-चमत्कार के लिए उपयोज्य

एक साधन-मात्र है। प्रकृति के मानवीकरण की बात तो दूर, रीतिकाल के कवि उस की स्वतन्त्र इयत्ता के प्रति भी उदासीन हैं—उन के निकट वह केवल एक अभिप्राय है—अलङ्कृति में काम आ सकता है। यह प्रकृति से राग-सम्बन्ध की जर्जरता का ही परिणाम था कि रीतिकालीन कवि प्राकृतिक तत्त्वों की सूची प्रस्तुत कर देना ही उद्दीपन के लिए पर्याप्त समझने लगा। यदि उस का राग-सम्बन्ध कुछ भी प्राणवान् होता, तो वह समझता कि प्रकृति-सम्बन्धी शब्दावली का ऐसा कोशवत् उपयोग उद्दीपन का भी काम नहीं कर सकता क्योंकि जिस शब्द में राग का अभाव स्पष्ट लक्षित होता है वह दूसरे में राग-भाव नहीं जगा सकता, अपने अभाव को चाह कितने ही कौशल से छिपाया गया हो। प्रकृति के बाहर आकारों की सूची बनाने की यह प्रवृत्ति रीतिकाल तक ही सीमित नहीं रही बल्कि आधुनिक काल तक चली आयी। बीसवीं शती में भी जो महाकाव्य लिखे गये वे अधिकतर प्रकृति-वर्णन की इसी लीक को पकड़े रहे और पिंगल-ग्रन्थों ने भी अभ्यासियों के लिए विभावों की सूचियाँ प्रस्तुत कीं।

वास्तव में इस जीर्ण परम्परा से विमुख होकर प्रकृति का काव्य में नये प्राण देने की प्रवृत्ति हिन्दी में पश्चिमी साहित्य के, अथवा उस से प्रभावित बंगला साहित्य के सम्पर्क से आयी। इस कथन का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि खड़ी बोली का प्रकृति-वर्णन अनुकृति है, क्योंकि अनुकृति का विरोध ही तो इस की प्रेरणा रही। अभिप्राय यह भी नहीं है कि हिन्दी कवि अपने पूर्वजों की अनुकृति छोड़ कर विदेशी कवियों की अनुकृति करने लगे, क्योंकि हिन्दी की नयी प्रवृत्ति प्राचीनतर भारतीय परम्पराओं से कटी हुई कदापि नहीं थी। बल्कि उदाहरण दे कर दिखाया जा सकता है कि कैसे छायावाद के और परवर्ती प्रमुख कवियों ने पूरे ज्ञान चेतन भाव से संस्कृत काव्यों से और वैदिक साहित्य से न केवल प्रेरणा पायी वरन् उपमाएँ और बिम्ब ज्यों-के-त्यों ग्रहण किये।

पश्चिमी साहित्य से प्रेरणा पाने का आशय यह भी नहीं है कि यदि पश्चिम से सम्पर्क न हुआ होता तो हिन्दी साहित्य में प्रकृति की नयी चेतना न जागी होती। वास्तव में किसी भी प्रवृत्ति के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह किसी विशेष साहित्य में कभी नहीं प्रकट होगी। जो साहित्य जीवित है—अर्थात् जिस साहित्य को रचने वाला समाज जीवित है—उस में समय-समय पर जीर्णता का विरोध करने वाली नयी प्रवृत्तियाँ प्रकट होती ही हैं। दूसरे साहित्यों से प्रभाव ग्रहण करने की भी एक क्षमता और तत्परता होनी चाहिए जो हर साहित्य में हर समय वर्तमान नहीं होती बल्कि विकास अथवा परिपक्वता की विशेष अवस्था में ही आती है। इस लिए किसी प्रभाव से जो रचनात्मक प्रेरणा मिली है उसे अनुकृति कहना या हेय मानना अनुचित है और यह बहुधा ऐसी समालोचना करने वाले के आत्मविश्वास अथवा हीन भाव का ही द्योतक होता है। किन्तु कोरा अनुकरण से

ही सीखना है, किन्तु कवि-समुदाय में रख देने से ही बालक कविता नहीं करने लगता। जब वह कविता रचता है तो वह इतने भर में अनुकृति नहीं हो जाती कि वह कवियों के सम्पर्क में रहा और उन से प्रभाव ग्रहण करता रहा। उस की ग्रहण-शीलता और उस पर आधारित रचना-प्रवृत्ति स्वयं उस के विकास और उस की शक्ति के द्योतक हैं।

पश्चिमी काव्य के परिचय में भारतीय कवि एक बार फिर प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता की ओर आकृष्ट हुआ। कहा जा सकता है कि इसी परिचय के आधार पर वह स्वयं अपनी परम्परा को नयी दृष्टि से देखने लगा और उस के सार तत्त्वों को नया सम्मान देने लगा। निःसन्देह अनुकरण भी हुआ, किन्तु जो केवल मात्र अनुकरण था वह कालान्तर में उसी गौण पद पर आ गया जो उस के योग्य था। उषा-सुन्दरी का मानवी रूप छायावादियों का आविष्कार नहीं था, और उस की परम्परा ऋग्वेद तक तो मिलती ही है। किन्तु जब कवि ने छाया को भी मानवी आकृति दे कर पूछा

> कौन, कौन तुम, परिहत-वसना
> म्लानमना, भू-पतिता-सी ?

तब उस के अवचेतन में वैदिक परम्परा उतनी नहीं रही होगी जितना अंग्रेज़ी रोमांटिक काव्य जिस में प्राकृतिक शक्तियों का मानवीकरण साधारण बात थी।

किन्तु नयापन केवल इतना नहीं था—पुरानेपन का नया सवार-भर नहीं था। मानवीकरण केवल विषयाश्रित नहीं था। बल्कि प्रकृति के मानवीकरण का विषयिगत रूप और भी अधिक महत्त्वपूर्ण था।

मानवीकरण का यह पक्ष वास्तव में वैयक्तिकीकरण का पक्ष था। यही तत्त्व था जिसने प्रकृति-वर्णन को प्राकृतिक अभिप्रायों के वर्णन से अलग करके काव्यो-चित दृष्टि का रूप दे दिया। यद्यपि नये जागरण ने हिन्दी कविता का सम्बन्ध रीतिकाल के अन्तराल के पार अपभ्रंशों, प्राकृतों और संस्कृत काव्य की परम्परा से जोड़ा था, तथापि इस के आधार पर जो दृश्य-चित्र सामने आये वे नये हो कर भी इस अर्थ में एकरूप थे कि विभिन्न कवियों के द्वारा प्रस्तुत किये गये होने पर भी वे मूलतः समान थे—ऐसा नहीं था कि उस विशेष कवि के व्यक्तित्व से उन्हें अलग किया ही न जा सके। दार्शनिक पृष्ठिका के विचार से कहा जा सकता है कि सुमित्रानन्दन पन्त ने प्रकृति की कल्पना प्रेयसी के रूप में की और 'निराला' ने सवाहिका शक्ति के रूप में, और दोनों कवियों के प्रकृति-चित्रण में समानता और अन्तर दोनों ही पहचाने जा सकते हैं। किन्तु जिस व्यक्तिगत अन्तर की बात हम कह रहे हैं वह इस से गहरा था। निःसन्देह काव्यगत चित्रों पर कवि के व्यक्तित्व के इस आरोप का अध्ययन पश्चिमी साहित्य के सन्दर्भ में किया जा सकता है और

दिखाया जा सकता है कि उसमें भी अंग्रेजी रोमांटिक काव्य के व्यक्तिवाद का कितना प्रभाव था। और यदि व्यक्तिवाद के विकृत प्रभावों को ही ध्यान में रखा जाय तो यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि पश्चिमी प्रभाव यहाँ भी विकृतियों का आधार बना, जैसा कि वह पश्चिम में भी बना था। किन्तु किसी प्रभाव का केवल उसकी विकृतियों के आधार पर मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। और रोमांटिक व्यक्तिवाद का स्वस्थ प्रभाव यह था कि उसने प्रकृति के चित्रों को एक नयी रागात्मक प्रामाणिकता दी। जो तथ्य था और सबका 'जाना हुआ' था उसे उस ने एक व्यक्ति का 'पहचाना हुआ' बनाकर उसे सत्य में परिणत कर दिया। जहाँ पर व्यक्तिगत दर्शन केवल असाधारणत्व की खोज हुआ—और यह प्रवृत्ति पश्चिम में भी लक्षित हुई जैसी कि हिन्दी के कुछ नये कवियों में—वहाँ उत्तम काव्य का निर्माण नहीं हुआ। जैसा कि रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है—

केवल असाधारण दर्शन की रुचि सच्ची सहृदयता की पहचान नहीं है। किन्तु जहाँ व्यक्तिगत दर्शन ने उस पर सगी अनुभूति की छाप लगा दी वहाँ उस के देखे हुए बिम्ब और दृश्य अधिक प्राणवान् और जीवन स्पन्दित हो उठे। यह भी रामचन्द्र शुक्ल का ही कथन है कि—

वस्तुओं के रूप और आस-पास की वस्तुओं का ब्यौरा जितना ही स्पष्ट या स्फुट होगा उतना ही पूर्ण बिम्ब ग्रहण होगा और उतना ही अच्छा दृश्य चित्रण कहा जायेगा।

और यह व्यक्तिगत दर्शन या निजी अनुभूति की तीव्रता ही है जो वस्तुओं के रूप को 'स्पष्ट' या 'स्फुट' करती है। प्रकृति के जो चित्र रीतिकाल के कवि प्रस्तुत करते थे, वे भी यथातथ्य होते थे। उस काव्य की समवर्तिनी चित्रकला में शिकार इत्यादि के जो दृश्य आते थे वे भी उतने ही रीति-सम्मत और यथातथ्य होते थे। किन्तु व्यक्तिगत अनुभूति का स्पन्दन उनमें नहीं होता था और इसी लिए उन का प्रभाव वैसा मर्मस्पर्शी नहीं होता था। बाँसों के झुरमुट पहले भी देखे गये थे, किन्तु सुमित्रानन्दन पन्त ने जब लिखा—

बाँसों का झुरमुट—
संध्या का झुटपुट—
हैं चहक रहीं चिड़ियाँ,
टी-वी-टी टुट्-टुट्।

तब यह एक झुरमुट बाँसों के और सब झुरमुटों में विशिष्ट हो गया, क्योंकि व्यक्तिगत दर्शन और अनुभूति के खरेपन ने उसे एक घनीभूत अद्वितीयता दे दी। इस प्रकार के उदाहरण 'निराला' और पन्त की कविताओं से अनेक दिये जा सकते हैं। परवर्ती काव्य में भी वे प्रचुरता से मिलेंगे, भले ही उन के साथ-साथ निरे असाधारणत्व के मोह के भी अनेक उदाहरण मिल जायें। जब हम दृश्य-चित्रण

की परम्परा का अध्ययन इस दृष्टि से करते हैं तब यह स्पष्ट हो जाता है कि छायावाद ने प्रकृति को एक नया सन्दर्भ और अर्थ दिया, जो उसे न केवल उस से तत्काल पहले के खड़ी बोली के युग से अलग करता है बल्कि खड़ी बोली के उत्थान से पहले के सभी युगों से भी अलग करता है। सुमित्रानन्दन पन्त और सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' इस नये पथ के श्लाका-पुरुष हैं, किन्तु इस के पूर्व-संकेत श्रीधर पाठक और रामचन्द्र शुक्ल के प्रकृति-काव्य में ही मिलने लगते हैं।

नयी कविता, जहां तक प्रकृति-चित्रों के अनुभूतिगत संवेदन की बात है, छायावाद से अलग दिशा में नहीं गयी है। असाधारण की खोज के उदाहरण उस में अधिक मिलेंगे, और तन्त्र का कच्चापन अथवा भाषा का अटपटापन भी कहीं अधिक। बल्कि भाषा के विषय में एक प्रकार की अराजकता भी लक्षित हो सकती है, जिस का विस्तार 'लोक-साहित्य की ओर उन्मुखता' या 'लोक के निकटतर पहुँचने के लिए बोलियों से शब्द ग्रहण करने की प्रवृत्ति' की ओट लेने पर भी छिप नहीं सकता। 'पल्लव' की भूमिका में पन्त ने जिस सूक्ष्म शब्द-चेतना का परिचय दिया था, भाषा के व्यवहार के प्रति वैसा जागरूक भाव नयी कविता के विरले कवियों में ही मिलेगा (छायावाद-युग में भी ऐसे कवि कम विरल नहीं थे, अराजकता ऐसी नहीं थी)। ये दोष उन नयी प्रवृत्तियों का ऋण-पक्ष है जोकि नये काव्य को अनेक समानताओं के बावजूद छायावाद के काव्य से पृथक् करती है।

किन्तु जहां तक प्रकृति-वर्णन और प्रकृति-चित्रण का प्रश्न है, नयी कविता की विशिष्ट प्रवृत्तियां सब ऋण-मूलक ही नहीं हैं, न उनका धन पक्ष छायावाद से सर्वथा एक-रूप। उसकी विशिष्टता को ठीक-ठीक पहचानने के लिए हमें फिर अपने तत्सम्बन्धी प्रश्न के सही निरूपण पर बल देना होगा। प्रकृति के उपयोग में क्या अन्तर आया, यह प्रश्न भी अप्रासंगिक नहीं है, पर मूल्यों को ठीक-ठीक समझने के लिए इस से गहरे जा कर फिर यही प्रश्न पूछना चाहिए कि जिस प्रकृति की ओर कवि आकृष्ट है वह प्रकृति कैसी है ?

स्पष्ट है कि आज का कवि जिस प्रकृति से परिचित होगा वह उससे भिन्न होगी जो आरण्यक कवियों की परिचित रही। यह नहीं कि वन-प्रदेश आज नहीं हैं, या झरने नहीं बहते, या मृगछौने चौकड़ी नहीं भरते, या ताल-सरोवरों में पक्षी किलोलें नहीं करते। पर आज के कस्बों और शहरों में रहने वाले कवि के लिए ये सब चित्र अपवाद-रूप ही हैं। केवल इन्हीं का चित्रण करने वाला लेखक एक प्रकार का पलायनवादी ही ठहरेगा—क्योंकि वह अपने अनुभूत के मुख्यांश की उपेक्षा में एक अप्रधान अंश को तूल दे रहा होगा। इतना ही नहीं, अनेक के लिए तो गाँव-देहात के दृश्य भी इन की अपेक्षा कुछ ही कम अपरिचित होंगे, और उन्हें 'अहा, ग्राम्य जीवन भी क्या है !' जैसे वर्णन न केवल काव्य की दृष्टि से घटिया लगेंगे बल्कि उन की अनुभूति भी चेष्टित और अयथार्थ लगेगी। भारत का

कृषि-प्रधानत्व अब भी मिटा नहीं है और इसलिए यह प्रायः असम्भव है कि किसी भारतीय कवि ने खेत देखे ही न हों, पर 'खेत देखे हुए' होने और 'देहाती प्रकृति का अनुभव रखने' में अन्तर वैसा नगण्य नहीं है।

अनुभव-सत्यता पर—व्यक्तिगत अनुभूति के खरेपन पर—जो आग्रह छायावाद ने आरम्भ किया था—काव्य के परम्परागत अभिप्रायों और ऐतिहासिक पौराणिक वृत्त को ही अपना विषय न मान कर, अनुभूति-प्रत्यक्ष और अन्तश्चेतन-संवेदित को सामने लाना छायावादी विद्रोह का एक रूप रहा—वह नयी कविता में भी वर्तमान है। पर कृतिकारत्व जब समाज के किसी विशिष्ट सुविधा-सम्पन्न अंग तक सीमित नहीं रहा है, तब यह सच्चाई का आग्रह ही कवि के क्षेत्र को मर्यादित भी करता है। जिस गिरि-वन निर्झर के सौन्दर्य को संस्कृत का कवि किसी भी प्रदेश में मूर्त कर सकता था, उसे यथार्थ में प्रतिष्ठित करने के लिए आज कवि पहले आप को मसूरी की सैर पर ले जाता है या नैनीताल की झील पर, या कश्मीर या दार्जिलिंग, जिस ग्राम सुषमा का वर्णन खड़ी बोली के कवि इस शती के आरम्भ में भी इतने सहज भाव से करते थे, उसे सामने लाने से पहले कवि अपने प्रदेश अथवा अंचल की सीमा-रेखा निर्धारित करने को बाध्य होता है—क्योंकि वह जानता है कि प्रत्येक अंचल का ग्राम-जीवन विशिष्ट है और एक का अनुभव दूसरे को परखने की कसौटी नहीं देता—और यही कारण है कि नयी कविता के प्रकृति-वर्णन में ऐसे दृश्यों का वर्णन अधिक होने लगा है जो किसी हद तक प्रादेशिकता से परे हो सकते हैं—जो प्रकृति-क्षेत्र की 'आत्यन्तिक' घटनाएँ हैं—सूर्योदय सूर्यास्त, बरसात की घटा, आँधी···इतना ही नहीं, उस में गोचर अनुभवों का विपर्यय भी अधिक होता है। यथा, 'दृश्य' को 'मूर्त' करने के लिए वह जो अनुभूति-'चित्र' हमारे सम्मुख लाता है उस का आधार दृष्टि (अथवा घ्राण) न हो कर स्पर्श हो जाता है—अर्थात् वह 'दृश्य' रहता ही नहीं। वसन्त के वर्णन में पूरा कोंपलों का 'स्पष्ट और स्फुट ब्यौरा' देने चलते ही एक प्रदेश अथवा क्षेत्र के साथ बँध जाना पड़ता, और यही बात गन्धों की चर्चा होती, पर वसन्त को यदि केवल धूप की स्निग्ध गरमाई के आधार पर ही अनुभूति-प्रत्यक्ष किया जा सके तो प्रादेशिक सीमा-रेखाएँ क्यों खींची जायें?

निस्सन्देह अति कर जाने पर यही प्रवृत्ति स्वयं अपनी शत्रु हो जा सकती है और अनुभूति-सत्यता तथा व्यापकता का द्विमुख आग्रह फिर ऐसी स्थिति ला सकता है जिस में कविता यन्त्रवत् कुशलता के साथ बने-बनाये अभिप्रायों का निरस्त, रक्त मांस हीन बिम्बों और प्रतीकों का सृजन हो जाये। प्रतीक ही नहीं, बिम्ब भी कितनी जल्दी प्रभावहीन, निष्प्राण अभिप्राय-भर हो जाते हैं, समकालीन साहित्य में नागफनी, कैक्टस और गुलमोहर की छीछालेदार इसका शिक्षाप्रद उदाहरण है। पर अभी तो खतरा अधिकतर सैद्धान्तिक है, और अभी नयी कविता

के सम्मुख अपने को अपनी प्रकृति के अनुरूप बनाने के प्रयत्न के लिए काफ़ी खुला क्षेत्र है। बल्कि अभी तो व्यापक प्रतीकों की इस खोज की ओर अल्प-संख्य कवि ही प्रवृत्त हुए हैं, और प्रामाणिकता का आग्रह आंचलिक, प्रादेशिक अथवा पारिवेशिक प्रवृत्तियों में ही प्रतिफलित हो रहा है।

नयी काव्य-प्रवृत्तियों को सामने रखकर एक अर्थ में कहा जा सकता है कि प्रकृति-काव्य अब वास्तव में है ही नहीं। एक विशिष्ट अर्थ में यह भी कहा जा सकता है कि छायावाद का प्रकृति-काव्य अपनी सीमाओं के बावजूद अन्तिम प्रकृति-काव्य था। यदि छायावादी काव्य मर गया है तो उसके साथ ही प्रकृति-काव्य की अन्त्येष्टि भी हो चुकी है। किन्तु ऊपर के निरूपण से यह स्पष्ट होना चाहिए कि ऐसा एक विशिष्ट अर्थ में ही कहा जा सकता है, और वह विशेषता नये प्रकृति-काव्य का शील-निरूपण करने में सहायक होती है।

छायावाद के लिए 'प्रकृति' मानवेतर यथार्थ का पर्याय नहीं थी, मानव के साथ मानव-निर्मिति को छोड़कर शेष जगत् भी उसकी प्रकृति नहीं था। बल्कि इस शेष में जो सुन्दर था, जो सौष्ठव-सम्पन्न था, जो 'रूप'-सम्पन्न था, वही उसका लक्ष्य था। शास्त्रीय ('क्लासिकल') दृष्टि में प्रकृति की हर क्रिया और गतिविधि एक व्यापक नियम अथवा ऋत की साखी है, छायावाद की दृष्टि ऋत को अमान्य नहीं करती थी पर उसका आग्रह रूप-सौष्ठव पर था। नयी कविता में रूप का आग्रह कम नहीं है, पर उसने सौष्ठव वाले पक्ष को छोड़ दिया है, तद्रूपता पर ही वह बल देती है। 'व्यवस्थित संसार' के स्थान में 'सुन्दर संसार' की प्रतिष्ठा हुई थी, अब उसके स्थान में 'तद्वत् संसार' ही सामने रखा जाता है। इतना ही नहीं, मानव-निर्मिति को भी उससे अलग नहीं किया जाता—क्योंकि ऐसी असम्पृक्त प्रकृति अब दीखती ही कहाँ है।

इस प्रकार प्रकृति-वर्णन का वृत्त कालिदास के समय से पूरा घूम गया है। कालिदास 'प्रकृति के चौखटे में मानवी भावनाओं का चित्रण' करते थे, आज का कवि 'समकालीन मानवीय संवेदना के चौखटे में प्रकृति' को बैठाता है। और, क्योंकि समकालीन मानवीय संवेदना बहुत दूर तक विज्ञान की आधुनिक प्रवृत्ति से मर्यादित हुई है, इस लिए यह भी कहा जा सकता है कि आज का कवि प्रकृति को विज्ञान की अधुनातन अवस्था के चौखटे में भी बैठाता है। ऋत का स्थान वैज्ञानिक शोध ने लिया है। किन्तु ऋत सनातन और आत्यन्तिक था, वैज्ञानिक शोध के दिङ्मान प्रतिदिन बदलते हैं···फलतः 'प्रकृति का सान्निध्य' नये कवि को पहले का-सा आश्वस्त भाव नहीं देता, उसकी आस्थाओं को पुष्ट नहीं करता—इस के लिए वह नये प्रतीकों की खोज करता है। पर प्रतीकों की रचना के—उन की अर्थवत्ता के विकास और ह्रास के—अन्वेषण का क्षेत्र, चेतन और अवचेतन के सम्बन्धों का क्षेत्र है, जो जोखिम-भरा भी है और केवल प्रकृति-काव्य के रूप-परिवर्तन के वर्णन के लिए अनिवार्य भी नहीं है, अतः उस में भटकना असामयिक होगा।

परिशिष्ट : १

हिन्दी साहित्य : चौपाई

दुनिया में कभी कभी ऐसा भी होता है कि एक आदमी का बड़प्पन दूसरे को छोटा बनाने का बायस हो जाता है। साहित्य में तो अक्सर यह बात देखने में आयी है कि एक कवि या लेखक के काम की महत्ता ने दूसरों के समूचे जीवन के परिश्रम पर पानी फेर दिया।

हिन्दी काव्य में तुलसीदास इस बात का अच्छा उदाहरण हैं। इन पूनो के चाँद ने आकाश में टिमटिमाने वाले सैंकड़ों सितारों को मेटकर अपनी अनोखी चाँदनी छिटका दी, जिस का नतीजा आज यह है कि जब हम चौपाई की बात सोचते हैं तो बरबस तुलसीदास का नाम याद आ जाता है। तुलसी की रामायण हिन्दी पढ़े-लिखों के लिए मानो उन की पोशाक है। पोशाक के भीतर उन की अपनी त्वचा तो है, पर पोशाक के बिना रहना शिष्टता से गिर जाना है। हिन्दी पढ़े-लिखों के लिए यह बड़ी शर्म की बात है कि वे तुलसी की रामायण न पढ़े हों। और दोहे चौपाई में लिखी हुई यह रामायण उन लोगों के जीवन का इतना बड़ा हिस्सा बन गयी है कि इन छन्दों का नाम लेने में सिवाय उस रामायण के और किसी पुस्तक की याद नहीं आती।

रामायण की चौपाई जैसी मजी हुई और समग्र रचना को पढ़कर अनुमान होता है कि तुलसीदास से पहले भी चौपाई छन्द चालू रहा होगा, पर लोग इस की जाँच करने की जरूरत कम ही समझते हैं, क्योंकि तुलसी की चौपाइयाँ ही उन्हें काव्य का पूरा रस दे देती हैं और उस के बाद और नयी चीज की माँग ही उन में नहीं रहती।

यह तो हुई आम पाठक की बात। पर जो पठित हैं, जिन का काम ही है हर एक चीज की जड़ तक पहुँचना, वे भी चौपाई के आरम्भ की खोज में बहुत दूर तक नहीं जाते। पं० रामचन्द्र शुक्ल तक जो हिन्दी के पहली कोटि के पारखी माने जाते हैं, यह कहना काफ़ी समझते हैं कि 'तुलसीदास ने अपनी रामायण मुसलमान कवियों की मसनवी शैली पर लिखी'। इस के सबूत में वह कहते हैं कि 'रामचरित-मानस' का वर्णन संस्कृत काव्य के ढंग पर नहीं है, उस में सर्ग या अध्याय नहीं है

और कहानी बराबर चलती रहती है जैसा कि मसनवी में होता है। छन्द के बारे में वह यहाँ कहते है कि मसनवी का नियम इतना ही है कि सारा काव्य एक ही मसनवी छन्द में हो, हालांकि काव्य मे कहानी के अलावा ईश्वर-स्तुति, पैगम्बर और राजा की प्रशसा आदि भी होनी चाहिए। तुलसीदास के पहले के मुसलमान काव्य मे—जायसी के 'पद्मावत' और नूर मुहम्मद की 'इन्द्रावती' आदि मे—ये सब बातें पायी जाती हैं, और इन्ही को तुलसीदास ने अपने आगे रखा।

और कोई छोटे पाये का लेखक होता—तुलसीदास से छोटा कोई कवि या भक्त होता, तब यह बात मानी जा सकती, पर तुलसीदास एक महान कवि और भक्त से बढ कर भी एक चीज थे—वह एक महान सुधारक और बुद्धिवादी भी थे। उन्हो ने अपने सामने 'पद्मावत' और 'इन्द्रावती' जैसी चीजो को नही रखा होगा, और अगर रखा होगा तो उन के असर से बचने के लिए ही, इस बात को समझने के लिए तुलसीदास के जमाने की ओर ध्यान देना होगा।

हिन्दुस्तान के लिए वह जमाना एक तरह से निराशा और अन्धकार का जमाना था। जो लोग इस देश के निवासी थे और इस मे राज करते रहे थे, उन की शान के दिन बीत चुके थे, पर उस शान की याद अभी इतनी ताजी थी कि उस से दिल मे टीस उठे। दूसरी ओर बाहर से जो ताकतवर हमला देश पर हुआ था, जिस के कारण एक नयी जाति ने राज-काज हाथ मे ले लिया था और शान का एक नया स्टैण्डर्ड कायम किया था, वह अभी इतना पुराना नही पडा था कि नयी जाति देश के लोगो से मिल कर एकजान हो जाय। देश के लोग अपनी हार के इतने आदी नहीं हुए थे कि इस नयी जाति की शान मे ही अपनी शान समझें और उसी की मार्फत जियें और बढें। इस लिए देश की ज्यादातर जनता के दिल मे गहरा दर्द था और उस दर्द का इलाज न दीखने के कारण दर्द मे बाहरी निराशा भी थी। उन के हौसले पस्त थे।

ऐसी हालत मे लोगो को दिलासे की सख्त जरूरत थी—किसी ऐसी चीज की, जो उन के दर्द को सहलाये और उन के टूटे अरमानो मे एक नयी आस और नये हौसले की ताकत फूंके। यह जानी हुई बात है कि ऐसी हालत में लोग सब से पहले धर्म या भक्ति के जरिये से ही दिलासा और शान्ति पाने की कोशिश करते हैं, और इसी लिए ऐसी गिरी हालत मे भक्ति भी ताकत और कर्म का मन्त्र देने के बजाय शान्ति और सन्तोष की ओर बढने लगती है। वह एक नशीली चीज होती हैं, जिस से लोग अपनी आत्मा मे एक खास तरह का ढीलापन, शिथिलता पैदा कर लेते हैं और उस की पिनक मे ऊंघते रहते है। एक तो इन्सान स्वभाव से ही सगुणपूजक और 'बुतपरस्त' होता है, फिर उस की पूजा और परस्तिश मे शृंगार बढने लगता है—भक्ति प्रेम बनती है और फिर प्रेम निरी विलासिता बन जाता है।

कुछ ऐसी ही हालत तुलसीदास के जमाने में भक्ति मार्ग के कवियों की हुई। बल्कि आगे यह शृंगारिक भक्ति विलास और शारीरिक भोग-लिप्सा से ऐसी उलझ गई कि मामूली आदमी के लिए कविता पढ़ना-सुनना मुश्किल हो गया। कविता दरबार की चीज होती थी, जहाँ शोहदे कवित्तबाज ऐयाश राजों के सामने अपनी सफाई दिखाकर रुपया ऐंठने का पेशा करने लगे।

ऐसी ही दिशा में भक्ति-काव्य बह रहा था जब तुलसीदास काव्य जगत् में प्रकट। इस धारा को और इस में पैदा होने वाले खतरे को उन्हों ने अच्छी तरह समझ लिया। और इसी का खंडन करने के लिए उन्हों ने एक नया आदर्श देश के आगे रखा। राम के भक्त और कवि तो वह थे ही, सुधारक का जोश भी उन में जागा, और उन में रामचन्द्र ने केवल वाममार्गियों के जवाब में खड़े हुए बल्कि उन तमाम वृत्तियों के जवाब में भी जो भारत के पुराने आदर्श से नीची थीं। तुलसी की रामभक्ति सिर्फ भक्ति नहीं थी, उस में लोक-धर्म का आदर्श भी था। उस में सनातन रीति और हमारी संस्कृति का अभिमान भी था। वह सुधार चाहते थे तो पुराने को मिटाकर नहीं, उस का उद्धार करके, ऊपर जमी हुई मैल की पपड़ी को उतार कर भीतर से शुद्ध पुराना कालन निकाल कर। वह क्रान्ति नहीं चाहते थे, वह संरक्षण चाहते थे।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए यह सोचना मुश्किल है कि उन्हों ने मुसलमान कवियों का अनुकरण किया होगा खास करके जब वह देखते थे कि मुसलमानों का सामाजिक दृष्टिकोण वैसा है जिसे हिन्दू चिरकाल से विलासिता और भोग-लिप्सा समझकर बुरा समझते आए थे।

इस का यह मतलब नहीं कि तुलसीदास का आदर्श साम्प्रदायिक था, या कि उन्हें मुसलमानों से कोई द्वेष था। हरगिज नहीं। उन की रचना में कहीं इस का निशान भी नहीं है। बल्कि कम-से-कम एक मुसलमान से उन की बड़ी गहरी दोस्ती थी, और उस का आदर भी वह इतना करते थे कि उन के कहने से उन्हों ने रामायण उस की पसन्द के छन्द में लिखी थी। हमारा इशारा खानखाना अब्दुर्रहीम की तरफ है, जिस के कहने पर तुलसीदास ने 'बरवै रामायण' रची।

असल बात यह है कि मुस्लिम संस्कृति का दृष्टिकोण सांसारिक है, हिन्दू संस्कृति का पारलौकिक, और तुलसीदास बिना बाहर की संस्कृति से द्वेष किये अपनी संस्कृति में नयी जान फूँकना चाहते थे, उसे संसारीपन से बचाना चाहते थे। जो लोग समझते हैं कि तुलसी ने जायसी और दूसरे मुसलमान कथाकारों की नकल की, वे ऐसा इसी लिए कहते हैं कि तुलसी से पहले के प्रसिद्ध चौपाई-ग्रन्थ इन्हीं के थे, पर यह भी तो नहीं भूलना चाहिए कि उन का इतना चलन इसी लिए हुआ कि वे संसारी चीजें थीं, उन का झुकाव संसारीपन की ओर था, उन के पात्र हम-जैसे आदमी थे, राम और कृष्ण-जैसे मानव शरीर वाले देवता नहीं। यह संसारी-

पन—ऐहिकतावाद—मुगलों की खास देन थी। तुलसीदास तो भक्ति को सांसारिकता से परे खींच ले जाना चाहते थे, तब यह कैसे हो सकता है कि उन्हों ने उस शैली को या ढग को अपनाया हो जो समारीपन के कारण ही लोगों को इतना रुचा था ?

पर यह सब तो कोरी वहम की बात है, इसे माना तो तभी जा सकता है जब जायसी से पहले भी ऐसी ही शैली की चीजें मिल सकें। खोज करने पर पता चलता है कि चौपाई छन्द जायसी से बहुत पहले भी चलता था, काफी मंज चुका था, भक्ति-काव्य में ही बरता जाता था और यहां तक कि मसनवी शैली की जो खास खूबी बतायी जाती है वह भी उस में थी। उस जमाने के भक्ति-काव्य में भी छह-सात अर्द्धालियों के बाद—या कह लीजिये कि तीन-साढ़े तीन चौपाइयों के बाद, क्योंकि चौपाई असल में चार पदों की होती है—एक दोहा आता था, जैसा कि 'पद्मावत' और 'इन्द्रावती' में है और जैसा कि मसनवी में भी होता है। यह प्राचीन भक्ति-काव्य अवश्य ही तुलसीदास का जाना हुआ भी रहा होगा।

बल्कि एक और खास बात पर यहां ध्यान देना चाहिए। यह पुराना भक्ति-काव्य 'सन्ध्या भाषा' में लिखा जाता था। सन्ध्या भाषा का अर्थ पहले यह लिया जाता था कि यह वैसी ही धुंधली भाषा थी जैसी सांझ की रोशनी होती है। पर पंडितों ने बताया है कि असली नाम 'सन्धाय भाषा' है—यानी किसी खास मकसद से लिखी गयी भाषा—एक दीक्षागम्य भाषा जिसे कि जानकार लोग ही समझें। केवल हिन्दी में नहीं, संसार में सभी जगह भक्ति की भाषा ऐसी ही दीक्षागम्य भाषा हो गयी है, जिसे उस संस्कार में दीक्षा पाये हुए लोग और मुरीद ही समझ सकें। तुलसीदास, जो खुद भक्त होने के अलावा भक्तों की लम्बी परम्परा के चेले भी थे, अवश्य ही इस भाषा और इस के काव्य को जानते रहे होंगे।

यह पुराना काव्य सहजपन्थी साधुओं का काव्य था। ये सहजपन्थी बौद्ध धर्म की एक शाखा से निकले हुए थे। इन के एक सिद्ध सरोजवज्र के दोहे-चौपाई का एक नमूना लीजिए—

देक्खहु-सुनहु परीसहु खाहु,
जिघ्घहु भमहु बयट्ठ उठाहू।
आलमाल व्यवहारे पेल्लइ—
मण च्छड्डु एक्कार म चल्लइ।
गुरु उवएसो अमिअरसु हवहि न पीअउ जेहि—
बहु सत्थत्थ मरुत्थलिहि तिसिए मरिथहु तेहि।

सहजपन्थियों के बाद जरूर 'पद्मावत' और 'इन्द्रावती' के कवि आते हैं, पर उन की और इन की भावना में गहरा भेद है। सहजपन्थी शून्यवादी थे। जायसी आदि प्रेमकथा कहने वाले। वैसे जायसी भी पहुंचे हुए साधु थे, निजामुद्दीन औलिया के

चेलों की परम्परा में मोहीउद्दीन के चेले थे। इन के अलावा गोरखपन्थी, सावनी, वेदान्ती आदि अनेक पन्थों के साधुओं का सत्संग कर के हठयोग वगैरह भी सीख चुके थे, और इस का सबूत 'पद्मावत' में जगह-जगह मिलता है। फिर भी प्रवृत्ति की दृष्टि से उन का काव्य पढ़ने में सहजपन्थी और बाद के 'रामचरितमानस' से बहुत भिन्न था।

जायसी से पहले भी कुछ प्रेमगाथाएं पद्मावत की शैली में लिखी गयी थीं। जायसी ने 'पद्मावत' में भी इस बात का जिक्र किया है—उन्ने 'मुग्धावती', 'प्रेमावती' आदि का नाम लिया है। सन १५२० में कुतुबन शेख ने 'मृगावती' काव्य लिखा जिस में चन्द्रनगर के राजकुमार और कंचननगर की राजकुमारी के प्रेम की कथा है।

जायसी के जन्म-कुल का कुछ पता नहीं है। जायस में रहने से उन का नाम जायसी पड़ गया। जनश्रुति है कि वे बचपन में काने हो गये थे और साधु-फकीरों के साथ रहते थे। उन्हों ने खुद भी कहा है—

एक नयन कवि मुहमद गुनी।

जायसी बड़े भक्त और सिद्ध माने जाते थे। वे थे भी बड़े उदार विचारों के, हालांकि 'पद्मावत' में उन्हों ने रीति निबाहते हुए मुहम्मद का गुण गया है—

तिनि मह पन्थ कहौं भल गाई,
जेहि दूनो जग छाज बड़ाई,
सो बड़ पन्थ मुहम्मद केरा,
है निरमल कैलास बसेरा।

मार्के की बात है कि उन्हों ने मुहम्मद को 'कैलास-वासी' बनाया, जैसा कि हिन्दू लोग बुजुर्गों के सम्मान में कहा करते हैं।

'पद्मावत' और रामायण के कवियों की 'स्पिरिट' में बहुत अन्तर था, यह हम पहले कह चुके हैं। 'पद्मावत' प्रेम की कहानी है, पूरे जीवन की कहानी नहीं। रामायण में प्रेम भी लोक-व्यवहार से अलग नहीं। लंका-दहन प्रेमी का प्रयास नहीं है फरहाद के पहाड़ काट गिराने की तरह नहीं है, वह वीर-धर्म साधक के कर्तव्य के रूप में ही दिखाया गया है। 'पद्मावत' का प्रेम भी मामूली प्रेम नहीं है, वह उस से कहीं बड़ा और आदर्शात्मक है, किन्तु यह भेद तो सिर्फ दर्जे का है, वस्तु का नहीं। रामायण का प्रेम तो चीज ही दूसरी है। 'पद्मावत' आदर्शात्मक हो कर भी है शृंगार काव्य, रामायण लोक-धर्म को सामने रख कर भी पूरे जीवन का काव्य है।

जायसी की चौपाई के कुछ नमूने लीजिए—

विरह-वर्णन करते हुए कवि कहता है

दहि कोइला भइ कन्त-सनेहा,
तोला-मासु रही नहिं देहा।

रकत न रहा बिरह तन जरा,
रती-रती होइ नैनन्ह ढरा।

मिलन की उत्कंठा का वर्णन—

रात्ति-दिवस बस यह जिउ मोरे,
लगों निहोर कन्त अब तोरे।
यह तन जारों छार कै कहों कि पवन उड़ाय,
मकु तेहि मारग उड़ि परें, कन्त धरें जहँ पाँय।

निष्काम प्रेम का वर्णन भी 'पद्मावत में मिलेगा'। मिसाल के तौर पर राजा युद्ध के बीच में कहता है—

ना हों सरग क चाहों राजू,
ना मोंहि नरक सेंति किछु काजू।
चाहों ओहिकर दरसन पावा,
जेइ मोहि आनि प्रेमपथ लावा!

जायसी के बाद उसमान की 'चित्रावली' और नूर मुहम्मद की 'इन्द्रावती' का नाम आता है। ये भी 'पद्मावत' की तरह प्रेम-कहानियाँ हैं। इन्द्रावती के रूप का वर्णन सुनिए—

है पद्मिनि इन्द्रावति प्यारी,
ताको बदन रूप फुलवारी।
कोमलताई सुन्दरताई,
सं रसना सो बरनि न जाई।
... ...
ना अति लांब न छोटी आही,
है तस जस इन्द्रावति चाही।

शेक्सपीयर ने भी एक जगह कहा है—

'ह्वाट स्टेचर इज शी आफ?
जस्ट ऐज हाइ ऐज माई हार्ट!'

इन्द्रावती के स्नान का वर्णन देखिए—

जब जूरा इन्द्रावति छोरा,
भयेउ घटा मों चाँद अंजोरा।
पैठिहु जब जल भीतर रानी,
पानिय पायेउ तारा पानी।
झूलनी झूलेहु करत नहानू,
लहकि चहेउ घुमड़ें मधरानू।

सूरज उगा प्रकास हो चन्द्र उगा जल माँह
कुमुद तामरस फूले दोउ मित्त के पांह।

तुलसीदास का जीवन-वृत्तान्त यहां कहने की जरूरत नहीं। वह हर हिन्दी-पाठक का जाना हुआ होना चाहिए। उन के काव्य की कुछ खूबियां भी हम बता चुके हैं। इस शान्त और गम्भीर सुधारक ने एक निर्मल आदर्श लोगों के आगे रखा। अपने आदर पात्र वीर राम का चरित्र उन्हों ने ऐसे ढंग से पेश किया कि जो सन्देश वह देश को देना चाहते थे वह बिना कहे लोगों पर प्रकट हो गया। इस के लिए खरी-खोटी सुनाने या शास्त्र और शास्त्रियों की निन्दा करने की जरूरत तुलसी को नहीं पड़ी, न बदले में मूर्ख कहलाना पड़ा। यहीं पर उनकी सुधारक वृत्ति कबीर से भिन्न थी। कबीर की सीख मानो आँधी की तरह पुराने सस्कारों को तहस नहस करती हुई चलती थी—समाज के जीवन में एक खलबर उठा देती थी। वह खरी दो-टूक बात कहते थे और परवाह नहीं करते थे कि किसे चोट पहुँचती है। इसी लिए विद्वानों ने उन्हें अपनाने की बजाय गालियाँ दीं और मूर्ख कह कर कोसा, उन की बातें भी आम जनता में नहीं मानी गईं। दूसरी ओर तुलसी ने यही दरसाया कि वह नया कुछ नहीं कहते, जो सनातन है उसी का पवित्र सन्देश उन के पास है। शुद्ध सनातन के नाम पर ही उन्हों ने नये विचार दिए, राम को शबरी के जूठे बेर खिलाये और वसिष्ठ को अछूत निषाद के गले मिलाया। लोगों के बिना जाने ही वह उन के दिलों में घर कर गए और उन्हें एक नये रास्ते पर डाल गए। जो ससार के फन्दे में फँसे थे, उन्हें धर्म की ओर खींचा, जो धर्म के चक्कर में जीवन से पल्ला छुड़ा बैठे थे, उन्हें लौकिक कर्तव्य की याद दिलाई; और इस सब उथल-पुथल के बाद भी नम्र बने रहे और अनपढ़ जनता, साधारण गृहस्थ और विद्वान् पंडितों से सम्मान पाते रहे। जैसा कि एक पारखी ने कहा है, 'तुलसीदास गृहस्थों के साधु और साधुओं के गृहस्थ थे।'

तुलसी के ग्रन्थ में से नमूने के लिए पद चुनना कठिन काम है। जगह-जगह उन के कथन का सबूत मिलता है—

अर्थ अमित अति आखर थोड़े।

जो नमूने पेश किए जा सकते हैं, वे इस लिए कि हिन्दी पढ़ने वाली आम जनता उन्हें जानती है। सखी से राम-लखन के रूप की प्रशंसा सुनकर सीता देखने चलती है—

देखन बाग कुँवर दोउ आये,
बय किशोर सब भांति सुहाये।
श्याम गौर किमि कहौं बखानी,
गिरा अनयन नयन बिनु बानी।

सुनि हरषीं सब सखी सयानी,
सिय हिय अति उत्कंठा जानी।
एक कहै नृप सुत ते आली,
सुनि जे मुनिसंग आये काली।
निज, निज रूप मोहनी डारी,
कीन्हे स्ववश नगर नर नारी।
बर्णत छवि जहँ तहँ सब लोगू,
अवशि देखिए देखन जोगू।
तासु वचन अति सियहि सुहाने,
दरश लागि लोचन अकुलाने।
चली अग्र कर प्रिय सखि सोई,
प्रीति पुरातन लखै न कोई।

उधर सीता के पायलों की आवाज़ सुन कर राम भी चंचल हो उठते हैं—

कंकण-किंकिणि नूपुर धुनि सुनि,
कहत लखन सन राम हृदय गुनि।
मानहु मदन दुन्दुभी दीन्हीं,
मनसा विश्व विजय कर कीन्हीं।
अस कहि फिर चितये तेहि ओरा,
सिय मुख शशि भये नैन चकोरा।
भये विलोचन चारु अचंचल,
मनहु सकुचि निमि तजेउ दृगंचल।

और कई प्रसंगों का मोह छोड़कर शबरी की कथा पर पहुँचे—

शबरी परी चरण लपटाई।
पाणि जोरि आगे भई ठाढ़ी,
प्रभुहि विलोकि प्रीति उर बाढ़ी।
केहि विधि अस्तुति करौं तुम्हारी,
अधम जाति मैं जड़मति भारी।
अधम ते अधम अधम अति नारी,
तिन महँ मैं मतिमन्द गँवारी।
कह रघुपति सुनु भामिनि बाता,
मानौ एक भक्ति कर नाता।
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई,
धन बल परिजन गुण चतुराई।

भक्तिहीन नर सोहत कैसे,
बिनु जल वारिद देखिय जैसे।

पंडितों में अक्सर जो बहस छिड़ जाती है कि तुलसीदास पहले भक्त थे पीछे कवि, या पहले कवि और पीछे भक्त, वह बिना कारण नहीं है। दोनों रूपों में तुलसी महान थे, और दोनों रूपों के प्रशंसक अपना-अपना पक्ष सिद्ध कर लेते हैं—'जाकी रही भावना जैसी'।

तुलसी के बाद फिर चौपाई के नाम से किसी खास ग्रन्थ या कवि का नाम सामने नहीं आता। वैसे चौपाई तो लिखी जाती रही होगी, बल्कि तुलसी ने उस का चलन बढ़ाया ही होगा, पर ऐसी मार्के की रचना कोई नहीं है जिसके बारे में कहा जा सके कि तुलसी की (या जायसी की) परम्परा का उस ने निर्वाह किया। यों कई-एक सन्तों की बानियाँ और साखियाँ तो हैं सिक्खों के कई एक ग्रन्थ और गुरु गोविन्दसिंह की बानी भी हैं, पर ये प्रबन्ध-काव्य के ढंग की चीजें तो नहीं हैं। इन्हें जायसी या तुलसी की परम्परा में न मानकर उन प्राचीन कवि-सन्तों की परम्परा में मानना ही ठीक होगा जो उपदेश के लिए चौपाइयाँ रचते थे।

सुखमनि से दो एक चौपाइयाँ देखें—

करन करावन हार स्वामी,
सगल घटा के अन्तरजामी।
अपनी गति-मिति जानहु आपे,
आपन संग आपि प्रभु राते।
तुमरी उसतुति तुमते होए,
नानक अवर न जानसि कोए।

असल चीज की बात के बीच नकली की चर्चा ठीक नहीं होती, नहीं तो यहाँ बाद की चौपाइयों के और कई उदाहरण दिये जा सकते। तुलसी-रामायण में जिन कई छोटे-मोटे कवियों ने बड़ी सफाई से अपनी चौपाइयाँ जोड़ कर बिठा दी, उन की चातुरी का कायल होना ही पड़ेगा। साधारण पाठक के लिए यह पहचानना बहुत कठिन हो जाता है कि कौन-सी चौपाइयाँ बाद के क्षेपककारों ने जोड़ी हैं। इस तरह अपने को छिपा लेना ही वह खूबी है जिस से ये लोग सामने आ जाते हैं 'कला को छिपाने की कला' के ये अच्छे नमूने हैं। पर इस क्षिप्त कला को रचना के नाम से पेश करना ठीक न होगा, उसे याद कर लेना ही काफी है।

परिशिष्ट—२

'केशव की कविताई'

(एक वार्तालाप)

(बलराज और त्रिपाठी)

बलराज : कहिए, त्रिपाठी जी, किस धुन मे है आप ?

त्रिपाठी : कुछ नही, भाई, यो ही केशव की बात सोचता चला जा रहा था।

बलराज : कौन केशव ? वही जो आई० सी० एस० मे···

त्रिपाठी : नही, भाई, नही ! मैं सोच रहा था महाकवि केशवदास की बात।

बलराज : अच्छा, वह केशवदास ! लेकिन त्रिपाठी जी, उस मनचले रंगीले को आप महाकवि कहते हैं ? इस की कविता तो बिलकुल वाहियात है !

त्रिपाठी : आप की तो राय पुराने कवियों के बारे मे हमेशा प्रेजुडिस्ड रही है।

बलराज : मेरी राय और प्रेजुडिस ? अच्छा, आप बताइए, आजकल के जमाने मे राह-चलती औरतो से कोई चुहल करता है, उन पर वार कसता है, तो आप उसे क्या कहते है ? आप कहते है कि शोहदा है—हाँ, आप शोहदे को सस्कृत मे 'लम्पट' कहना ज्यादा पसन्द करें तो दूसरी बात है। केशव की कविता भी वैसी ही है—उस ने राह-चलतो पर नही कही, दरबारो मे राजा के या रईस-उमरा के आगे कही तो इस से क्या कविता का स्वभाव बदल गया ? प्रेजुडिस आप मे है या मुझ मे ? बल्कि केशव ने दरबारो मे ही क्यों, राह-चलतो पर भी कही जरूर है।

त्रिपाठी : कब ? कोई मिसाल ?

बलराज : वह बालो वाली बात ही लीजिए—बुढापे मे भी केशव को यही

सुनता था कि किसी भली औरत ने आकर बाबा कहकर पैर छुए तो बोले—

> केशव केसनि अस करी, जस अरिहूँ न कराहि।
> चन्द्रबदनि मृगलोचनी बाबा कहि कहि जाहि॥

त्रिपाठी : भाई, सुनो! तुम इस का एक ही पक्ष क्यों देखते हो? यह नहीं देखते कि उन की उक्ति में चमत्कार कितना है, भाषा का भी और अर्थ का भी? हालांकि यह बात केशव की नयी नहीं है, उस से पहले भी संस्कृत के कोई कवि कह गये थे, पर फिर भी···

बलराज : यह और लीजिए। सड़ी-सी बात, वह भी पुरानी, फिर आप कहते हैं महाकवि! अच्छा, इस बात को जाने दीजिए, और कविता लीजिए। आप केशव पढ़ते ही हैं, तो आप को और भी कई कवित्त उन के याद होंगे—सोचिए तो भला उन्होंने कविता के विषय क्या चुने हैं। वेश्या की चितवन पर सवैया कहा है—'जो चितवै बहुवार-वधूटी'। फिर अभिसारिका के वर्णन में क्या नाज़ुक-ख़याली है—'चालि हैं क्यों चन्द्रमुखी कुचन के भार भये कचन के भार ही लचकि लंक जाति है'। और वह तो आप को याद होगा ही—

> तोरि तनी टकटोरि कपोलनि जोरि रहे कर त्यों न रहौंगी।
> पानि लवाई सुधाधर पान कै पाइ गहे तस हैं न गहौंगी॥
> केसव चूक सबै सहिहौं मुख चूम चलै यह तौ न सहौंगी।
> कै मुख चूमन दै फिरि मोहि कै आपनि धाय सों जाय कहौंगी॥

त्रिपाठी : (हँसकर) मैं तो केशव पढ़ता ही हूँ, आप ने याद भी कर रखा है। एक तो यही उन के कवित्व का प्रमाण है। दूसरे जिस नाज़ुक-ख़याली की निन्दा आप कर रहे हैं, वह कहां से आयी, यह भी आपने सोचा है?

बलराज : हां, मैं जानता ही था कि आप थोड़ी देर में उर्दू-फ़ारसी कविता की बात करेंगे। इस में शक नहीं कि उर्दू में ये सब बातें थीं और अब भी हैं, और उर्दू भी चमत्कार के पीछे बुरी तरह पड़ी रही है; पर जहां उर्दू पनी, वहां के जीवन से वह मेल तो खाती है?··· हिन्दी···

(आनन्द का प्रवेश)

आनन्द : ओहो, आज यह अनोखा मेल कैसा? ईस्ट इज़ ईस्ट एण्ड वेस्ट इज़ वेस्ट, पर आज दोनों मिल गये!

बलराज . तभी तो यह रस्साकशी हो रही है। केशव की कविता पर बहस है।

त्रिपाठी · बलराज केशव की निन्दा कर रहे हैं।

आनन्द · क्या बात है, भाई, मैं भी सुनूं?

बलराज · मैं कह रहा था कि केशव की कविता कुछ नहीं है, चमत्कार के लिए आकाश-पाताल के कुलावे मिलाये गए है।

त्रिपाठी . आप कह रहे थे कि उर्दू मे यह दोष इस लिए नहीं है कि वह अपने आस-पास के जीवन से मेल खाती है, जब कि हिन्दी'''

बलराज . हाँ।

आनन्द तो तुम्हारा मतलब यह कि जो अपने युग की उपज हो वह ठीक, जो नही, वह गलत?

बलराज . ऊँ'''हाँ!

आनन्द भाई, केशव तो मैंने बहुत नही पढ़ा, पर ऐसी साधारण बातों में मुझे मजा आता है। अच्छा, यह बताओ, केशव की कविता क्यों नही अपने जमाने की उपज थी? जरा उस के 'बैकग्राउंड' की तरफ ध्यान दो। राजनैतिक अदल-बदल के कारण वीर-काव्य का रुक जाना स्वाभाविक ही था, उस के बाद हारी हुई हिन्दू जनता के लिए भक्ति की ओर झुकना उतना ही स्वाभाविक था जितना कि आंख फूट जाने पर किसी का सहारे के लिए दीवार या लकड़ी टटोलना। था कि नही?

बलराज : हाँ।

आनन्द : इस तरह भक्ति-काव्य शुरू हुआ। साथ ही सामाजिक कारण भी खड़े हुए—ऊँच-नीच और जात-पांत के रीति रस्म पर लोगों का भरोसा कुछ कम होने लगा, वगैरह। इस तरह भक्ति-मार्ग की कई शाखाएँ हो गई—सब ने अपने-अपने आस-पास की जमी हुई रूढ़ियों को अपना लिया—जिस मे राम-भक्ति, कृष्ण-भक्ति, सूफ़ीमत वगैरह की अलग ढंग की कविता सामने आयी। ये सब जमाने की उपज थी, तुम मानते हो?

बलराज हाँ।

आनन्द : अच्छी बात है। यह भी तुम मानोगे कि भक्तिकाल में प्रेम का बयान भी कवि किसी देवता का आश्रय लेकर ही करेगा—यानी प्रेम की भावना का देवी-देवता पर आरोप करेगा—या उसे भक्त के प्रेम का ही रूप देकर दिखायेगा?

बलराज : मैं ठीक समझा नही।

आनन्द मैं अभी समझाता हूँ। आजकल व्यक्तिवाद का ज़माना है, आदमी अपनी बात कहता है तो कोई बुरा नहीं मानता क्योंकि वह हर किसी का हक समझा जाता है। इसी लिए आज के कवि अपने प्यार का रोना रोते हैं। भक्ति-काल में यह बात नहीं हो सकती थी, पर प्रेम की भावनाएँ तो सदा होती रही हैं, इस लिए उस ज़माने का कवि अपनी भावनाएँ देवी-देवताओं पर या कृष्ण और गोपियों पर रोप देता था। इसी लिए उस ज़माने में रासक्रीड़ा की और ऐसी बातों की इतनी चर्चा भक्ति की भी कविता में रही। केशव ने भी ऐसी कविता की, और बहुत अच्छी की। जैसे 'चंचल न हूजे नाथ अंचल न खैंचो हाथ' वाला जो कवित्त है, उस का भाव तो मानव का ही है, पर राधा-कृष्ण की आड़ में कहा गया है, जिस में शील भी निभ गया है जो आजकल की कविता में कभी-कभी नहीं भी निभता।

बलराज पर यह केशव की कोई प्रशंसा नहीं हुई, यह तो आजकल की कविता की बुराई हुई बस।

आनन्द यों ही समझ लीजिए। मैं तो यही कहता हूँ कि आप को कवि को उस के बैकग्राउंड के साथ देखना चाहिए, उस से तोड़कर नहीं। पर आप तो मॉडर्न हैं न, आप को माडर्न शास्त्र में सबूत चाहिए। अच्छी बात है, आप ने इलियट तो पढ़ा है न ?

बलराज ज़रूर।

आनन्द इलियट ने कहा है कि कवि को इम्पर्सनल (निर्वैयक्तिक) होना चाहिए, और इस मामले में हमारी आजकल की कविता क्या हिन्दी और क्या उर्दू—बहुत कच्ची है। है न ?

बलराज हूँ।

आनन्द यह निर्वैयक्तिक रूप पाने के दो तरीके हैं, एक तो वही है जो इलियट ने बताया है—कि परम्परा के ज्ञान से, ऐतिहासिक चेतना से, कवि अपने छोटे-से निज मन को एक बड़े सामूहिक मन में डुबा देना सीखे, कि उस की सारी संस्कृति, उस का ट्रैडिशन, उस की कविता में बोले। ठीक ?

बलराज हाँ, यह तो समझ में आता है।

आनन्द दूसरा तरीका यह है कि आदमी अपनी भावनाओं को परम्परा में माने हुए आदर्श पुरुषों की भावना में डुबा दे—ऐसे भी वह आत्म-निवेदन की बुराई से बच सकता है। वैसे देखें तो यह भी तरीका है पहला ही तरीका, क्योंकि परम्परा में माने हुए आदर्श पुरुष भी

तो ट्रेडिशन की उपज है, और अपनी भावनाएँ उन्हें सौंपने का मतलब है ट्रेडिशन को कविता में लाना, पर इस तरह वह कुछ आसान हो जाता है।

बलराज : भाई, बात तो तुम्हारी जी को लगती है। पर इस पर और सोचना जरूरी है।

आनन्द मानता हूँ। हम लोगों के आगे नित नये दृष्टिकोण आ तो जाते हैं, पर जब तक उन के नयेपन के साथ पुरानेपन का सम्बन्ध न जुड़ जाये, तब तक वे जम नहीं सकते। जब परम्परा जुड़ जाती है, तभी वे जमते हैं।

बलराज : इस पर तो और सोचूँगा। (विचारपूर्ण मुद्रा से) इलियट की बात सोचने लायक होती है।

आनन्द . (हँसकर) होती है न। पर केशव के बारे में और कुछ कहना जरूरी है। वैसे यह कहना चाहिए था त्रिपाठी जी को।

त्रिपाठी भाई, बात यह है कि केशव की कविता मुझे अच्छी तो लगती है, और शास्त्रों के अनुसार मैं उस के गुण भी बता सकता हूँ, पर बलराज तो मॉडर्न है न, उसे चाहिए मॉडर्न दलीलें। वे मुझे आती नहीं। तुम पुरानी बात को नया जामा पहनाना खूब जानते हो, तुम्हीं समझाओ।

आनन्द केशव ने अच्छा भी लिखा है, घटिया भी लिखा है। पर जो कुछ लिखा है, चमत्कार से भरा हुआ है। बैकग्राउंड में भक्ति की बात तो तुम जानते ही हो, कुछ और बातें भी सोचनी चाहिएँ। केशवदास के पीछे संस्कृत के पंडितों की कम-से-कम तीन पीढ़ियाँ थीं। केशव स्वयं संस्कृत के भारी पंडित थे। इसी पंडिताऊ परम्परा के कारण उन की कविता कई जगह बहुत जटिल हो गयी, और उन्हीं के पन्थ पर चलने वाले ही एक कवि ने उन्हें 'कठिन काव्य का प्रेत' कह डाला, लेकिन उन के पांडित्य ने एक दूसरा फल भी दिया जिस की ओर ध्यान देना जरूरी है।

बलराज, त्रिपाठी . (एक साथ) वह क्या ?

आनन्द : केशवदास शेक्सपीयर के समकालीन थे। जैसे एलिज़ाबेथ के ज़माने में अंग्रेज़ी कविता विकास की एक चोटी पर पहुँच चुकी थी, वैसे ही केशव के ज़माने तक हिन्दी कविता ने भी एक गौरव का स्थान पा लिया था। यानी हिन्दी कविता उस जगह पहुँच गयी थी, जहाँ उसे एक शास्त्र की जरूरत थी। केशव ने इस का अनुभव किया और उसने पहले-पहल हिन्दी काव्य को एक शास्त्र दिया। आप

जानते ही हैं कि उन की रचनाएँ या तो चरित्र हैं या फिर लक्षण-ग्रन्थ—जैसे 'कविप्रिया', 'रसिक-प्रिया', 'नखशिख' वगैरह। और 'रामचन्द्रिका' भी चरित्-काव्य उतना नहीं है जितना छन्द शास्त्र का खजाना—उतनी तरह के छन्द शायद और किसी कवि ने नहीं लिखे होंगे।

बलराज कविप्रिया तो उन ने प्रवीणराय वेश्या के लिए लिखी थी न?

आनन्द चाहे किसी के लिए लिखी हो। पर प्रवीणराय कवि थी, और केशव की शिष्या भी थी। हो सकता है कि उसे काव्य-शास्त्र पढ़ाने के लिए ही केशव ने वह लिखी हो। मतलब की बात यह है कि केशव ने हिन्दी कविता की एक भारी कमी दूर की, और अगर बाद के कवि भी इतना ही गम्भीर ज्ञान रखने वाले होते, तो हिन्दी की वह दुर्दशा न होती जो रीतिकाल के अन्त में हुई।

त्रिपाठी पर रीतिकाल में तो सभी कवियों ने रीतिग्रन्थ लिखे हैं? क्या उन का भी उतना ही महत्त्व है?

आनन्द नहीं। एक तो वे पीछे आये, केशव अग्रदूत थे। दूसरे केशव ने सर्वांगपूर्ण निरूपण करने का प्रयत्न किया, पीछे के कवि एक छोटे-से दायरे में ही चक्कर काटने लगे। कइयों ने तो अधूरे ज्ञान पर ही पण्डिताई छाँटनी शुरू की, जिस का नतीजा यह हुआ कि उन की कविता उस कुत्ते की तरह हो गयी जो अपनी पूँछ का पीछा करता है और फिरकी की तरह चक्कर काटता चलता है।

त्रिपाठी तो आप देव, बिहारी वगैरह को केशव से छोटा मानेंगे?

आनन्द इस का फैसला करने की जरूरत नहीं है। देव, बिहारी, मतिराम अपने ढंग के बहुत अच्छे कवि थे। मैं सिर्फ काव्य-शास्त्र की बात कहता हूँ। और फिर रीतिकाल में इन तीनों के अलावा और भी तो सैकड़ों कवि थे जिन्हों ने केवल लक्षण-ग्रन्थ लिखे?

त्रिपाठी पर देव और बिहारी की कविता दिल को बहुत गहरा छूती है। केशव की…

आनन्द हो सकता है। पर एक बात जरूर है। अगर केशव जैसे कवि और आचार्य लक्षणों की जाँच पड़ताल न करते, और उन के बाद कई अच्छे-अच्छे कवि पर कच्चे पण्डित रीतिग्रन्थों की भरमार न करते तो बिहारी की कविता भी उतनी ही नाजुक न रहती। आप ध्यान से देखें, बिहारी के बहुत से दोहे इसी लिए असर करते हैं कि वे पहले बनी हुई रूढ़ि से लाभ उठाते हैं। अगर नायिका-भेद पहले चले हुए न होते, तो बिहारी के बहुत से दोहे पहेलियों-से ही दीखते,

लेकिन चूँकि रीति बनी हुई थी, और पाठक अपने मन से बहुत कुछ जोड सकता है, इस लिए बिहारी के संकेत समझ मे आ जाते हैं। बिहारी को एक ट्रैडिशन बना-बनाया मिला, केशव ने स्वयं ट्रैडिशन बनाया। अगर बिहारी की फलों की दुकान है जहाँ आप को मेवा तुरत मिलता है, तो केशव वह माली है जिसने पौधे बोये थे।

बलराज : और बाद के कवि मेहतर, जो दूकान उठने पर झाड़ू लगाते है?

आनन्द : चाहो तो मजाक कर लो। पर अंग्रेजी में भी एलिज़ाबेथ के पीछे रीति ने ज़ोर पकडा था। काग्रीव और वाइचरली की 'कॉमेडी ऑफ मैनर्स' आप को याद है न? अगर उन के लिए आप बेन जानसन को उत्तरदायी ठहरा सकते हैं, तो आप पिछले रीतिकाल की बुराइयाँ भी केशव के सिर पर थोप सकते है।

त्रिपाठी : आप ने अच्छा किया जो अंग्रेजी की मिसाल दे दी—अब बलराज आँख मूँदकर मान लेंगे।

आनन्द : बेन जानसन के नाम से एक बात याद आयी। जानसन दु:खान्त नाटक लिखते रहे, पर अगर व्यग्य लिखते तो बहुत अच्छे रहते, उसी तरह केशवदास ने 'रामचन्द्रिका' लिखा और वार्तालाप मे भी सफल रहे, पर अगर व्यग्य लिखते तो गजब कर जाते। खेद यही है कि जमाना अनुकूल नही पडा, नहीं तो कहीं-कहीं वे काफी चुभती हुई कह गये :

> माखन-सी जीभ मुख-कंज-सी कोमलता में
> काठ-सी कठेठी बात कैसे निकरति है!

वगैरह। और, त्रिपाठी जी, गुस्ताखी माफ, वह 'ब्राह्मण-जाति-अजेय' वाला दोहा भी जोर का है। और मैं तो यह भी कहूँगा कि कहीं-कहीं जहाँ चमत्कार की कोई तारीफ करता है और कोई निन्दा, वहाँ भी असल मे केशवदास थोडा-सा व्यग्य जरूर करते रहे होंगे। जैसे—

> ऐरी गोरी भोरी तेरी थोरी-थोरी हाँसी मेरी
> मोहन की मोहनी की गिरा की गुराई है

इस पंक्ति को कोई तो मिठास से भरी हुई बतायेगा, कोई निरा शब्दाडम्बर कहेगा, पर मुझे तो लगता है कि असल मे केशवदास उस गोरी की प्रशंसा करने के साथ-साथ उसे थोडा-थोडा बना भी रहे थे। क्या राय है, बलराज?

बलराज : हूँ!

त्रिपाठी : कहिए, अब मानते हैं आप कि केशव भी कवि थे ?

बलराज : हां, आनन्द की बात मे सच्चाई तो है।

त्रिपाठी : (हँसकर) काठ की कठौती बात है न, तभी !

आनन्द : पर जीभ माखन-सी नही !

परिशिष्ट—३

आत्मदर्शी रवीन्द्रनाथ

संस्मरणों, पत्रों, डायरियों या आत्म-वृत्त के दूसरे रूपों का महत्त्व आधुनिक युग में बहुत बढ़ गया है। इस का अगर केवल बाहरी कारण देखना हो तो कहा जा सकता है कि आज की मशीनी जिन्दगी ने मनुष्य के व्यक्तित्व को इतना छोटा कर दिया है—उस के दर्जे को इतना गिरा दिया है कि उस के लिए जरूरी हो गया है कि इस बात की दुहाई दे कि वह मशीन या मशीन का पुर्जा-भर नहीं है, मानव है जिस का व्यक्तित्व होता है और व्यक्तित्व भी अद्वितीय कोई दो मनुष्य बिलकुल एक-से नहीं होते। दूसरा बाहरी कारण यह भी बताया जा सकता है कि इस व्यापारी युग में जब सब कुछ बिक्री के लिए आता है और माँग और खपत के नियम में बँध जाता है, तब स्वाभाविक है कि सनसनी और चटपटी बातों की खोज में रहने वाले साधारण पाठक के लिए इस तरह का साहित्य पैदा किया जाए जो कि साहित्यकार के निजी जीवन से सम्बन्ध रखता है। जो लोग कल्पना की दुनिया गढ़ते हैं, शायद उन के जीवन की वास्तविक दुनिया में ही कहीं कोई छिपी हुई सीढ़ी ऐसी मिल जाय जिस के सहारे पाठक भी अपनी नीरस वास्तविक दुनिया से निकल कर कल्पना-लोक में जा सके। यही मरीचिका सिनेमा एक्टरों और एक्ट्रेसों की जिन्दगी के बारे में कौतूहल पैदा करती है, और कितने लोग हैं जो सस्ते सिनेमा-पत्रों के सहारे एक सेकण्डहैंड जिन्दगी बसर करते हुए वास्तविकता का सागर अनदेखे ही पार कर जाते हैं, और कुछ ऐसी ही आशा उन्हें लेखकों और दूसरे कलाकारों के जीवन की बातों की ओर आकृष्ट करती है।

पर यह लेखक के आत्म-वृत्त को केवल बाहर से देखना है। आत्म-वृत्त का साहित्य में एक उपयोगी स्थान भी है, और आज की दृष्टि से उसे निर्धारित करने के लिए थोड़ा पीछे देखना भी लाभकर होगा।

संस्कृत कवियों के जीवन के बारे में हम बहुत कम जानते हैं। मध्ययुग के अन्य भाषाओं के कवियों के बारे में भी हमारी जानकारी अधिक नहीं है जितने ऐतिहासिक तथ्य मिलते भी हैं वे भी किंवदन्तियों और परम्परागत कल्पित चित्रों के पीछे ऐसे दब गये हैं कि उन का ठीक-ठीक मोल आँकना असम्भव-सा हो गया

है। जिन्होंने अपने बारे में लिखा भी है, उन्हों ने अपने वंश का और तत्कालीन राजा का तथा अपने गुरु का परिचय दे देना ही पर्याप्त समझा है। जो इस से आगे गए हैं, उन्हों ने अपने बारे में ऐसी गर्वोक्तियां की हैं कि आज उन्हें कोई ज्यों-का-त्यों ग्रहण करे तो दंग रह जाए—अपने बारे में कोई ऐसी बातें कैसे कह सकता है। जहां एक तरफ कविता की ऐसी बंधी हुई रीति थी कि कवि के नाम का भी कोई महत्त्व नहीं था—और प्राचीन काव्य का इतना बड़ा अंश अज्ञातनामा कवियों की देन है—वहां दूसरी ओर कवि ऐसी डींगें भी हांक सकते थे, यह सोच कर अचम्भे में आ जाना पड़ता है। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि इन गर्वोक्तियों को शब्दशः नहीं लिया जा सकता। गर्वोक्तियों की भी एक परिपाटी बन गयी थी और उनमें भी तथ्य प्रधान नहीं रहा था बल्कि उन्हें प्रस्तुत करने का ढंग, उस में दिखाया गया काव्य-कौशल, उनकी चमत्कारिता ही प्रधान हो गयी थी। यानी वे गर्वोक्तियां अपने बारे में हो कर भी एक तरह से निर्वैयक्तिक हो गयी थीं—और इस लिए इस कवि के बारे में कुछ नहीं बताती थीं।

आधुनिक काल में स्थिति बहुत बदल गयी है। आज गर्वोक्ति कोई नहीं करता, पर आज काव्य में भी व्यक्ति-तत्त्व का महत्त्व बढ़ गया है—कभी-कभी तो जान पड़ता है कि उस उचित से कहीं अधिक महत्त्व दे दिया गया है, यहां तक कि व्यक्तित्व के मूल्यांकन के विवाद में कृति के मूल्य की बात ही लोग भूल जाते हैं। शायद यह कहना भी अतिरंजना न होगी कि आधुनिक काल के हर बड़े लेखक के निजी जीवन के बारे में इतनी अधिक चर्चा और वाद-विवाद हुआ है कि उसकी कृतियों का मूल्यांकन असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो गया है।

एक हद तक यह स्थिति मध्यकाल की स्थिति के प्रति विद्रोह का नतीजा है। मध्यकाल में परम्परा प्रधान थी, नया व्यक्तित्व भी अपने को उसी के ढांचे में बिठाता था। विद्रोह में व्यक्तित्व का पक्ष अपनी विशेषता पर अधिक बल देने लगा। छपाई के द्वारा साहित्य के प्रसार ने उसे इसकी सुविधा भी दी : एक संरक्षक या पैट्रन पर उस की निर्भरता कम हुई और यह सम्भव हुआ कि वह अपनी विशेषता को लेकर ही समाज के सामने आए। रोमांटिक प्रवृत्ति ने भी व्यक्ति को बढ़ावा दिया।

उन्नीसवीं सदी में जब पश्चिम के साहित्य से हमारा व्यापक परिचय हुआ, तब उस में व्यक्ति की प्रधानता थी और उस के आदर्शों में भी व्यक्ति का तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता का एक अतिरंजित महत्त्व था। बाद के अनुभवों ने हमें सिखाया कि इस दृष्टि से काफी परिवर्तन की आवश्यकता है, पर जिस समय हमने पश्चिम के आदर्शों को प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण किया और स्वेच्छा या कहीं कहीं लाचारी में भी उन का अनुकरण किया तब उन में व्यक्ति का महत्त्व बहुत था।

लेकिन संरक्षक पर निर्भरता से मुक्त हो जाने के परिणाम और भी थे। जब

तक सरक्षक पर निर्भरता थी, तव तक समाज की व्यवस्था मे, और सत्ता के वितरण मे, कवि का एक परम्परा-निर्दिष्ट स्थान था। जो लोग समूचे साहित्य को केवल आर्थिक दृष्टि से देखते हैं वे कहेंगे कि कवि भी सत्तारूढ वर्ग का समर्थक-भर था या कि सामन्ती व्यवस्था का एक पुर्जा था। पर सरक्षण मात्र से उसे ऐसा हो जाना पड़े यह ज़रूरी नहीं था, क्योंकि सरक्षकों मे आपस मे सघर्ष भी होते ही थे और एक सरक्षक को छोड कर दूसरे की शरण भी ली जा सकती थी। सघर्ष मे यह तो हो नही सकता कि सभी शक्तियाँ प्रतिगामी हों—कोई तो अग्रगामी होती ही होगी। बल्कि मध्यकाल के सभी सघर्षों मे हम इस के लक्षण देख सकते हैं कि कई एक सम्भाव्य सरक्षकों मे से किसी एक या दूसरे को चुनना कवि के लिए असम्भव नही था, और यह पहचानने के भी साधन थे ही कि किस की दृष्टि अधिक उदार है। और यह भी था कि राजसत्ता के सरक्षण के बदले धर्मसत्ता का सरक्षण चुना जा सकता था, हमारे मध्यकाल मे सुधार के आन्दोलनों का आधार बहुधा धार्मिक रहा और उस मे कवि योग दे सके—राजसत्ता के विरुद्ध भी योग दे सके।

नयी स्थिति मे कोई सरक्षक न रहा, इस मुक्ति का दूसरा पक्ष यह था कि लेखक का समाज मे कोई निर्दिष्ट स्थान भी न रहा। वह सत्ता का समर्थक भी न रहा, तो विरोधी शक्ति का सहयोगी भी न रहा—वह अकेला हो गया।

इस अकेलेपन मे उसके लिए आवश्यक था कि अपने भीतर से ही शक्ति प्राप्त करे। और साहित्य मे व्यक्तिगत तत्त्वों की वृद्धि का धनात्मक पक्ष यही है। जब साहित्यकार सत्ता के सम्बन्धों से अलग पड गया, तब उसे जो कुछ कहना था उसकी परख की कसौटी बदल गई। समाज-जीवन मे उस की सफलता गौण हो गयी, और निजी अनुभव मे उस की सत्यता ही प्रधान हो गयी। इस लिए साहित्यकार के लिए अपने निजी अनुभव को सामने लाना क्रमश अधिक महत्वपूर्ण होता गया।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'निजी' लेखन को परखने के लिए उसे इस पृष्ठभूमि मे रखना आवश्यक है। इस के सन्दर्भ मे हम उस का मूल्य और महत्व पहचान सकते हैं और देख सकते है कि महाकवि की दृष्टि स्वय भी कितनी स्वस्थ और स्वच्छ थी और दूसरों की दृष्टि को स्वस्थ रखने के लिए भी कितनी उपयोगी। बल्कि इसी सन्दर्भ मे हम ससार के एक दूसरे बडे साहित्यकार—आन्द्रे ज़ीद के साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर के निजी लेखन की तुलना करें तो मानो हमे समकालीन साहित्य के बारे मे एक नयी दृष्टि मिल जाती है।

ज़ीद का सभी लेखन अत्यन्त व्यक्तिगत है। केवल उस के उपन्यासों को उस के जीवन से अलग करके, निरे उपन्यास की तरह नही पढा जा सकता, बल्कि उस के जीवन को भी उस की कृतियों से अलग नही समझा जा सकता। किसी एक पक्ष की ओर जाना चाहते ही अनिवार्यतया दूसरे पक्ष की ओर मुड़ जाना पडता है।

और यह स्थिति अपने आप आ गयी हो, ऐसा नहीं है, जीद का सारा प्रयत्न यही था कि जीवन और कृतित्व को इस प्रकार उलझा दिया जावे। अभी नहीं कहा जा सकता कि भविष्य में भी दोनों को अलग करके देखा जा सकेगा या नहीं, या कि दोनों को अलग करना असम्भव पाकर भविष्य जीद और उसकी रचना दोनों को विस्मृति के गड्ढे में डाल देगा या सजोये रहेगा। पर यह तो साफ है कि अपनी पीढ़ी के सामने जीद जान-बूझकर जो समस्या खड़ी कर गया है, वह स्वस्थता या स्वच्छता का संकेत नहीं देती। भाषा पर जीद का असाधारण अधिकार—भाषा की आश्चर्यजनक सस्कारिता का आकर्षण—समस्या को कुछ और कठिन ही बनाता है, आसान नहीं।

इसके विरुद्ध रवीन्द्रनाथ ठाकुर के आत्मवृत्त और सस्मरणों में कहीं भी ऐसा प्रयत्न नहीं है कि पाठक को उलझन में डाला जाये, न कहीं व्यक्ति पक्ष को हठ-पूर्वक सामने लाने की प्रवृत्ति है। उनकी रचनाएँ व्यक्तित्व को यथास्थान ही प्रकाशित कर जाती हैं अर्थात् कृतित्व की पृष्ठभूमि में ही। जैसे कठपुतली-नाच में हम पुतली नचाने वाले को भी देखते तो हैं पर बराबर एक ओट के पार, जिसके कारण कठपुतलियाँ भी हमारे लिए प्राणवान् रहती हैं और अपना जादू लिये रहती हैं, और वह शिल्प कौशल भी उतना हमारे सामने आ जाता है जितना कला का आनन्द लेने के लिए आवश्यक है इसी प्रकार रवीन्द्रनाथ भी दीखते हैं तो ओट के पीछे से ही, ओट छोड़कर कभी सामने आकर नहीं कहते कि 'यह देखो, यह मैं हूँ जिसने यह सब बनाया है।' बल्कि इसके विरुद्ध उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि मेरी स्मृतियों में ऐसी कोई घटना नहीं है जो चिरकाल तक रक्षा करने योग्य हो।' उनका आग्रह रहा है कि उनके स्मृति-चित्रों को आत्मकथा लिखने का प्रयत्न न माना जाय, बल्कि साहित्यिक सामग्री ही समझा जाए।

यह ठीक है कि साहित्यकार के जीवन की घटनाएँ अगर अपने आप में कोई ऐतिहासिक या नाटकीय महत्व न रखती हों तो उन्हें वैसा महत्व दिया नहीं जा सकता। पर यह भी नहीं है कि साहित्य के लिए उनका महत्व उनके किसी आत्यन्तिक मूल्य में नहीं होता बल्कि इस बात में होता है कि स्वयं लेखक की संवेदना का साथ देने में उनका क्या स्थान रहा। यानी उनका महत्त्व अनुभव के सन्दर्भ में होता है, निरे इतिहास के सन्दर्भ में नहीं। रवीन्द्रनाथ ने अपनी स्मृतियों में जिन छोटी-बड़ी घटनाओं का उल्लेख किया है, जो व्यक्ति-चरित्र हमारे सामने उपस्थित किए हैं, उन्हें इस दृष्टि से देखने पर हम पाते हैं कि वे घटनाएँ भले ही बड़ी न हों, वे चरित्र भले ही साधारण हों, उनका वर्णन लेखक की रचनाओं पर नया प्रकाश डालता है। क्योंकि वह हमें दिखाता है कि रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों और नाटकों में भी जो पात्र आते हैं, जो घटनाएँ घटित होती हैं, उनके पीछे कृतिकार के अनुभव की सच्चाई है। पात्र कल्पित हैं, पर अनुभव कल्पित

नहीं है। और यह कोई साधारण बात नहीं है। यों तो अनुभव की सच्चाई कृति में से ही पहचानी जा सकती है, जीवनी में उस की पुष्टि पाना आवश्यक नहीं है, पर जहाँ उसका स्पष्ट प्रमाण भी मिल जाए वहाँ पाठक को अधिक तृप्ति मिल सकती है, और आलोचक का काम भी कुछ आसान हो जाता है।

दो-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे। उपन्यास 'गोरा' में सामाजिक और राष्ट्रीय वैचारिक संघर्ष का जो चित्र है, और उस संघर्ष के पीछे रूप लेती हुई जिस आरम्भिक राष्ट्रीयता की झाँकी हम पाते हैं, उसकी सत्यता को हम उपन्यास में भी पहचान सकते हैं। भारत की भाषाओं में ऐसे कम उपन्यास होंगे जिन में राष्ट्रीय भावना के उदय का इतना सम्पूर्ण और सच्चा चित्र उतरा हो, और राष्ट्रीयता के सभी स्तरों का उन्मेष दिखाया गया हो—आध्यात्मिक से लेकर दैनिक लोक-व्यवहार तक देश के जीवन के सभी अंगों में राष्ट्रीयता के खमीर का प्रभाव प्रति-बिम्बित हुआ हो। निरा राजनीतिक या आर्थिक संघर्ष—या निरा सामाजिक संघर्ष, या रीति-रिवाज के स्तर पर संस्कृतियों का परस्पर संघात, या भाषा और साहित्य का पुनरुत्थान—अलग-अलग इन का बड़ा अच्छा चित्रण कई जगह मिल जाएगा, पर व्यापक राष्ट्रीयता का ऐसा दर्द, देश, समाज और संस्कृति की अधोगति की ऐसी वेदना, अन्यत्र दुर्लभ होगी···और जब हम स्मृतियों में छोटी-छोटी घटनाओं में सहसा उन घटनाओं के बीज पहचानते हैं जो उपन्यास में आयी हैं, तब एक तीखा प्रकाश हमें बता देता है कि उपन्यास की वेदना जीवन में अनुभव की हुई वेदना ही है, कि 'गोरा' की व्यथा केवल उपन्यास के पात्र की व्यथा नहीं है, कवि-गुरु की मर्म-व्यथा है···

इसी प्रकार नाटकों में प्रायः जो बूढ़ा प्रतीक पुरुष आता है, जिसके मुँह से कवि के अपने गहरे विश्वास बोलते हैं—कवि के संस्मरण पढ़कर हम पहचानते हैं कि वह बूढ़ा कल्पित होकर भी अनेक जाने हुए व्यक्तियों का एक पुंज रूप है, एक निचोड़ है, और वह बूढ़ा है तो इसलिए नहीं कि वह थका-हारा है या जीर्ण है, बल्कि इस लिए कि उस के मुँह से भारत देश का और भारतीय संस्कृति का सदियों का अनुभव बोलता है—भारत की प्रतिभा बोलती है।

और यही कवि की, साहित्यकार की, सबसे बड़ी सफलता और सिद्धि है। उस की कृतियों में उस की समूची संस्कृति की प्रतिभा बोले, यही भविष्य को उस की देन है और यही उन कृतियों की अमरता की प्रतिज्ञा। और जब हम देखें कि कृतियों में भी वह प्रतिभा बोलती है और जीवनी में भी उस प्रतिभा के निकट सम्पर्क के लक्षण पहचाने जाते हैं, तब हम मान सकते हैं कि उस अमरत्व की एक झाँकी कवि हमें अभी अपने ही जीवन में दिखा गया है—अपने जीवन और अपने युग में बँधे हुए हम लोगों को भी अमर कर गया है। ऐसे ही कवि को द्रष्टा और ऋषि कहते हैं, वही 'स्वयम्भू' है।

परिशिष्ट—४

शोध और हिन्दी शोध

कुछ दिन हुए, विश्वविद्यालय के एक छात्र मेरे पास आए। वह मेरे एक परिचित आचार्य का पत्र ले कर आए, जिस से विदित हुआ कि वह शोधकार्य कर रहे हैं, उन का विषय समकालीन हिन्दी साहित्य है और आचार्य का विश्वास है कि मैं उन की बहुत सहायता कर सकता हूँ—साथ ही उन का अनुरोध है कि मैं भरसक सहायता करूँ भी।

पूछने पर मालूम हुआ कि शोध का विषय था आज का हिन्दी उपन्यास और उस के शिल्प का विकास। आगन्तुक शोध-प्रबन्ध की रूपरेखा भी साथ लाए थे: वह उसी के अनुसार कार्य करेंगे और मेरी सलाह से उस में जो परिवर्तन या संशोधन करना ठीक जान पड़ेगा, अभी कर लेंगे।

मेरे लिए यह पहला अवसर नहीं था कि ऐसे अनुसन्धाता सलाह लेने आए हों—कभी अपने निर्देशक की सलाह से और कभी उस के बावजूद। हिन्दी में शोध की जो लीक बन गयी है, उस का थोड़ा-बहुत परिचय भी है ही। मैंने मन-ही-मन सोचा—अच्छा है, कम-से-कम यह प्रबन्ध तो वेदों से नहीं आरम्भ करेगा, क्योंकि आधुनिक उपन्यास के शिल्प में वेदों का क्या सम्बन्ध है, या जो हो सकता है उस के लिए तो एक प्रबन्ध नहीं एक पूरा विश्वकोश पहले तैयार करना होगा। मैंने रूपरेखा देखने की इच्छा प्रकट की।

मेरी भूल थी। आरम्भ वेदों में ही था। वेदों में क्या आख्यान नहीं हैं? और अभिप्रायगर्भ कथोपकथन के लिए वेदों-उपनिषदों के संवाद और उपाख्यान क्या कम सामग्री देते हैं? शोध-प्रबन्ध में 'परम्परा और पृष्ठभूमि' का एक अध्याय तो होना ही चाहिए, इस लिए इन उपाख्यानों का समावेश उस में होगा ही, वह सब सामग्री आसानी से मिल भी जाएगी और प्रभाव भी डालेगी। फिर वैदिक काल के कथोपकथन के गुणों का विश्लेपण प्रस्तुत किया जा सकेगा, फिर कुछ प्रमुख पौराणिक गाथाएँ ले कर…इत्यादि।

मैं आगे बढ़ा। दूसरा अध्याय, उसी परिचित अनिवार्यता के साथ इस में 'उपन्यासों के प्रकार' गिनाए गए थे और प्रत्येक के लक्षण बताए गए थे। ऐति-

हासिक उपन्यास, सामाजिक उपन्यास, मनोवैज्ञानिक उपन्यास, जासूसी उपन्यास, पारिवारिक उपन्यास, उपदेशात्मक उपन्यास···मैंने पूछा, "ऐसे विभाजन की क्या आवश्यकता है, या उससे कौन-सी सुविधा आप को मिलेगी ? और सामाजिक, पारिवारिक, मनोवैज्ञानिक, इन प्रकारों की मर्यादा आप कैसे निर्धारित करेंगे कि एक ही बात को आप को कई बार दोहराना न पड़े ? क्या सामाजिक उपन्यास मनोवैज्ञानिक नहीं हो सकते ? और आगे जब 'कथोपकथन' का विवेचन करेंगे तब कोई कारण है कि इन प्रकारों के उपन्यासों में कथोपकथन अलग-अलग प्रकार का ही हो ?"

इस बारे में उन्हों ने सोचा नहीं था, पर मेरी बात उन्हों ने तुरत समझ ली। बोले, "साहब, मुझे तो ऐसा ही बताया गया था, सभी ऐसा ही विभाजन करते हैं। आप बताइए कि और कैसे विभाजन करूँ ?"

इस पर कुछ तीखी बात भी कही जा सकती थी। पर मैंने कहा, "खैर, अभी आगे चलिए—सारी रूपरेखा पहले देख लें।"

सामाजिक उपन्यास के अधीन—फिर वही अनिवार्य और सुपरिचित उप-शीर्ष सामाजिक स्थिति—जीवन की बढ़ी हुई व्यस्तता—संयुक्त परिवार का विघटन···मैंने पूछा, "आपने काल-मर्यादा १९२५-५० की रखी है। पहले तो १९२५ क्यों, मेरी समझ में नहीं आता, फिर ये जो विशेषताएँ आप इस काल की बता रहे हैं, क्या इन के लक्षण इस से कहीं पहले से नहीं थे ? और 'जीवन की बढ़ी हुई व्यस्तता'—वह कारण है या परिणाम ?"

अन्तिम प्रश्न ही उन की समझ में नहीं आया। मैंने पूछा, " 'जीवन की बढ़ी हुई व्यस्तता' से क्या अभिप्राय है ? क्या इससे पहले हम व्यस्त नहीं थे ? या उन चीज़ों के लिए व्यस्त नहीं थे ?"

काफी इधर-उधर के बाद उन्हों ने कहा, "हमारी माँगें बढ़ गयी हैं।"

मैंने कहा, "हाँ, यह कुछ रास्ते की बात है। लेकिन, कैसी माँगें ? क्यों बढ़ गयी हैं ?"

यहाँ फिर पता लगा कि जो कुछ उन्हों ने रूपरेखा में रखा है इस लिए नहीं कि उन्हों ने सोचा है, केवल इस लिए कि उसी तरह रखा जाता है, दूसरों ने भी रखा है, और कोई प्रमाण नहीं है कि उन दूसरों ने, सभी ने सोच कर ही रखा था। (शायद स्वयं सोचने में एक जोखिम यह भी है कि पाद-टिप्पणियों में सन्दर्भ क्या देंगे—दूसरों के सोचे या कहे हुए से तो एक-एक शब्द पर सन्दर्भ दिया जा सकता है और इस प्रकार बात प्रमाण-पुष्ट हो जाती है !)

मैंने पूछा, "कैसी माँगें बढ़ गयी हैं ? क्या हम पिछली पीढ़ी वालों से ज्यादा खाते हैं या ज्यादा पहनते हैं ?"

थोड़ी देर बाद उन्हों ने कुछ सकपकाते हुए कहा, "और भी तो माँगें हैं।"

मैंने पूछा, "या कि हम पिछली पीढ़ी वालों से ज्यादा सुरक्षा चाहते हैं या श्रद्धा चाहते हैं ?"

धीरे-धीरे एक अस्वस्ति-भाव उन के चेहरे पर फैल गया। मैंने लक्ष्य किया कि उन्हें लग रहा है कि मैं उन्हें बना रहा हूँ। वैसा मेरा इरादा बिलकुल नहीं था, एक तो मैं चाहता था कि वह सीधे स्पष्ट ढंग से विचार करें, दूसरे यह भी चाहता था कि कुछ अनुमान कर सकूँ कि मुझे जो 'सलाह' देनी है वह कहाँ से शुरू करनी होगी—कितना ज्ञान या मतैक्य या तादात्म्य पहले से मान कर आगे बढ़ा जा सकेगा। उन्हें कुछ आश्वस्त करने के लिए मैंने प्रश्नों का ढंग बदल कर पूछने की बजाय बताना आरम्भ किया।

"अच्छा, यह बताइए, बढ़ी हुई माँगों का एक कारण क्या यह नहीं था कि माँगों को मर्यादित करने वाले मूल्य बदल गए थे ? जैसे एक तो यही कि पुराना विश्वास सन्तोष को गुण मानता था, अपरिग्रह को गुण मानता था, पर 'प्रोग्रेस' का नया दर्शन परिग्रह को उन्नति का लक्षण मानता है, और भौतिक साधनों की प्रचुरता की माँग को सामाजिक उन्नति की एक स्वस्थ प्रेरणा ?

वह प्रसन्न हुए कि उन की 'बढ़ी हुई माँग' वाले सकेत को सहारा मिल गया है।

"एक बात और : पहले साधारण व्यक्ति यह भी मान लेता था कि जिस को जितना मिलता है, भाग्य से या कर्म फल से मिलता है, इस लिए वह अपने पद से अधिक माँगता नहीं था या आकांक्षा होने पर भी उसे दबा लेता था—अब ऐसा नहीं है क्योंकि वह बुनियादी मान्यता अब नहीं है।"

वह और भी प्रसन्न हुए। तब मैंने कहा, "तो फिर बात को इसी ढंग से कहना ठीक न होगा ? 'बढ़ी हुई व्यस्तता' की ही बात न करके, आप सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन और उन के साथ मूल्यगत परिवर्तन की बात करें, तो शायद सामाजिक स्थिति का और उस के परिवर्तन का अधिक सही निरूपण कर सकें।"

वह पेंसिल निकालकर जल्दी-जल्दी कुछ नोट करने लगे। मैंने टोका : "नहीं, अभी न लिखिए—एक बार सारी रूपरेखा की पड़ताल कर लें, फिर आप सोच कर पूरी योजना को फिर से संगठित कीजिएगा। अच्छा, संयुक्त परिवार का विघटन क्यों हुआ और हो रहा है, इस पर भी आपने विचार किया है ?"

विचार उन्हों ने क्यों किया होता ? रूपरेखा सोचने के लिए नहीं बनाई गई थी, सामग्री का चयन और संगठन करने के लिए थी—उसके एक-एक सूत्र के अनुसार सामग्री वह बटोर लेंगे : "थोड़ी दर समाज-व्यवस्था के परिवर्तनों की बात हुई : देहात की स्थिति, शहर की ओर अभियान, वंश-परम्परागत शिल्प के बदले मिलों की मजदूरी का प्रभाव, नौकरी के लक्ष्य से पायी गयी शिक्षा का प्रभाव, बड़े (सम्मिलित) परिवार के हानि-लाभ, छोटी पारिवारिक इकाई के गुण-दोष, इन

युद्ध आर्थिक प्रभावों के समान्तर मूल्यों में परिवर्तन···उन्हों ने अबकी बार छोटी नोट-बुक निकाली और जल्दी-जल्दी कुछ सूत्र टीप ही लिये।

'विदेशी प्रभाव'। मैंने पूछा, "आप ने इधर के प्रसिद्ध अंग्रेजी या दूसरी यूरोपीय भाषाओं के कोई उपन्यास पढ़े हैं?"

उन्हों ने नही पढ़े थे।

"इधर के न सही, कुछ पहले के? या जिन्हे 'क्लासिक' कहा जाता है?"

थोड़ी पैंतरेबाजी के बाद पता चला कि उन्हों ने वाल्टर स्कॉट के दो-तीन उपन्यास पढ़े है, एक डिकेन्स का पढ़ा था, दो-एक के हिन्दी अनुवाद पढ़े है—और, हाँ, टाल्स्टाय के उपन्यास की फिल्म देखी थी।

मैंने पूछा, "इधर के जिन उपन्यासकारों का प्रभाव व्यापक माना जाता है—चिन्तन पर भी और शिल्प पर भी—उन्हे पढ़े बिना आप प्रभावों पर शोध कैसे कर सकते हैं?"

उन्हों ने कहा, "इसी लिए तो आचार्य जी ने आप के पास भेजा है कि बताइए कौन-से उपन्यास मुझे जरूर पढ़ने चाहिए—या कोई ऐसी पुस्तक जिस में उन के प्रभावों का विश्लेषण हो।"

मैंने कहा, "उपन्यास तो मैं कुछ बताऊं, पर जैसी पुस्तक आप चाहते हैं, वैसी हिन्दी के बारे में कहाँ होगी—होती तो फिर आप क्या करते? और अगर दूसरी भाषाओं पर उन के प्रभाव की चर्चा हो भी तो उस से कुछ प्रकाश तो मिलेगा पर हिन्दी पर उन बातों को ज्यों-का-त्यों थोपा तो नहीं जा सकता?"

वह चुप रहे। उन में कुछ ऐसा भाव था कि 'खैर, आप कह लीजिए, पर पुस्तकें तो आप को बतानी होंगी, नहीं तो मेरा काम कैसे चलेगा—और आचार्य जी ने दावे के साथ आप के पास भेजा है तो मेरा काम, कैसे भी हो, चलना ही होगा!'

अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है। दो-तीन घंटे की और चर्चा के बाद वह चले गये। अन्त में मैंने उन से कहा तो यही कि रूपरेखा को फिर से तैयार करके और कुछ प्रारम्भिक काम करके वह चाहें तो फिर आएं, तब कुछ और बातें हो सकेंगी। पर मेरा अनुमान यही है कि वह न आएंगे · उन्हें आवश्यकता भी न पड़ेगी। कुछ तो काम चल ही गया होगा, बाकी उन के आचार्य और निर्देशक प्रभावशाली व्यक्ति हैं···

इसी वर्ष एक और युवक अध्येता से पत्र-व्यवहार होता रहा है जो एक अन्य विश्वविद्यालय में शोध कर रहे हैं। विषय उन का भी समकालीन साहित्य के अन्तर्गत है। आचार्य और निर्देशक उनके भी प्रभावशाली हैं। कहना चाहता हूँ कि पूर्वग्रह भी उन के उतने ही प्रबल है, पर मेरे कहने से (यद्यपि मैं प्रमाणों के आधार

पर ही कहता हूँ) क्या लाभ, जबकि उन के शिष्यों का अनुभव इतना मुखर है ! जिन की बात है, उन्हों ने लिखा कि उन्हें शोध की दिशा बता दी गयी है, अर्थात् यह भी सकेत दे दिया गया है कि किन परिणामों पर उन्हें पहुँचना है। युवक शोधिस्तु में क्योंकि कार्य के प्रति निष्ठा भी है, इस लिए उसे इस बात से क्लेश हो रहा था कि उस का सारा अध्ययन जिस परिणाम के विपरीत संकेत देता है, उस परिणाम तक वह कैसे पहुँच जाए—और उसी विरोधी साक्ष्य के आधार पर !

आरम्भिक पत्र-व्यवहार में उस ने लिखा था कि उसे डर है, काम कुछ स्वतन्त्र ढंग से नहीं हो सकेगा, पर डिग्री के लिए उसे ऐसा ही 'शोधकार्य' करना होगा, और वह सोचता है कि इतना समझौता थीसिस में कर ले—अनन्तर पुस्तक छापते समय अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट कर सकेगा। पर पीछे पत्र आया कि यह भी होना नहीं दीखता जो रूपरेखा उसने 'बनायी' थी—यानी जिस बनी-बनायी रूपरेखा पर वह चला था—उस के अनुसार तैयार किये गये आरम्भिक परिच्छेद भी निर्देशक को पसन्द नहीं आये और उन्हों ने फिर स्पष्ट बता दिया कि वहाँ क्या क्या होना चाहिए—साक्ष्य जो भी हो, निष्कर्ष क्या होना चाहिए ! अन्त में बड़े दुःख से युवक ने लिखा मैंने सोचा था समझौता करके कुछ हो जाएगा, पर यहाँ देखता हूँ कि समझौते की गुंजाइश नहीं है—यहाँ तो सीधे सीधे अपने को बेचना है···"

पिछले वर्ष भी ऐसे दो-तीन अनुभव हुए, उस से पहले वर्ष भी। एक विलक्षण बात यह पायी कि जिन विश्वविद्यालयों के आचार्य और अध्यक्ष समकालीन साहित्य थोड़ा-बहुत पढ़ते समझते थे, उस के प्रति सहानुभूति रखते या कि उस की संवेदना को पकड़ सकते थे, उन का कोई विशेष आग्रह नहीं था कि शोध-कार्य उस पर हो, पर जो उस साहित्य के प्रति जरा भी सहानुभूति नहीं रखते थे, दृष्टि की तो बात ही क्या, और जो अपने प्रबल पूर्वग्रहों को इतना हठपूर्वक पकड़े हुए थे कि साहित्य पढ़ने को भी तैयार न थे, वे बराबर अपने विद्यार्थियों को नव साहित्य पर शोध करने को कहते थे—और बता देते थे कि शोध करके उन्हें क्या पाना है ! अर्थात् शोध किसी सत्य का नहीं था, पहले से निर्दिष्ट परिणाम को पुष्ट करने के लिए साक्ष्य का था। जो विद्यार्थी उत्साहपूर्वक नया साहित्य पढ़ते थे, पढ़कर, यह जानकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते थे कि अपने निर्देशक से वे, न केवल पथ-प्रदर्शन नहीं पा सकते, बल्कि शायद बात ही नहीं कर सकते—मानो दोनों पक्ष भाषा ही अलग-अलग बोलते हैं ! फिर वे मुझ-जैसों के पास आते थे—पर मुझ-जैसे तो विश्वविद्यालय की हिन्दी परम्परा के लिए हौवे-सरीखे हैं ! विद्यार्थियों से हमारा विचार-साम्य भी हो तो डिग्री के लिए तो उन्हें दूसरों से ही विचार-साम्य दिखाना था—या कम से-कम परिणाम-साम्य का निर्वाह तो करना ही था ! ऐसा समझौता अच्छा है या बुरा, यह उन्हें बताने वाले हम कौन—यह प्रश्न तो उन के भीतर ही उठना चाहिए और वहीं से उन्हें उत्तर पाना चाहिए।

मेरा दुर्भाग्य कहिए या सौभाग्य, मेरी विश्वविद्यालयीन शिक्षा जितनी हुई, विज्ञान की हुई। जिसे 'डिसिप्लिन' कहते हैं—मन की दीक्षा—वह विज्ञान से ही मिली, वह भी भौतिक-विज्ञान से। साहित्य और भाषा का जो कुछ मिला वंश-परम्परा से और विशेषतया विद्वान् पिता से—गुरुओं की देन की अवज्ञा नहीं कर रहा हूँ। मैं तो समझता हूँ कि मेरे लिए यह बहुत हितकर हुआ, और इसी शिक्षा के सहारे कुछ सुलझे ढंग से सोच सकता हूँ और शोध-कार्य में निरपेक्षता को उचित महत्त्व दे सकता हूँ। पर यह भी जानता हूँ कि इस कारण (दूसरे भी कारण हैं अवश्य) हिन्दी जगत् में अनमिल हो गया हूँ। (कितना अभिप्रायपूर्ण, यद्यपि अनगढ़ है अगला शब्द 'बेखाप्पी'—जो कहीं खपता नहीं!) 'हिन्दी में मैं विदेशी हूँ'—यह विश्वविद्यालयों की पढ़ाई की एक टेक बन गयी है। क्यों या कैसे विदेशी हूँ, और स्वदेशीत्व क्या होता है जो मुझमें नहीं है, यह पूछना वहाँ कुफ्र के बराबर है, जो लोग 'निरे' हिन्दी के नहीं है—जो हिन्दी पढ़ाने से पहले अंग्रेजी पढ़ते-पढ़ाते थे और मेरे बारे में दूसरे ढंग से सोचते थे, वे भी हिन्दी के हो कर दूसरी बात पढ़ाने, पढ़वाने और लिखवाने लगते हैं।

पर मेरी बात को छोड़ कर स्थिति पर विचार किया जाए. क्या साहित्य और विज्ञान का इतना बैर है कि साहित्य का शोधकार्य वैज्ञानिक पद्धति से नहीं हो सकता? क्या तर्क भी साहित्य और विज्ञान के लिए अलग-अलग होता है?

यह नहीं कि विज्ञान में समझौते नहीं हुए—कि वैज्ञानिक शोधकों ने पूर्वग्रह के आगे सिर नहीं झुकाया। गैलीलियो का उदाहरण जग-प्रसिद्ध है। लाइसेंको के समकालीनों की बात भी प्रमाण की है। पर एक तो गैलीलियो के सामने प्राणों का सवाल था, केवल डिग्री का नहीं—प्राण ही न रहे तो शोध का काम भी नहीं हो सकता, रह जाएँ तो एक आपत्कालीन झूठ का अनन्तर मार्जन भी किया जा सकता है! दूसरे, वहाँ एक बात यह भी कही जा सकती थी कि अगर सिर झुकाया भी जा रहा है तो धर्म की सत्ता के आगे—भले ही धर्म का यह पक्ष निरी अन्धश्रद्धा का ही दूसरा नाम हो। पर यह साहित्यिक शोध? मुझे याद है, कुछ वर्ष पहले एक विद्यार्थी के अपने निर्देशक को यह बताने पर कि प्रचलित परिभाषा के अनुसार अमुक प्रकार के तत्त्व वेदों में नहीं पाये जाते, निर्देशक ने कहा था, "क्या हम अपनी परिभाषा नहीं बना सकते?" स्मरण रहे कि जिस तत्त्व की बात थी उस के लिए अंग्रेजी का शब्द काम में लाया जा रहा था—अर्थात् निर्देशक महोदय का प्रस्ताव यह था कि अंग्रेजी शब्द का अंग्रेजी अर्थ न मान कर उसे क्या हम अपना हिन्दी अर्थ नहीं दे सकते! एक दूसरे विद्वान् आचार्य को एक दूसरे विश्वविद्यालय के आमन्त्रण पर भाषण देते हुए मैंने यह कहते हुए सुना था कि रोमांटिक आन्दोलन (अंग्रेजी का) इंग्लैंड की औपनिवेशिक प्रसार (स्पष्टीकरण

के लिए उन्होंने अंग्रेजी में भी बताया था—कोलोनियल एक्सपैंशन) की नीति का परिणाम था। इंग्लैंड के अध्यापक बेचारे यों ही पढ़ाते रहे कि उसे फ्रांसीसी क्रान्ति से प्रेरणा मिली, बायरन यों ही ग्रीस की स्वतन्त्रता के लिए लड़ने गये, ब्राउनिंग ने यों ही वर्ड्सवर्थ को लक्ष्य करके लिखा—'जस्ट फार ए हैंडफुल आफ सिल्वर ही लेफ्ट अस', और इतने उपनिवेशों ने भी केवल धोखे में ही रोमांटिक कविता से स्वाधीनता की प्रेरणा पायी! जब रोमांटिक आन्दोलन कोलोनियल था, तब उससे प्रेरित हिन्दी छायावाद का भी 'निगतिशील' होना आवश्यक है, और ऐसा ही आचार्य ने बताया भी, इसके बावजूद कि सभी छायावादी कवियों में स्वाधीनता और राष्ट्रीयता की चेतना स्पष्ट और प्रबल रही, और सभी राष्ट्रीय कवियों में छायावादी-रोमांटिक तत्त्व प्रकट और मुखर रहे, जैसे, माखनलाल चतुर्वेदी या 'नवीन' में

क्या हम कुछ कर सकते हैं कि 'हिन्दी शोध' और केवल 'शोध' के बीच की खाई पट जाए? या कि यह मान लेना होगा कि 'सत्य' अलग है और 'हिन्दी सत्य' कुछ अलग और विशिष्ट? मैं जानता हूँ कि हिन्दी में ऐसे विद्वान् हैं जिनकी सत्य में उतनी एकान्त और निर्मम निष्ठा है जितनी उत्तम वैज्ञानिक की, यह भी जानता हूँ कि उन में से कुछ विश्वविद्यालयों में भी हैं। मेरा विश्वास है कि उन में से कुछ इस बात से दुःखी भी होंगे कि शोध का कार्य उन आदर्शों पर नहीं चलता है जिन से स्खलित हो कर वह शोध रहता ही नहीं, दुष्ट हो जाता है। क्या वे भी कुछ नहीं कर सकते? क्या हम पहले अनुसन्धाताओं को कुंठित होने रहने दग कि उन के सामने केवल अपने को बेचने का रास्ता है, और फिर इस पर क्षोभ टोकेंगे कि विद्यार्थियों में आचार्यों के प्रति आदर-सम्मान उठ गया है और विश्वविद्यालयों में अनुशासनहीनता फैल रही है?

शायद यह सब मुझे नहीं कहना चाहिए, जो कि हिन्दी नहीं पढ़ा हूँ। पर यदि स्थिति इतनी बिगड़ी हुई है कि मुझ अनपढ़ को भी स्पष्ट दीख जाती है, तो'''विद्वानों की विद्या किस दिन काम आएगी?

परिशिष्ट—५

प्रयोग : क्या और क्यों

" 'तार-सप्तक' मे सात कवि संगृहीत है। सातो एक-दूसरे के परिचित है—बिना इस के इस ढग का सहयोग कैसे होता ? किन्तु इस से यह परिणाम न निकाला जाये कि वे कविता के किसी एक 'स्कूल' के कवि है, या कि साहित्य-जगत् के किसी गुट अथवा दल के सदस्य या समर्थक है। बल्कि उन के तो एकत्र होने का कारण ही यह है कि वे किसी एक स्कूल के नही है, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही है—राही नही, राहो के अन्वेषी। उन मे मतैक्य नही है, सभी महत्त्व-पूर्ण विषयो पर उन की राय अलग-अलग है—जीवन के विषय मे, समाज और धर्म और राजनीति के विषय मे, काव्य-वस्तु और शैली के, छन्द और तुक के, कवि के दायित्वो के—प्रत्येक विषय मे उन का आपस मे मतभेद है। यहाँ तक कि हमारे जगत् के ऐसे सर्वमान्य और स्वयसिद्ध मौलिक सत्यो को भी वे समान रूप से स्वीकार नही करते जैसे लोकतन्त्र की आवश्यकता, उद्योगो का सामाजीकरण, यान्त्रिक युद्ध की उपयोगिता, वनस्पति घी की बुराई, अथवा काननबाला और सहगल के गानों की उत्कृष्टता, इत्यादि। वे सब परस्पर एक-दूसरे पर, एक-दूसरे की रुचियों-कृतियों और आशाओं-विश्वासो पर, एक-दूसरे की जीवन-परिपाटी पर, और यहाँ तक कि एक-दूसरे के मित्रो और कुत्तो पर भी हँसते है। 'तार-सप्तक' किसी गुट का प्रकाशन नही है क्यो कि संगृहीत सात कवियों के साढे सात अलग-अलग गुट है, उन के साढे सात व्यक्तित्व—साढे सात यो कि एक को अपने कवि-व्यक्तित्व के ऊपर संकलनकर्ता का आधा छद्म-व्यक्तित्व और लादना पड़ा है।

"ऐसा होते हुए भी वे एकत्र संगृहीत हैं, इस का कारण पहले बताया जा चुका है। काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हे समानता के सूत्र मे बाँधता है। इस का यह अभिप्राय नही है कि प्रस्तुत संग्रह की सब रचनाएँ प्रयोगशीलता के नमूने हैं, या कि इन कवियों की रचनाएँ रूढि से अछूती है, या कि केवल यही कवि प्रयोगशील हैं और बाकी सब घास छीलने वाले। वैसा दावा यहाँ कदापि नही है; दावा केवल इतना है कि ये सातो अन्वेषी हैं...संगृहीत कवियो मे से ऐसा कोई भी नही है जिस की कविता केवल उस के नाम के सहारे खड़ी हो सके।

सभी इस के लिए तैयार हैं कि अभी कसौटी हो, क्या कि सभी अभी उस परम तत्त्व की शोध में ही लगे हैं जिसे पा लेने पर कसौटी की जरूरत नहीं रहती, बल्कि जो कसौटी की ही कसौटी हो जाता है।" ('तार-सप्तक' की भूमिका से)

क्या ये रचनाएँ प्रयोगवादी हैं? क्या ये कवि किसी एक दल के हैं, किसी मतवाद—राजनैतिक या साहित्यिक—के पोषक हैं? 'प्रयोगवाद' नाम के एक नये मतवाद के प्रवर्तन का दायित्व क्योंकि अनचाहे और अकारण ही हमारे मत्थे मढ़ दिया गया है, इस लिए हमारा इन प्रश्नों के उत्तर में कुछ कहना आवश्यक है, और नहीं तो इसी लिए कि 'दूसरा सप्तक' के संगृहीत कवि आरम्भ से ही किसी पूर्वग्रह के शिकार न बनें, अपने कृतित्व के आधार पर ही परखे जायें।

प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, नहीं हैं। न प्रयोग अपने आप में इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविता का भी कोई वाद नहीं है, कविता भी अपने-आप में इष्ट या साध्य नहीं है। अतः हमें 'प्रयोगवादी' कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें 'कवितावादी' कहना। क्योंकि यह आग्रह तो हमारा है कि जिस प्रकार कविता रूपी माध्यम को बरतते हुए आत्माभिव्यक्ति चाहने वाले कवि को अधिकार है कि उस माध्यम का अपनी आवश्यकता के अनुरूप श्रेष्ठ उपयोग करे, उसी प्रकार आत्म-सत्य के अन्वेषी कवि को, अन्वेषण के प्रयोग-रूपी माध्यम का उपयोग करते समय उस माध्यम की विशेषताओं को परखने का भी अधिकार है। इतना ही नहीं, बिना माध्यम की विशेषता—उस की शक्ति और उस की सीमा—को परखे और आत्मसात् किये उस माध्यम का श्रेष्ठ उपयोग हो ही नहीं सकता। जो लोग प्रयोग की निन्दा करने के लिए परम्परा की दुहाई देते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि परम्परा, कम-से-कम कवि के लिए, कोई ऐसी पोटली बाँधकर अलग रखी हुई चीज़ नहीं है जिसे वह उठा कर सिर पर लाद ले और चल निकले। (कुछ आलोचकों के लिए भले ही वैसा हो!) परम्परा का कवि के लिए कोई अर्थ नहीं है जब तक वह उसे ठोक-बजा कर, तोड़-मरोड़ कर देख कर आत्मसात् नहीं कर लेता, जब तक वह एक इतना गहरा संस्कार नहीं बन जाती कि उस का चेष्टापूर्वक ध्यान रख कर उस का निर्वाह करना अनावश्यक न हो जाये। अगर कवि की आत्माभिव्यक्ति एक संस्कार विशेष के वेष्ठन में ही सहज सामने आती है, तभी वह संस्कार देने वाली परम्परा कवि की परम्परा है, नहीं तो—वह इतिहास है, शास्त्र है, ज्ञान-भण्डार है जिस से अपरिचित भी रहा जा सकता है। अपरिचित ही रहा जाय, ऐसा आग्रह हमारा नहीं है—हम पर तो बौद्धिकता का आरोप लगाया जाता है!—पर इन से अपरिचित रह कर भी परम्परा में अवगत हुआ जा सकता है और कविता की जा सकती है।

तो प्रयोग अपने-आप में इष्ट नहीं है। वह साधन है। और दोहरा साधन है। क्यों कि एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेषण की क्रिया को और उस के साधनों को जानने का भी साधन है। अर्थात् प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकता है--वस्तु और शिल्प दोनों के क्षेत्र में प्रयोग फलप्रद होता है। यह इतनी सरल और सीधी बात है कि इस से इनकार करना चाहना कोरा दुराग्रह है, ऐसे दुराग्रही अनेक हैं और उस वर्ग में हैं जो साहित्य-शिक्षण का दायित्व लिये है इस से हमें आतंकित न होना चाहिए। जिस वर्ग की घोषित नीति यह है कि उन के द्वारा ग्राह्य होने के लिए कोई वस्तु या रचना तीन सौ वर्ष पुरानी तो होनी ही चाहिए, उस वर्ग से आज की कविता पर बहस कर के क्या लाभ? उसे तो तीन सौ वर्ष बाद बात करना अलम् होगा --और तब कदाचित् वह अनावश्यक होगा क्योंकि आज का प्रयोग तब की परम्परा हो गयी होगी--उन की परम्परा! छायावाद जब एक जीवित अभिव्यक्ति था, तब वह जिन्हें अग्राह्य था, आज वे उस के समर्थक और प्रतिपादक हैं जब वह मृत हो चुका; आज वे उसे उन से बचाना चाहते हैं जिन में आज का जीवित सत्य अभिव्यक्ति खोज रहा है, भले ही अटपटे शब्दों में।

प्रयोग का हमारा कोई वाद नहीं है, इस को और भी स्पष्ट करने के लिए एक बात हम और कहें। प्रयोग निरन्तर होते आये हैं, और प्रयोगों के द्वारा ही कविता या कोई भी कला, कोई भी रचनात्मक कार्य, आगे बढ़ सका है। जो कहता है कि मैंने जीवन भर कोई प्रयोग नहीं किया, वह वास्तव में यही कहता है कि मैंने जीवन भर कोई रचनात्मक कार्य करना नहीं चाहा; ऐसा व्यक्ति अगर सच कहता है तो यही पाया जायेगा कि उस की 'कविता' कविता नहीं है, उस में रचनात्मकता नहीं है, सृजन नहीं है, वह कला नहीं, शिल्प है, हस्तलाघव है। जो उसी को कविता मानना चाहते हैं, उन से हमारा झगड़ा नहीं है; झगड़ा हो ही नहीं सकता, क्यों कि हमारी भाषाएँ भिन्न हैं और झगड़े के लिए भी साधारणीकरण अनिवार्य है! लेकिन इस आग्रह पर स्थिर रहते हुए हमें यह भी कहना चाहिए कि केवल प्रयोगशीलता ही किसी रचना को काव्य नहीं बना देती। हमारे प्रयोग का पाठक या सहृदय के लिए कोई महत्त्व नहीं है, महत्त्व उस सत्य का है जो प्रयोग द्वारा हमें प्राप्त हो। 'हम ने सैकड़ों प्रयोग किये हैं' यह दावा ले कर हम पाठक के सामने नहीं आ सकते जब तक हम यह न कह सकते हों कि 'देखिए, हम ने प्रयोग द्वारा यह पाया है।' प्रयोगों का महत्त्व कर्ता के लिए चाहे जितना हो; सत्य की खोज, लगन, उस में चाहे जितनी उत्कट हो, सहृदय के निकट वह सब अप्रासंगिक है। पारखी मोती परखता है, गोताखोर के असफल उद्योग नहीं। गोताखोर का परिश्रम या प्रयोग अगर प्रासंगिक हो सकता है तो मोती को सामने

रख कर ही—'इस मोती को पाने मे इतना परिश्रम लगा'—बिना मोती पाये उस का कोई महत्त्व नही है।

इस प्रकार 'प्रयोग' का 'वाद' और भी बेमानी हो जाता है—जो सत्य की शोध मे प्रयोग करता है वह खूब जानता है कि उस के प्रयोग उस के निकट जीवन-मरण का ही प्रश्न क्यो न हो दूसरों के लिए उस का कोई महत्त्व नही, महत्त्व होगा शोध के परिणाम का। और वह यह भी जानता है कि ऐसा ही ठीक है, स्वय वह भी उस सत्य को अधिक महत्त्व देता है नही तो उस की शोध मे इतना सलग्न न होता।

हम समझते है कि इस भूमिका के बाद उन आक्षेपो का उत्तर देना अनावश्यक हो जाता है जो हमे 'प्रयोगवादी' कह कर हम पर किये गए हैं। कुछ आक्षेपो को पढ कर तो बडा क्लेश होता है, इस लिए नही कि उन मे कुछ तत्त्व है, इस लिए कि उन मे तर्क-परिपाटी की ऐसी अद्भुत विकृति दीखती है जो आलोचक से अपेक्षित नही होती। आलोचक मे पूर्वग्रह हो सकता है, होता ही है, पर कम-से-कम तर्क-पद्धति का ज्ञान उसे होगा और उसे वह विकृत नही करेगा ऐसी आशा उस से अवश्य की जाती है। श्री नन्ददुलारे वाजपेयी का 'प्रयोगवादी रचनाएँ' शीर्षक निबन्ध तर्क-विकृति का आश्चर्यजनक उदाहरण है। उस प्रकार के आक्षेपों का उत्तर देना एक निष्फल प्रयोग होगा, और हम कह चुके हैं कि निष्फल प्रयोगों का कोई सार्वजनिक महत्त्व नही है। लेकिन साधारणीकरण के प्रश्न पर कुछ विचार कर लेना कदाचित् उचित होगा।

'तार सप्तक' के कवियो पर यह आक्षेप किया गया कि वे साधारणीकरण का सिद्धान्त नही मानते। यह दोहरा अन्याय है। क्यो कि वे न केवल इस सिद्धान्त को मानते हैं बल्कि इसी से प्रयोगों की आवश्यकता भी सिद्ध करते हैं। यह मानना होगा कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ हमारी अनुभूतियों का क्षेत्र भी विकसित होता गया है, और अनुभूतियो को व्यक्त करने के हमारे उपकरण भी विकसित होते गये हैं। यह कहा जा सकता है कि हमारे मूल राग-विराग नही बदले, प्रेम अब भी प्रेम है और घृणा अब भी घृणा; यह साधारणतया स्वीकार किया जा सकता है। पर यह भी ध्यान मे रखना होगा कि राग वही रहने पर भी रागात्मक सम्बन्धो की प्रणालियाँ बदल गयी है, और कवि का क्षेत्र रागात्मक सम्बन्धो का क्षेत्र होने के कारण इस परिवर्तन का कवि-कर्म पर बहुत गहरा असर पड़ा है। निरे 'तथ्य' और 'सत्य' मे—यह कह लीजिए कि वस्तु सत्य और व्यक्ति-सत्य मे—यह भेद है कि 'सत्य' वह 'तथ्य' है जिस के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध है, बिना इस सम्बन्ध के वह एक बाह्य वास्तविकता है जो तद्वत् काव्य मे स्थान नही पा सकती। लेकिन जैसे-जैसे यह बाह्य वास्तविकता बदलती है, वैसे-वैसे हमारे उस

से रागात्मक सम्बन्ध जोडने की प्रणालियाँ भी बदलती हैं—और अगर नही बदलतीं तो उस बाह्य वास्तविकता से हमारा सम्बन्ध टूट जाता है। कहना होगा कि जो आलोचक इस परिवर्तन को नही समझ पा रहे है, वे उस वास्तविकता से टूट गये हैं जो आज की वास्तविकता है, उस मे रागात्मक सम्बन्ध जोडने मे असमर्थ वे उसे केवल बाह्य वास्तविकता मानते हैं जब कि हम उस से वैसा सम्बन्ध स्थापित कर के उसे आन्तरिक सत्य बना लेते है। और इस विपर्यय से साधारणीकरण की नयी समस्याएँ आरम्भ होती हैं। प्राचीन काल मे, जब ज्ञान का क्षेत्र सीमित और अधिक सहत था, जब कवि, वैज्ञानिक, साहित्यिक आदि अलग-अलग विल्ले अनावश्यक थे और जो पठित या शिक्षित था, सभी ज्ञानों का पारगत नही तो परिचित तो था ही, साधारणीकरण की समस्या दूसरे प्रकार की थी। तब भाषा का केवल एक मुहावरा था। यह कह लीजिए कि शिक्षित वर्ग का एक मुहावरा था, जन का एक और, एक सस्कृत था, एक प्राकृत। लेकिन आज क्या वह स्थिति है ? विशेष ज्ञानों के इस युग मे, भाषा एक रहते हुए भी उसी के मुहावरे अनेक हो गये हैं। भाषा आज भी प्रेषण का माध्यम है; यह कोई नही कहता कि उस ने अपनी सार्वजनीनता की प्रवृत्ति छोड दी है या छोड दे। लेकिन वह अब प्रवृत्ति है, तथ्य नही। ऐसी कोई भाषा नही है जो सब समझते हो, सब बोलते हो। अग्रेजी है, अग्रेजी के बडे-बडे कोश हैं जो शब्दो के सर्वसम्मत अर्थ देते है, पर गणितज्ञ की अग्रेजी दूसरी है, अर्थशास्त्री की दूसरी और उपन्यासकार की दूसरी। ऐसी स्थिति मे जो कवि किसी एक क्षेत्र का सीमित सत्य (तथ्य नही, सत्य, अर्थात् उस सीमित क्षेत्र मे जिस तथ्य से रागात्मक सम्बन्ध है वह) उसी क्षेत्र मे नही, उस से बाहर अभिव्यक्त करना चाहता है, उस के सामने बडी समस्या है। या तो वह यह प्रयत्न ही छोड दे, सीमित सत्य को सीमित क्षेत्र मे सीमित मुहावरे के माध्यम से अभिव्यक्त करे—यानी साधारणीकरण तो करे पर साधारण का क्षेत्र सकुचित कर दे—अर्थात् एक अन्तर्विरोध का आश्रय ले; या फिर वह बृहत्तर क्षेत्र तक पहुँचने का आग्रह न छोडे और इस लिए एक क्षेत्र के मुहावरे से बँधा न रह कर उस से बाहर जा कर राह खोजने का जोखिम उठाये। इस प्रकार वह साधारणीकरण के लिए ही एक सकुचित क्षेत्र का साधारण मुहावरा छोडने को बाध्य होगा—अर्थात् एक दूसरे अन्तर्विरोध की शरण लेगा। यदि यह निरूपण ठीक है, तो प्रश्न इतना ही है कि दोनो अन्तर्विरोधो मे से कौन-सा अधिक ग्राह्य—या कम अग्राह्य—है। हम इतना ही कहेगे कि जो दूसरा पथ चुनता है उसे कम-से-कम एक अधिक उदार, अधिक व्यापक दृष्टि से देखने या देखना चाहने का श्रेय तो मिलना चाहिए—उस के साहस को आप साहसिकता कह लीजिए, पर उस की नीयत को बुरा आप कैसे कह सकते हैं ?

ज़रा भाषा के मूल प्रश्न पर—शब्द और उस के अर्थ के सम्बन्ध पर—ध्यान

दीजिए। शब्द में अर्थ कहाँ से आता है, क्यों और कैसे बदलता है, अधिक या कम व्याप्ति पाता है ? शब्दार्थ—विज्ञान का विवेचन यहाँ अनावश्यक है, एक अत्यन्त छोटा उदाहरण लिया जाये। हम कहते हैं 'गुलाबी', और उस से एक विशेष रंग का बोध हमें होता है। निस्सन्देह इस का अभिप्राय है 'गुलाब के फूल के रंग जैसा रंग', यह उपमा उस में निहित है। आरम्भ में 'गुलाबी' शब्द से उस रंग तक पहुँचने के लिए गुलाब के फूल की मध्यस्थता अनिवार्य रही होगी—उपमा के माध्यम से ही अर्थ लाभ होता होगा। उस समय यह प्रयोग चमत्कारिक रहा होगा। पर अब वैसा नहीं है—अब हम शब्द से सीधे रंग तक पहुँच जाते हैं, फूल की मध्यस्थता अनावश्यक है। अब उस अर्थ का चमत्कार मर गया है, अब वह अभिधेय हो गया है। और अब इस से भी अर्थ में कोई बाधा नहीं होती कि हम जानते हैं, गुलाब कई रंगों का होता है, सफ़ेद, पीला, लाल, यहाँ तक कि लगभग काला तक। यह क्रिया भाषा में निरन्तर होती रहती है और भाषा के विकास की एक अनिवार्य क्रिया है। चमत्कार मरता रहता है और चमत्कारिक अर्थ अभिधेय बनता है। या कहें कि कविता की भाषा निरन्तर गद्य की भाषा होती जाती है। इस प्रकार कवि के सामने हमेशा चमत्कार की सृष्टि की समस्या बनी रहती है—वह शब्दों को नया संस्कार देता चलता है, और वे संस्कार क्रमशः सार्वजनिक मानस में पैठ कर फिर ऐसे हो जाते हैं कि—उस रूप में—कवि के काम के नहीं रहते। 'बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।' कालिदास ने जब 'रघुवंश' के आरम्भ में कहा था—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ

तब इस बात को उन्हों ने समझा था, और इसी लिए वाक् में अर्थ की प्रतिपत्ति की प्रार्थना की थी। जो अभिधेय है, जो अर्थ वाक् में है ही; उस की प्रतिपत्ति की प्रार्थना कवि नहीं करता। अभिधेयार्थयुक्त शब्द तो वह मिट्टी, वह कच्चा माल है जिस से वह रचना करता है, ऐसी रचना जिस के द्वारा वह अपना नया अर्थ उस में भर सके, उस में जीवन डाल सके। यही वह अर्थ-प्रतिपत्ति है जिस के लिए कवि 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' पार्वती-परमेश्वर की वन्दना करता है। और इस प्रार्थना को निरा वैचित्र्य या नयेपन की खोज कह कर उड़ाना चाहना कवि-कर्म को बिलकुल न समझते हुए उस की अवहेलना करना है। जब चमत्कारिक अर्थ मर जाता है, और अभिधेय बन जाता है, तब उस शब्द की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण हो जाती है, उस अर्थ से रागात्मक सम्बन्ध नहीं स्थापित होता। कवि तब उस अर्थ की प्रतिपत्ति करता है जिस में पुनः राग का संचार हो, पुनः रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो। साधारणीकरण का अर्थ यही है। नहीं तो, अगर भाव भी वही जान-पुराने हैं, रस भी, और संचारी-व्यभिचारी सब की तालिकाएँ बन चुकी हैं तो

कवि के लिए नया करने को क्या रह गया है? क्या है जो कविता को आवृत्ति नहीं, सृष्टि का गौरव दे सकता है? कवि नये तथ्यों को उन के साथ नये रागात्मक सम्बन्ध जोड़कर नये सत्यों का रूप दे, उन नये सत्यों को प्रेष्य बना कर उन का साधारणीकरण करे, यही नयी रचना है। इसे नयी कविता का कवि नहीं भूलता, साधारणीकरण का आग्रह भी उस का कम नहीं है, बल्कि यह देखकर कि आज साधारणीकरण अधिक कठिन है वह अपने कर्तव्य के प्रति अधिक सजग है और उस की पूर्ति के लिए अधिक बड़ा जोखिम उठाने को तैयार है।

यह किसी हद तक ठीक है कि, जहाँ कवि की संवेदनाएँ अधिक उलझी हुई हैं वहाँ ग्राहक या सहृदय में भी उन्हीं परिस्थितियों के कारण वैसा ही परिवर्तन हुआ है और इस लिए कवि को प्रेषण की कुछ सुविधा भी मिलती है, पर ऊपर ज्ञान के विशेष विभाजनों की बात कही गयी है उस का हल इस में नहीं है, बल्कि वह प्रश्न और भी जटिल हो जाता है। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की समूची प्रगति और प्रवृत्ति विशेषीकरण की है, इस बात को पूरी तरह समझ कर ही यह अनुभव किया जा सकता है कि साधारणीकरण का काम कितना कठिनतर हो गया है—समूचे ज्ञान-विज्ञान की विशेषीकरण की प्रवृत्ति को उलाँघ कर, उससे ऊपर उठकर, उससे गहरे पैठकर कवि को उस के विभाजित सत्य को समूचा देखना और दिखाना है। इस दायित्व को वह नहीं भूलता है। लेकिन यह बात उस की समझ में नहीं आती कि वह तब तक के लिए कविता ही छोड़ दे जब तक कि सारा ज्ञान फिर एक होकर सब की पहुँच में न आ जाय—सब अलग-अलग मुहावरे फिर एक होकर 'एक भाषा, एक मुहावरा' के नारे के अधीन न हो जाएँ। उसे अभी कुछ कहना है जिसे वह महत्वपूर्ण मानता है, इस लिए वह उसे उन के लिए कहता है जो उसे समझें, जिन्हें वह समझा सके, साधारणीकरण को उस ने छोड़ नहीं दिया है, पर वह जितनों तक पहुँच सके उन तक पहुँचता रहकर और आगे जाना चाहता है, उन को छोड़कर नहीं। असल में देखें तो वही परम्परा को साथ लेकर चलना चाहता है, क्योंकि वह कभी उसे युग से कटकर अलग होने नहीं देता; जब कि उस के विरोधी परिणामत यह कहते हैं कि 'कल का सत्य कल सब समझते थे, आज का सत्य आज सब एक साथ नहीं समझते तो हम उसे छोड़ कर कल ही का सत्य कहें'—बिना यह विचारे कि कल के उस सत्य की आज क्या प्रासंगिकता है, आज कौन उसके साथ तुष्टिकर रागात्मक सम्बन्ध जोड़ सकता है!

०